

न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम् ।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशते ।।
।। ॐ तत्सत् ।।

महाविज्ञान या ब्रह्मविद्या

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीता

(अमृतवर्षिणी टीका सहित)

प्रथम भाग

अमृतसरिया राम भणोत

प्रथम संस्करण
१९७३
मूल्य : रु० १०.००

अमृतसरिया राम भणोत, साहलों, १४४४२१, जिला जालंधर (पंजाब)
द्वारा प्रकाशित तथा शान्तिलाल जैन, जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा मुद्रित



अमृतसरिया राम भणोत

ॐ श्री परमात्मने नमः

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ।

वह परमात्मा हम (लेखक और पाठक) दोनों की साथ-साथ रक्षा करे। हम दोनों का साथ-साथ पालन करे। हम दोनों को साथ-साथ सब प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त करे। हम दोनों का पढ़ा हुआ तेजस्वी हो। हम द्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

नम्र निवेदन

पाठक वृन्द। गीता मेरी माता है। श्री कृष्ण सम्पूर्णावतार हैं। त्रेता में राम भी वही थे। मेरी पुस्तक को पढ़कर कोई यह न समझ ले कि मैं हिन्दू धर्म की मान्यताओं को नहीं मानता हूँ और मैं कोई नवीन धर्म या पंथ चलाना चाहता हूँ। मैंने तो धर्म के मुख पर से उस पर्दे को उतारने का प्रयत्न किया है जो अलंकारिक भाषा से बना हुआ था और इस विज्ञान-युग में अखर रहा था। अब विज्ञान सब सचाइयों को नंगा करके लोगों के दृष्टिगोचर कर रहा है। यह गीता या विज्ञान की पराकाष्ठा है क्योंकि ब्रह्मविद्या होने के कारण ब्रह्म से मिलाने वाली है। जैसे गंगा का पानी पवित्र है वैसे ही गीता की वाणी पवित्र है। अमृतवर्षिणी टीका लिखने से मुझे तनिक मान या अहंकार नहीं है क्योंकि वास्तव में यह मेरी लिखी हुई नहीं है। मैं तो इसे लिखे जाने के समय बेहोश या बेसुध होता था और अब भी मैं जब इसे पढ़ता हूँ तो मुझे थोड़ा भी विश्वास नहीं होता कि इसे मैंने ही लिखा है। मैं भी इसे पढ़कर आप लोगों की भाँति सुख और शान्ति का अनुभव करता हूँ।

होश सम्भालते ही मुझे गीता पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ था, परन्तु प्रयत्न करने पर भी मुझे कोई ऐसी पुस्तक प्राप्त न हो सकी जो मुझे गीता

का एक-एक अक्षर अच्छी तरह से समझा सके। सबसे पहले श्री स्वामी चिद्घनानन्द गिरि जी का अनुवाद पढ़ा। परन्तु मन को तृप्ति न हुई। इसके अनन्तर उर्दू और हिन्दी में बीसियों अनुवाद पढ़ डाले किन्तु तृष्णा तो भी बनी रही। गीता-प्रेस वालों का तो धन्यवाद किसी प्रकार किया ही नहीं जा सकता जिन्होंने मेरे जैसे करोड़ों निरक्षर भट्टाचार्यों को साक्षर बना दिया है। लखनऊ वाले स्वामी नारायण जी का किया हुआ अनुवाद और श्री तिलक जी का गीता रहस्य एक साथ पढ़े गए जो अपने-अपने रंग में बहुत सुन्दर हैं। देशपिता गांधी जी के अनासक्ति योग से मुझे अति शान्ति प्राप्त हुई है। परन्तु मैं श्री विनोबा भावे जी के गीता प्रवचन से बहुत थोड़ा लाभ उठा सका हूँ। सबके अन्त में मुझे शांकर भाष्य पढ़ने का समय मिला जिससे लगभग सब टीकाकारों ने लाभ उठाया है जो एक अद्वितीय और बहुमूल्य ग्रन्थ है।

इस अमृतवर्षिणी गीता में कई एक अशुद्धियाँ रह गई हैं जो शुद्धि-पत्र में लिख दी गई हैं। आशा है अगले संस्करण में सुधार दी जाएंगी।

इस पुस्तक का पहला भाग प्रायः कालेजों और हाई स्कूलों के विद्यार्थियों को लक्ष्य करके लिखा गया है क्योंकि कालेज में पढ़ाने के दिनों में मुझे उनकी इस आवश्यकता का अच्छी तरह से अनुभव हुआ था। मुझे पूरी आशा है कि भारत सरकार इसे छात्रों की पाठ्यपुस्तक के रूप में तथा लाइब्रेरियों में रखने के लिए अवश्य स्वीकृत कर लेगी क्योंकि यह पुस्तक वर्तमान युवकों को सीधा मार्ग दिखाने वाली और उनमें सच्ची देशभक्ति का भाव भरने वाली है। उनके हृदयों के अविद्या-अन्धकार को दूर करके ज्ञानालोक भरने वाली है।

मैं आयु के उस स्थान पर पहुँच रहा हूँ जिसमें न धन की इच्छा होती है और न कोई और वासना शेष रहती है। इसलिए इस भाग के छपने में जिन दानी पुरुषों का पैसा खर्च हुआ है उनकी आज्ञा न होने से मैं यहाँ उनका नाम प्रकट नहीं कर रहा हूँ। दूसरा भाग लगभग पाँच सौ पृष्ठ का होगा जिसमें पहला षटक संपूर्ण हो जाएगा जिसके प्रकाशन के लिए धन के वायदे हो चुके हैं। आशा है यह शीघ्र ही प्रकाशित होना प्रारम्भ हो जाएगा। तीसरे और चौथे भाग भी लगभग पाँच-पाँच सौ पृष्ठों के होंगे परन्तु यह पता नहीं कि वे कब प्रकाशित होंगे क्योंकि हमारे पास तो एक पैसा भी नहीं है और न हम रखना ही चाहते हैं। इसलिए किसी श्री बिरला जैसे सेठ अथवा गीता-प्रेस जैसे किसी बड़े प्रेस ने उन्हें प्रकाशित करने का भार अपने कन्धों पर उठा लिया तो प्रकाशित हो जाएंगे। नहीं तो हरि की इच्छा से सब कुछ ठीक है।

अन्त में मैं श्री मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-७ का बहुत धन्यवाद करता हूँ और अत्यन्त आभारी हूँ जिनके अथक परिश्रम और सौजन्य से थोड़े ही दिनों में सुचारु रूप में पुस्तक प्रकाशित होकर आपके करकमलों में पहुँच सकी है। भगवान् से प्रार्थना है कि वह इन लोगों को सदा परोपकार करने के लिए चिरंजीव करे ॥

(साहलों, पंजाब) अमृतसरिया राम भणोत

गुरुवार,

दीपावली १० कार्तिक २०३० वि०

ता० २५ । १० । ७३ ॥

अनुक्रमणिका

शुभम्

ओ३म्
श्रीपरमात्मने नमः

थोड़ा अनुवादक के विषय में

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः शंसन्ति दिव्यैः स्तवैर्
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्‌गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ।।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।।

प्रायः देखा जाता है कि किसी पुस्तक को पढ़ने से पहले पाठक उस की सुन्दर जिल्द, चिकने, मोटे, सफेद कागज़ों और सुन्दर छपाई को देखता है और फिर लेखक या अनुवादक के विषय में भी थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त करना चाहता है । इसी बात को ध्यान में रखकर अनुवादक ने अपने विषय में संक्षेप से यह लेख लिखने का प्रयास किया है ।

कहते हैं कि जब महर्षि व्यास जी को महाभारत लिखने की इच्छा हुई तो माता सरस्वती उनकी जिह्वा के अग्र भाग पर आकर विराजमान हो गई और गणेश जी लेखिनी लेकर लिखने के लिए उद्यत हो गए । व्यास जी बोलने लगे और श्री गणेश जी लिखने लगे ।

इसी प्रकार इस अमृतवर्षिणी टीका के असली कर्ता तो भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी ही हैं । परन्तु लेखिनी जिस हाथ में पकड़ी हुई थी इस ग्रन्थ की सब अशुद्धियां उसी के प्रमाद का परिणाम हैं । इसमें भगवान् को कोई दोष नहीं

है। इसलिए पाठक लोग लेखक को क्षमा प्रदान करते हुए उन भूलों, त्रुटियों और अशुद्धियों को सुधार कर पढ़ने की कृपा करें। क्योंकि लेखक स्वयं तो न विद्वान् है न ही उसे किसी बात का अभिमान है। उसे तो स्वयं इस बात से भी आश्चर्य है कि उससे भगवान् ने यह ग्रन्थ किस कारण से लिखवाया है जब कि बड़े-बड़े महान् और धुरंधर विद्वानों द्वारा की हुई टीकायें और भाष्य पहले ही विद्यमान हैं। जब मैं इस टीका के लिखने का उद्देश्य स्वयं ही नहीं जान सका तो फिर आप को कैसे समझा सकता हूं।

लेखक का जन्म सारस्वत ब्राह्मणों के वात्स (भणोत) वंश में हुआ था। माता का नाम श्रीमती पूर्ण देवी और पिता का नाम श्री पण्डित कांशीराम जी था। जन्म तिथि ११ आषाढ़ संवत् १९५८ विक्रमी दिन सोमवार थी। जन्म-समय साढ़े आठ बजे सायं का था। मेरे बाद दस भाई और एक बहन जन्मे, जिनमें से छः इस समय भी विद्यमान हैं, और अपने-अपने परिवारों के संग रहते हुए सुखपूर्वक समय बिता रहे हैं।

हमारे पूर्वज वैद्य और उपाध्याय थे। घर में सदा विद्या चर्चा होती रहती थी। रामचरितमानस नित्य ही सस्वर पढ़ा जाता था, महाभारत की कथा होती रहती थी और श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ होता था। मुझे सात वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत संस्कार करके ग्राम की पाठशाला में प्रविष्ट करा दिया गया जिसमें उर्दू की पढ़ाई होने लगी और घर आकर पंजाबी और हिन्दी का ज्ञान कराया जाने लगा, आठ वर्ष की आयु में विवाह संस्कार भी पूर्ण वैदिक रीति से कर दिया गया। यद्यपि आठवीं कक्षा पास करने के बाद ही स्कूल का संग छूट गया, क्योंकि घर में पैसे नहीं थे। कई भाई बहन घर में खाने वाले थे और पिता जी बूढ़े हो जाने के कारण कमाने के अयोग्य हो चुके थे और सब भाई अभी छोटे थे। उनको खिलाने, पढ़ाने और ब्याहने की समस्याएं बड़ा जटिल रूप धारण करने लगी थीं, पिता जी के सिर पर चढ़ा हुआ ऋण दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगा था, यूरोप के पहले महायुद्ध के दिन थे महंगाई अपने पूरे यौवन पर पहुंच चुकी थी।

ईश्वर की कृपा से मुझे एक सरकारी स्कूल में पढ़ाने की नौकरी मिल गई। साथ में मैंने वैद्यक का काम भी करना शुरू कर दिया जिससे थोड़े ही दिनों में निर्वाह अच्छा होने लगा। इतने में कुछ भाई भी होशियार हो गये और व्यापार का काम करने लगे। धीरे-धीरे सारा ऋण भी सिर से उतर गया और सारे भाई और बहन भी विवाहित हो गए। मुझे अध्यापकों की जे० वी० क्लास में दाखिला मिल गया और दो साल बाद ही मैंने 'ऐस. वी." परीक्षा भी पास कर ली जिससे एक सरकारी स्कूल में हैडमास्टरी मिल गई।

पूरे सैंतीस साल के अनन्तर सरकारी सेवा से मुक्त हुआ। मुझे शारीरिक श्रम-कारक किसी खेल से भी कोई दिलचस्पी न थी। इसे मैं आज तक समय का खोना ही समझता रहा हूँ। परन्तु प्रातः चार बजे उठना, शौच जाना, दातुन करके स्नान करना, सन्ध्या-वन्दन करना और सदा पढ़ते रहना, दवाई-दारू करना और समय पर भोजन करना ये मेरे नित्य के कर्म रहे हैं। मैं अपने कपड़े आप धोता हूं, अपने बाल आप काटता हूं, अपने सब छोटे-मोटे परिश्रम-साध्य काम स्वयं आप करता हूँ, कई मील तक पैदल चल सकता हूँ, समय पड़ने पर बीस तीस मील साईकिल पर भी जाता हूं, न अति लम्बा हूं न अति छोटा हूं, न बहुत पतला हूं, न बहुत मोटा हूं। इस समय स्वास्थ्य बहुत अच्छा है, सब अंग ठीक काम करते हैं। कल की भगवान् जानें। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं मैंने आयु का एक क्षण भी बेकार नहीं खोया। दिन-रात अवकाश के समय पढ़ता रहा। सन् १९१९ से निरन्तर दैनिक समाचार पत्रों को पढ़ता रहा। हिन्दी और उर्दू की मासिक पत्रिकाओं का अध्ययन करता रहा। पंजाबी, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी और अर्बी की सहस्रों पुस्तकें पढ़ डालीं और आवश्यकतानुसार अंग्रेजी का भी अध्ययन किया। महाभारत, रामचरितमानस और गीता को तो नित्य ही बचपन से पढ़ता चला आ रहा हूं। श्री गुरुग्रन्थ साहिब, क़ुरान, बाइबल (नई और पुरानी दोनों), वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति आदि अनेक प्रमुख ग्रन्थ युवावस्था में ही पढ़ लिये गये थे। हिसाब, अलजबरा, ज्योमैट्री, इतिहास, भूगोल, ड्राइंग, हाईजीन, विज्ञान, उर्दू, हिन्दी, फार्सी, संस्कृत आदि सब विषय हाई क्लासों में पढ़ाने का अवसर भी मिलता रहा। सबसे अधिक हार्दिक प्यार इतिहास, संस्कृत और साइंस के साथ है परन्तु अरुचि तो किसी विषय से भी नहीं है। सरकारी सेवा से मुक्त होने के बाद निरन्तर सत्रह साल तक प्राईवेट स्कूलों में पढ़ाने की सेवा की। बीच में दो वर्ष तक लड़कियों के सरकारी जूनियर बेसिक स्कूल में साइंस पढ़ाने की नौकरी मिल गई और फिर लड़कियों के एक कालेज में कई वर्ष तक संस्कृत पढ़ानी पड़ी तथा संस्कृत, बी. ए., एम. ए. और हिन्दी प्रभाकर की टयूशनें मिलती गईं जिससे संस्कृत व्याकरण, कोश और सब कवियों के काव्यों का मनन अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया गया। इस विद्या-रसामृत के आस्वादन के सुख के कारण अन्त में सन् १९७१ में नौकरी सदा के लिये त्याग दी। जहां तक हो सका बच्चों को पढ़ाकर भी देश की सेवा की और स्वतन्त्रता के संग्राम में उचित भाग लेकर भी देश और जाति की सेवा की। अन्त में भगवान ने यह टीका लिखवा कर मेरे लिए मोक्ष की सीढ़ी प्रदान करके अपार कृपा कर दी है। मेरे विचार में अब मेरे लिये संसार का कोई

काम करना शेष नहीं रहा है। आगे भगवान् जानें। जो वे करवाएंगे वह तो अवश्यमेव करना ही होगा।

पूर्व–ज्ञान

"इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।" (गी० ११।७।।)
"पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।" (गी० ११।५।।)
"नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।" (गी० ११।८।।)

विश्व का आंखों देखा ज्ञान प्राप्त करने के लिये अमेरिका में दो सौ इंच व्यास के चौड़े शीशों की एक दूरबीन बनाई गई है जिसके साथ चित्र खींचने के विशेष कैमरे भी लगे हुए हैं। ऐसी दूरबीनें विश्व के समृद्धिशाली अन्य सब देशों में भी लगी हुई हैं। इनके द्वारा आकाश में फैली हुई बीस खर्ब प्रकाश वर्ष मील दूर तक की आकाश गंगाओं के चित्र खींचे गये हैं। खगोल सम्बन्धी दूरियों को सुविधा के लिये सदैव आकाश वर्षों में ही व्यक्त किया जाता है। प्रकाश की प्रति सैकण्ड गति एक लाख छयासी हजार मील है, विद्युत भी इसी गति से दौड़ती है। इस लेखे से प्रकाश एक वर्ष में साठ खर्ब मील दूर चला जाता है। ध्रुव तारा हमारी पृथ्वी से चार सौ प्रकाश वर्षों की दूरी पर स्थित है अर्थात् चौबीस सौ खर्ब मील के अन्तर पर है। सूर्य पृथ्वी से पांच सौ प्रकाश सैकण्ड मील दूर है अर्थात् उसकी धूप पृथ्वी पर आठ मिनट बीस सैकण्ड में पहुंचती है। इस प्रकार सूर्य का अन्तर पृथ्वी से नौ करोड़ तीस लाख मील का है। और चन्द्रमा पृथ्वी से केवल १½ प्रकाश सैकण्ड दूर है। अर्थात् पृथ्वी से चन्द्रमा का अन्तर लगभग अढ़ाई लाख मील है। अब एक और विचित्र दूरबीन का आविष्कार हुआ है, जिसका नाम रेडियो या ऐटमी दूरबीन है। इसके द्वारा पृथ्वी से सौ खर्ब प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित तारों का भी पता लग गया है। परन्तु यह विश्व अनंत और असीम है। इससे परे और भी अनेक तारे होंगे जिनका पता लगाना अभी असम्भव है।

आकाश में दूधिए रंग की एक चादर-सी आकाश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई तमोमयी रात्रि में दृष्टिगोचर होती है। इसका नाम आकाशगंगा है। इसमें लगभग एक खर्ब तारे हैं। उन तारों में हमारा सूर्य भी अपने परिवार सहित सम्मिलित है। इस आकाशगंगा

में लगभग छः अर्ब सूर्य हैं जिनमें से बहुत से आकार में हमारे सूर्य से भी बहुत बड़े हैं। हमारे सूर्य की भाँति उन सबके भी परिवार हैं, जो अपने पिता सूर्यों के चारों ओर नियमित रूपों में घूम रहे हैं। सारी आकाशगंगा भी अपने मध्य-स्थित गांगीय केन्द्र के चारों ओर घूम रही है और उसका सारा परिवार भी साथ ही भ्रमण कर रहा है। हमारा सूर्य भी अपने समस्त परिवार को साथ लेकर गांगीय केन्द्र के चारों ओर घूम रहा है। इस प्रकार उसका एक चक्र बाईस सौ पच्चास लाख वर्ष में पूरा होता है।

हमारा विश्व अतिविशाल और असीम है। यह खर्बों ज्ञात और अज्ञात आकाश गंगाओं से मिल कर बना है। कोई नहीं कह सकता कि इस असीम ब्रह्माण्ड का अन्त कहां होता है और फिर उससे परे और क्या है? इसका रचयिता स्वयं असीम है और सर्वत्र सर्वव्यापक होकर रम रहा है। सब प्रकार के जीवन-धारी पदार्थों में उसका अंश चैतन्य रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है जो प्रकृति के साथ मिलकर अनेक रूप धारण करके खेल खेल रहा है तथा आत्मा और परमात्मा के रूप में सर्वत्र व्यापक हो रहा है।

हमारा सूर्य और उसका परिवार

हमारे सूर्य के परिवार में छः प्रकार के सदस्य हैं :—

१—स्वयं सूर्य जो अपने परिवार के केन्द्र में स्थित है और परिवार की रचना होने से बहुत पूर्व बहुत बड़े आकार में स्थित था तथा निरन्तर अपने चारों ओर चक्र लगा रहा है उसका सारा परिवार उससे ही टूटकर बना है और धीरे-धीरे ठण्डा हुआ है। सारे परिवार में केवल एक सूर्य ही ज्वलित और प्रकाशमान है जो अपने सारे परिवार पर गर्मी, प्रकाश और ऊर्जा की वर्षा करता है। यह वर्षा उसकी किरणों के द्वारा निरन्तर होती रहती है। जिससे सम्पूर्ण जीवों का पालन-पोषण और रक्षा होती है। तथा उनमें जीवन का संचार होता है। एवं उनके परिवारों की वृद्धि होती है।

२—ग्रह—अपनी-अपनी नियत कक्षाओं अर्थात् ग्रह-मार्गों पर ये सारे ग्रह सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं। प्रत्येक ग्रह के भ्रमण का एक चक्र पूरा हो जाने से उसका एक वर्ष पूरा हो जाता है, फिर दूसरा चक्र प्रारम्भ होने पर दूसरा वर्ष प्रारम्भ हो जाता है। ये सब ग्रह अपने अक्षों या धुरियों के चारों ओर भी घूम रहे हैं। उनकी इस गति से उनमें निरन्तर बारी-बारी दिन और रात बनते रहते हैं। ग्रह की जो तरफ सूर्य की ओर होती है, उसमें दिन होता

है और जो तरफ विपरीत या सूर्य से ओझल होती है उसमें रात होती है। इसका कारण यह है कि प्रकाश की किरणें सदा सीधी चलती हैं जो सामने की वस्तुओं को ही प्रकाशित कर सकती हैं, परन्तु मुड़कर या टेढ़ी होकर दूसरी तरफ नहीं जा सकतीं। सब ग्रह अपने-अपने अक्ष के चारों ओर पूर्व से पश्चिम को घूम रहे हैं, जिससे सूर्य पूर्व से उदय होता हुआ और पश्चिम में अस्त होता हुआ दिखाई देता है। और सारा दिन चलता हुआ भासमान होता है।

इन सब ग्रहों में वर्ष एक समान नहीं होते, कारण यह कि इनके ग्रह-मार्ग लम्बाइयों में बहुत भिन्न हैं। और इन सब में दिन रात के मान भी एक समान नहीं हैं। क्योंकि इन सब ग्रहों के आकार एक दूसरे की अपेक्षा बहुत छोटे-बड़े हैं। जो ग्रह सूर्य का जितना अधिक निकटवर्ती है उसके वर्ष का मान दूरवर्ती ग्रहों की अपेक्षा कम होता है। जितना कोई ग्रह सूर्य से अधिक दूर है, उतना ही उसका वर्ष अधिक लम्बा है।

जिस मार्ग पर कोई ग्रह सूर्य के चारों ओर घूम रहा है उसका नाम ग्रह-पथ है। परन्तु यह ग्रह-पथ किसी आधार या सड़क पर स्थित नहीं है। अपितु शून्य पुलाड़ के रूप में ही है। जिसमें किसी प्रकार का कोई चिन्ह नहीं है उस पर ग्रह केवल ईश्वर की किसी गुप्त सत्ता या आकर्षण से ही चलता रहता है और अपने मार्ग से कभी भ्रष्ट या विचलित नहीं होता है। इस प्रकार ग्रह के आगे बढ़ जाने पर पीछे फिर मार्ग का कोई चिह्न शेष नहीं रहता। प्रभुसत्ता से सूर्य की आकर्षणशक्ति सब ग्रहों को अपने पथों से विचलित और भ्रष्ट नहीं होने देती।

सूर्य के निकटवर्ती पहले ग्रह का नाम 'बुध' है जो एक सौ सत्तासी दिन में सूर्य के चारों ओर घूम कर अपना एक चक्र पूरा करता है। उसके बाद दूसरा ग्रह 'शुक्र' है जो सूर्य के आगे या पीछे कभी प्रातः और कभी सायं-काल में पूर्व या पश्चिम में निकला हुआ दिखाई देता है। यह ग्रह सम्पूर्ण तारा-मण्डल में चन्द्रमा के बाद सबसे अधिक चमकदार और शुभ्र दिखाई देता है। तीसरा नम्बर हमारी प्यारी पृथ्वी माता का है जो चौबीस घंटों में अपना एक अक्षीय चक्र पूरा करती है जिससे दिन-रात प्रकट होते हैं। ये दिन-रात कभी एक दूसरे से बड़े या छोटे और कभी सम होते हैं। इसका विशेष कारण यह है कि अक्ष अपने मार्ग पर लम्ब रूप में खड़ा नहीं है बल्कि एक ओर को ६६½ अंश का कोण बनाकर झुका हुआ है और सदैव इसी स्थिति में रहता है जिससे एक बार पृथ्वी का उत्तरी गोलार्ध सूर्य की ओर झुका हुआ होता है जिससे वहां दिन लम्बे हो जाते हैं और रातें

छोटी हो जाती हैं, फिर पृथ्वी का दक्षिणी गोलार्ध सूर्य की ओर हो जाता है जिससे वहां दिन लम्बे और रातें छोटी हो जाती हैं। २१ मार्च और २३ सितम्बर को सारी पृथ्वी पर दिन-रात बराबर होते हैं।

पृथ्वी अपना एक चक्र तीन सौ पैंसठ दिन छः घण्टे अड़तालीस मिनट ग्यारह सैकण्ड में सूर्य के चारों ओर घूम कर पूरा करती है। यही समय एक वर्ष का मान है। इसलिये पहले तीन वर्षों में से प्रत्येक वर्ष ३६५ दिन का होता है। और चौथा ३६६ दिन का होता है। सूर्य, वर्ष भर में बारह राशियों में बारी-बारी प्रवेश करता हुआ और बाहर निकलता हुआ दिखाई देता है। इसी से बारह मास बनते हैं और दो-दो मास की एक-एक ऋतु होती है। इस प्रकार छः ऋतुएं वर्ष भर में होती हैं।

१—वसन्त ऋतु—चैत्र और वैशाख में होती है। उसमें फूल खिलते और आम के पेड़ बौराते हैं तथा कोयल की मधुर ध्वनि चारों ओर सुनाई देने लगती है।

२—ग्रीष्म ऋतु—ज्येष्ठ और आषाढ़ में होती है जिसमें गर्मी की अधिकता होती है।

३—वर्षा ऋतु—श्रावण और भादों में आती है। इन दिनों खूब वर्षा होती है और नदी, नाले, झील, सरोवर सब जल से भर जाते हैं। धरती हरियाली से ढक जाती है।

४—शरद ऋतु—आश्विन और कार्तिक में होती है। इन दिनों में वर्षा बरसने का अन्त हो जाता है, और वृक्षों के पत्ते झड़ने लगते हैं।

५—हेमन्त ऋतु—मार्गशीर्ष और पौष मास में होती है। इन दिनों में पर्वतों पर हिमपात होता है और हिमालय आदि ऊंचे पर्वतों के शिखिर श्वेत बर्फ से ढक जाते हैं।

६—शिशिर ऋतु—माघ और फाल्गुन में होती है। इन दिनों हाथ-पांव सर्दी से ठिठुरते हैं। अग्नि का ताप सुहावना और सुखकर मालूम होता है। वृक्षों में नवीन पत्र निकलते हैं।

एक मास में कृष्ण और शुक्ल दो पक्ष होते हैं हमारे बहुत से त्यौहार और पर्व इन्हीं पर निर्भर हैं।

जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक काल तक चमकता है तो वे छः मास उत्तरायण के होते हैं और इससे विपरीत छः मास दक्षिणायन के होते हैं। भू-गोल की परिधि भूमध्य रेखा पर पच्चीस हजार मील है। और इसका व्यास आठ हजार मील है। पृथ्वी का ऊपर का दस-पन्द्रह मील मोटा भाग सख्त है और वह पेपड़ी वाली एक मोटी तह है जिसके ऊपर का $\frac{3}{4}$ भाग

जल से भरे हुए गड्ढों के रूप में है जो महासागर, सागर, और खाड़ी आदि कहलाते हैं। इन सब के जल भिन्न-भिन्न स्वादों वाले हैं। महासागर केवल पांच हैं और सागर या छोटे समुद्र बीस-पच्चीस से भी अधिक हैं। धरती सात बड़े खण्डों में विभाजित है। प्रत्येक खण्ड महाद्वीप कहलाता है। प्रत्येक महाद्वीप अनेक देशों का समूह है। दक्षिणी-ध्रुव प्रदेश का सातवां खण्ड सदा बर्फ से ढका रहता है इसलिए उसमें जन-संख्या नहीं है। शेष छः महाद्वीपों में ऊंचे-ऊंचे पर्वत, पठार, मैदान, नदी-नाले, सरोवर, जलाशय और बहुत-सी झीलें हैं। लकड़ी के सुन्दर वन हैं, लहलहाते खेत हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी और अनेक प्रकार के जीव-जन्तु हैं।

हमारी पृथ्वी के चारों ओर वायु का गिलाफ़ चढ़ा हुआ है जो लगभग एक हजार मील तक ऊंचा है। यह वायु धरती तल से जैसे-जैसे ऊंची है, वैसे-वैसे ही पतली और सूक्ष्म है। पांच-सात मील ऊपर जाकर इतनी सूक्ष्म है कि उसमें सांस लेना भी कठिन है।

प्राचीन वैज्ञानिकों ने वायु के उंचास तत्त्व खोज निकाले थे। परन्तु वर्तमान वैज्ञानिक लोग अभी तक उन सब तत्त्वों का अनुसन्धान नहीं कर सके हैं।

भू-गर्भ के मध्य में पिघला हुआ गर्म लावा भरा हुआ है जिसमें सब प्रकार की धातुएं, मिट्टी, पत्थर आदि पदार्थ अत्यन्त गर्म और तरल रूप में मिले हुए हैं। पृथ्वी की ऊपर की तह जब किसी स्थान पर पतली और कमज़ोर हो जाती है, तब वहां पर ज्वालामुखी बन जाता है। धरती का वह भाग ऊंचा हो जाता है और गर्म और पिघला हुआ लावा एक बहुत बड़ा छेद करके बाहर निकलने लगता है जिससे उसके इर्द-गर्द की धरती दूर-दूर तक कांपने और हिलने लगती है। इसे ही भू-चाल कहा जाता है जिसके झटके सैकड़ों मीलों तक अनुभव किए जाते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षणों के कारण से समुद्रों में ज्वार-भाटे होते हैं। ये ज्वार-भाटे हर पच्चीस घण्टों के अनन्तर नियमित रूप से होते रहते हैं।

जब सूर्य और पृथ्वी के मध्य में चन्द्रमा ठीक एक ही सीध में होता है तो सूर्य की किरणें चन्द्रमा से रुक कर धरती पर आने से रुक जाती हैं और दिन में ही रात्रि जैसा अन्धेरा हो जाता है। आकाश पर तारे निकल आते हैं, उस समय पूर्ण सूर्य-ग्रहण होता है। जब सूर्य और चन्द्रमा के मध्य में पृथ्वी होती है तब चन्द्रमा पृथ्वी की छाया से ढक जाता है। इसी का नाम चन्द्र-ग्रहण होता है। पृथ्वी की छाया का नाम राहु है और चन्द्रमा की छाया का

नाम केतु है। इन दोनों छायाओं के अतिरिक्त राहु और केतु कोई अन्य ग्रह नहीं हैं।

पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव से ध्रुव तारा लम्ब रूप में चार सौ प्रकाश वर्ष मील दूर स्थित है जो भूमध्य रेखा पर बसने वालों को पृथ्वी के साथ लगा हुआ दिखाई देता है।

पृथ्वी के बाद चौथा ग्रह मंगल है जो आकाश पर लाल अंगारे की तरह चमकता हुआ दिखाई देता है और भूमि-पुत्र कहलाता है। पांचवां ग्रह बृहस्पति है, जो पीत वर्ण है और सूर्य, चन्द्र और शुक्र को छोड़कर शेष सब ग्रहों से अधिक चमकदार है और इस परिवार में सूर्य के बाद शेष सबसे बड़ा है।

छठा ग्रह शनि है जो नीले रंग का तारा है। दूरबीन द्वारा देखने से इसके ऊपर एक गिलाफ़ या छल्ला-सा चढ़ा हुआ दिखाई देता है। जो किसी प्रकार की गैसों से बना हुआ है।

सातवाँ ग्रह यूरेनस है। आठवें ग्रह का नाम नेपच्यून है। नवमें ग्रह को प्लूटो कहते हैं और दसवां ग्रह ऐक्स प्लेनिट (X–PLANET) है।

३—सूर्य के परिवार के तीसरी प्रकार के सदस्य उपग्रह या चन्द्रमा हैं। ये अपने-अपने ग्रहों के चारों ओर घूमते रहते हैं। इनकी इस परिवार में कुल संख्या अट्ठाईस है। यथा धरती का एक चन्द्रमा है। बृहस्पति के ग्यारह, शनि के नौ, यूरेनस के चार, मंगल के दो और नेपच्यून का एक चन्द्रमा है। शेष चारों का कोई चन्द्रमा नहीं है। वास्तव में ये सब चन्द्रमा, भिन्न-भिन्न समयों में अपने केन्द्रीय ग्रहों से निकल कर पृथक् हुए थे। जब पृथ्वी पर देवताओं और दैत्यों ने परस्पर मिलकर समुद्र मंथन किया था, तो पृथ्वी पर रहने वालों ने वास्तव में एक बहुत बड़ा ऐटमी धमाका किया था, जिससे पृथ्वी का बहुत बड़ा भाग उससे पृथक् होकर आकाश में उड़ गया और उसके चारों ओर घूमने लगा। जिस प्रकार आजकल धरती से छोड़े हुए राकेट आकाश में जाकर पृथ्वी के चारों ओर घूम रहे हैं, इसी प्रकार ये चन्द्रमा अपने अपने ग्रहों के चारों ओर घूम रहे हैं। हमारे चन्द्रमा का घेरा आठ हज़ार मील है और इसमें हमारे पन्द्रह दिन के बराबर एक दिन और इतनी ही लम्बी रात होती है।

सूर्य के परिवार के चौथे सदस्य "क्षुद्र-ग्रह" कहलाते हैं। इनकी संख्या लगभग दो हज़ार है, ये सब गोल नहीं हैं और एक दूसरे से बहुत छोटे-बड़े तथा बेडौल से हैं। ये सब बृहस्पति और मंगल के मार्गों के मध्य में अपने-अपने मार्गों पर सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं।

इस परिवार के पांचवें सदस्य धूम-केतु कहलाते हैं जिनका मुख एक चमकदार तारा होता है और उसके पीछे एक लम्बी पूंछ या दुम लगी हुई

दिखाई देती है। ये आकाश पर कभी-कभी ही उदय हुए दिखाई देते हैं। जब दूर चले जाते हैं, तो अस्त हो जाते हैं। हैले नाम का धूमकेतु जो सन् १९१० ई० में निकला था अब सन् १९८४ ई० में निकलेगा। इस परिवार के छठे सदस्य उल्काएं कहलाती हैं। आकाश में छोटे-मोटे अनेक भूखण्ड इधर-उधर विचरते फिरते हैं। जब ये हमारे वायुमण्डल में प्रविष्ट होते हैं, तो हवा की रगड़ से जल उठते हैं और पृथ्वी पर पहुंचते-पहुंचते ही राख हो जाते हैं। परन्तु कई बार बहुत बड़े अनजले टुकड़े धरती पर गिर कर बहुत बड़े गड्ढे बना देते हैं जो पानी के भर जाने से झीलों का रूप धारण कर लेते हैं। साधारण लोग उल्का-पात होने को तारों का टूट कर गिरना कहते हैं।

जीवों की उत्पत्ति

पृथ्वी, जल और वायु में अनेक जीव-जन्तु रहते हैं, और सब प्रकार के पेड़-पौधे और वनस्पतियां भी जीवधारी हैं। उन सब की उत्पत्ति एक जैसे ढंग से ही होती है। स्वयं भगवान् गीता के चौदहवें अध्याय के श्लोक तीसरे और चौथे में कहते हैं:—

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत!॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय! मूर्त्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥"

अर्थात्—हे अर्जुन!—महद्ब्रह्म (प्रकृति) मेरी योनि (गर्भाधान का स्थान) है। मैं इसमें गर्भ को स्थापन करता हूं। फिर उससे समस्त भूतों (जीवों) की उत्पत्ति होती है।

हे अर्जुन! सारी योनियों (गर्भाधान के स्थानों) में जो मूर्तियां (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज जीवों की देहें) उत्पन्न होती हैं। उन सबकी योनि (उत्पत्ति स्थान) महद्ब्रह्म (प्रकृति) है, और मैं (उसमें) बीज डालने वाला पिता हूं। इस प्रकार सारे भूत प्रकृति और पुरुष के मेल से ही देहधारी होते हैं।

यह बिल्कुल ठीक है कि सब जीवों की उत्पत्ति केवल एक ही ढंग से

होती है। उद्भिज्जों में फूल आते हैं, जिनमें पुंकेसर और स्त्रीकेसर होते हैं। पुंकेसरों की घुण्डियों के पक जाने पर उनसे पराग निकलने लगता है जो स्त्रीकेसरों के वर्त्तिकाग्रों में गिरता है। उसमें चीप-सी लगी हुई होती है। ये परागकण इस चीप के साथ मिलकर स्त्रीकेसर की वर्त्तिका में से होते हुए उसके निचले फूले हुए भाग—अण्डाशय में पहुंच जाते हैं। वे वहां बीजाण्डों में घुस जाते हैं। जिनके संयोग से बीज बनने लगते हैं। जिनके पक जाने पर फिर पेड़-पौधों की उत्पत्ति होती है। और अण्डाशय फूल कर फल का रूप धारण कर लेता है और उसके भीतर ही बीजों का पालन-पोषण हो जाता है।

प्रत्येक बीज के तीन भाग होते हैं:—

१—छिल्का, २—शिशु-पौधा और ३—बीज-पत्र।

शिशु-पौधा और बीज-पत्र दोनों मिलकर भ्रूण कहलाते हैं। जब तक बीज शुष्क रहता है उस समय तक उसमें शिशु-पौधा सोया रहता है। परन्तु जब बीज को नमी, उपयुक्त गर्मी और सांस लेने के लिये वायु से ऑक्सीजन मिलती है तो वह जाग उठता है। जो छिलका पहले उसकी रक्षा करता था वह उसके लिये दूध का पात्र भी बन जाता है और बीज-पत्र गर्मी और पानी के संयोग से ताजे दूध में बदल जाते हैं, जिसको पीकर शिशु-पौधा बढ़ने लगता है और उसके एक सिरे से जड़ निकल कर पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाती है, जो दूध के समाप्त होने से पहले ही पृथ्वी से भोजन प्राप्त करने लगती है। शिशु-पौधे के दूसरे सिरे से पत्ते निकलते हैं जो सांस लेने के लिये वायु से ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं। जब ये पत्ते हरे रंग के हो जाते हैं तो पौधे के शरीर की रचना में योग देने के लिये हवा से कार्बन डाई-ऑक्साइड लेकर उसकी कार्बन पृथक् करते हैं और सूर्य की ऊर्जा से मिलाकर तेल, प्रोटीन, शक्कर और विटामिन आदि पदार्थ बनाते रहते हैं, जो पौधे के शरीर की वृद्धि करते हैं और इनको खाकर समस्त भूत-प्राणियों के शरीरों की भी वृद्धि और पुष्टि होती है।

मनुष्यों और पशु-पक्षियों की उत्पत्ति भी लगभग इसी ढंग से होती है। जब तक:—

"कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥"

(गी० २।५१।।)

अर्थात् बुद्धि-योग-युक्त ज्ञानी लोग ही कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को

त्याग कर जन्म-रूप बन्धन से छूटे हुए निर्दोष अर्थात् अमृतमय पद को प्राप्त होते हैं।

इस श्लोक के अनुसार जब तक मनुष्य को मोक्ष-रूप परम पद की प्राप्ति नहीं होती तब तक मनुष्य को निम्नलिखित ढंग से बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है।

मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति

पुरुष के शरीर की नाड़ियों में जो रक्त प्रवाहित हो रहा है उसमें तीन प्रकार की कणिकाएं होती है :—

१—श्वेत कणिकाएं—ये रोगों के जीवाणुओं से युद्ध करके उन्हें मार डालने का प्रयत्न करती हैं तथा शरीर में बल और ऊर्जा को स्थिर रखती हैं।

२—लाल कणिकाएं—ये फेफड़ों की महीन थैलियों में जाकर ऑक्सीजन ग्रहण करती हैं। आक्सीजन लेने से पहले इनका रंग नीला होता है, ऑक्सीजन प्राप्त करके लाल चमकदार हो जाती हैं, फिर ये सारे शरीर में छोटी से छोटी कोशिका (सेल) तक पहुंचकर उसे भोजन का सार और ऑक्सीजन पहुंचाती हैं। जब उनके पास की ऑक्सीजन समाप्त हो जाती है तो उनका रंग नीला, श्याम या जामुनी-सा हो जाता है और ये पुनः हृदय में से होती हुई फेफड़ों में चली जाती हैं।

३—प्लेटलेटस—ये तीसरी प्रकार की कणिकाएं होती हैं जिनकी आकृति चक्की के पुटों जैसी होती है। जब शरीर में कहीं चोट लग जाती है अथवा कोई अंग कट जाता है तो ये कणिकाएं अति शीघ्रता से वहाँ जाने लगती हैं। और अपने आप को वहां चिपकाकर उस स्थान की मरम्मत कर देती हैं। इनके इस आत्म-बलिदान से रक्त का बाहर निकलना बन्द हो जाता है, घाव भरने लगता है।

श्वेत कणिकाएं उत्तम, मध्यम, अधम, और निकृष्ट आदि कई प्रकार की होती हैं। उनमें जो अत्युत्तम श्वेत कणिकाएं हैं, वास्तव में वही शुक्राणु होते हैं। वे शुक्राणु स्त्री के रक्त में होते ही नहीं। अथवा अजा-गल-स्तन की भांति बेकार से होते हैं। इसी से कोई भी स्त्री अपने आप स्वयं गर्भवती नहीं होती है। जब किसी पुरुष में प्रबल विषय-वासना उत्पन्न होती है तो अण्डकोष में पहुंच कर रुधिर से उत्तम सफेद कणिकाओं से युक्त वीर्य पृथक् हो जाता

है जिसमें शुक्राणुओं की पर्याप्त मात्रा होती है। वीर्य के बार-बार पात होने से मानव कमजोर और बुद्धिहीन हो जाता है और उसके सब अंग शिथिल और ढीले हो जाते हैं। कहते हैं कि फ्रांस के प्रसिद्ध शूरवीर जरनैल नैपोलियन की युद्ध में उस दिन हार हुई थी जबकि वह अपनी स्त्री से संग करके लड़ने के लिये गया था। संसार में अनेक उदाहरण ऐसे हैं जबकि ब्रह्मचर्य के नाश होने के साथ ही अनेक प्रसिद्ध लोगों का नाश हो गया था। इससे ब्रह्मचर्य या शुद्धाचरण की महानता भली-भाँति समझी जा सकती है।

सम्पूर्ण बहुकोशी जीवों का जनन अण्डों द्वारा ही होता है। मनुष्य, घोड़े, बैल, कुत्ते, बिल्ले तथा अन्य सब पशु-पक्षियों और तुच्छ प्राणियों का बच्चा बहुत सूक्ष्म अण्डे से ही बनना प्रारम्भ होता है। परन्तु सब मनुष्यों तथा पशुओं में शिशु जरायु में लिपटा हुआ होता है। इसलिये ये सब जरायुज जीव कहलाते हैं और अण्डे देने वाले पक्षी अण्डज कहलाते हैं। जूं आदि तुच्छ जीव जिनके जरायु या अण्डों का जन्म समय कुछ पता नहीं लगता, वे स्वेदज कहे जाते हैं क्योंकि ऐसे जीव पसीने से उत्पन्न होते हुए भासमान होते हैं।

मानव की माता के अण्डाशय में अधिक से अधिक दो सौ चालीस अण्डे होते हैं। अण्डे में बच्चा बनना प्रारम्भ होने से पहले नर जीव के शुक्राणु मादा के अण्डे के सम्पर्क में जाने बहुत ज़रूरी होते हैं। ये शुक्राणु इतने छोटे होते हैं, जो केवल सूक्ष्म-दर्शी यन्त्र से ही देखे जा सकते हैं। यद्यपि इनकी आकृति सब जीवों में भिन्न-भिन्न होती है, परन्तु इन सब की प्रायः एक पूंछ अवश्य होती है, जिसको हिलाकर वे वीर्य में तैर भी लेते हैं और उसकी सहायता से वे खिसक कर आगे भी बढ़ सकते हैं। ये शुक्राणु जब अण्डों से स्पर्श करते हैं तो अपनी पूंछ तोड़कर पृथक कर देते हैं और स्वयं अण्डों में घुस जाते हैं। एक अण्डे में केवल एक शुक्राणु ही प्रविष्ट होता है। जो शुक्राणु बच जाते हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। इन दोनों के संयोग को संसेचन कहते हैं। संसेचन न होने वाला अण्डा भी मर जाता है। इसके अनन्तर गर्भाशय में भ्रूण का पालन-पोषण होता है और नौ मास तक सब अंग अपने वास्तविक रूप को प्राप्त हो जाते हैं। एक नाल के द्वारा माता का शुद्ध रुधिर भ्रूण की नाभि के स्थान पर उसमें निरन्तर प्रवेश करता रहता है। उदर में बच्चा न साँस लेता है न मुंह से कुछ खाता और पीता है तथा न ही टट्टी या पेशाब ही करता है। अवधि पूरी हो जाने से माता का रुधिर उसमें जाना बन्द हो जाता है जिससे वह तलमिलाता हुआ उल्ट कर अधोमुख हो जाता है और गर्भाशय से बाहर निकल आता है। उस समय उसके सब अंग स्वयं कार्य

करने लगते हैं। उस समय शिशु और माता दोनों के एक प्रकार से नवीन जन्म ही होते हैं। ठीक है, जीवन के चार कष्ट महान् हैं :—

१—जन्म, २—रोग, ३—जरा और ४—मरण।

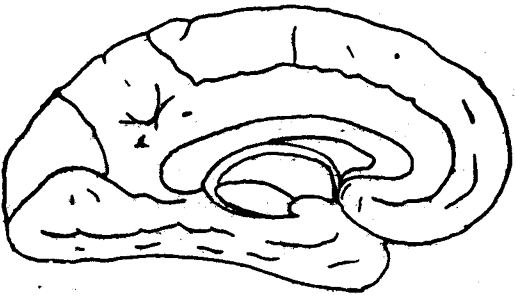
इन चारों से बचने के लिये ही मोक्ष की आकांक्षा की जाती है। कहा भी है:—

"जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम् ॥"

(गी० १३। ८॥)

अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के दुःखों और दोषों का बार-बार देखना ही ज्ञान है। इनसे बचने के लिये मोक्ष की प्राप्ति ही मनुष्य का लक्ष्य है।

मस्तिष्क



"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥"
"ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥"

(गी० ४।३८, ३९)

अर्थात् इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह (और कुछ भी) नहीं है। उस ज्ञान को चिरकाल से स्वयं योग-संसिद्धि प्राप्त हुआ पुरुष अपने आप में अनुभव करता है ॥३८॥

और उस ज्ञान को प्राप्त करके तुरन्त परम शान्ति को पा लेता है ॥३९॥

और शरीर में इस ज्ञान का केन्द्र तथा स्थिति-स्थान मस्तिष्क है। इस लिये मस्तिष्क से अवगत होना भी परमावश्यक है।

मानव-शरीर में मस्तिष्क ही सब अंगों का महाराजाधिराज है। इसी

में बुद्धि सुरक्षित होती है। इसी में सब प्रकार का ज्ञान केन्द्रित होता है। यही सारे शरीर के सब अंगों पर नियन्त्रण करता है तथा इसी के द्वारा सब अंगों को कार्य करने के लिये आज्ञाएं प्रसारित होती हैं।

मस्तिष्क के चार भाग होते हैं:—

१— प्रमस्तिष्क, २—अनुमस्तिष्क, ३—सेतुमस्तिष्क, और ४—सुषुम्णा-शीर्ष।

सम्पूर्ण मस्तिष्क कपाल के भीतर सुदृढ़ हड्डियों में स्थित है। शरीर के आकार के अनुसार मनुष्य का मस्तिष्क अन्य सब जीव-जन्तुओं में सबसे अधिक बड़ा होता है। इसी कारण मनुष्य अन्य सब जीवों से अधिक बुद्धिमान् होता है और सृष्टि में प्रभु का प्रतिनिधि कहलाता है।

१—प्रमस्तिष्क—यह दिमाग का सबसे बड़ा भाग है। खोपड़ी के प्याले के नीचे यह शेष तीनों भागों के ऊपर छाया रहता है। इसके दो गोलार्द्ध दायें, बायें बने हुए से प्रतीत होते हैं।

इस प्रमस्तिष्क के द्वारा हम सब कुछ सोचते और समझते हैं। इच्छा करते हैं। स्मरणशक्ति भी इसी के भीतर होती है। हाथ, पैर, मुंह, जीभ, गर्दन, कन्धे आदि भी इसी की आज्ञा से हिलाए जाते हैं। संवेदना-सूचनाएं भी यही भाग ग्रहण करता है। सूंघने, चखने, सुनने, स्पर्श से, गर्मी-सर्दी तथा सुख-दुःख का अनुभव करने और देखने की शक्तियां भी इसी में केन्द्रित होती हैं। शेष शक्तियों का केन्द्र भी इसमें है। "अमृत-ग्रन्थि" भी इसी भाग में सुरक्षित होती है जिसका रस सब अङ्गों को सींच कर सुन्दर और तेजोमयी बनाए रखता है।

यदि यह अमृत-ग्रन्थि किसी कारण-विशेष से नष्ट हो जाये, तो मनुष्य का शरीर कुरूप और नीरस हो जाता है। इसके नाश के कारण प्रायः भयानक रोग, नशाखोरी, भोजन का तमो-गुणी होना और अधिक विषय-विकारी होना, होते हैं। जब तक यह अमृत-ग्रन्थि स्थिर रहती है अधिक आयु होने पर भी जरा मनुष्य को घेर नहीं सकती। इसीलिये गीता और योग-शास्त्र में चित्त-वृत्तियों के निरोध और इन्द्रियों तथा मन को वश में रखने पर अधिक बल दिया गया है। यदि किसी कारण से मस्तिष्क का यह भाग बिगड़ जाए तो शरीररूपी राष्ट्र में अराजकता फैल जाती है और सब अंग अपनी मनमानी करने लगते हैं जिससे मनुष्य पागल हो जाता है।

२—अनुमस्तिष्क—यह भाग प्रमस्तिष्क के नीचे, सिर के पिछली ओर जुड़ा हुआ है और प्रमस्तिष्क रूपी महाराजाधिराज का मन्त्री कहलाता है। क्योंकि निर्णय करने में यह उसे अपनी सम्मति देता रहता है परन्तु इसका सबसे

बड़ा काम शरीर का सन्तुलन बनाए रखना है। यह सब मांसपेशियों को चुस्त बनाए रखता है तथा उनके काय में सामंजस्य उत्पन्न करता है।

३—सेतु-मस्तिक—यह भाग शेष तीनों भागों को पुल या सेतु की भांति जोड़े रखता है। प्रमस्तिष्क को शरीर के अन्य भागों से जुड़ी हुई सूचना देने वाली सूक्ष्मतम तारें इसी भाग में से लांघती हैं। उन तारों के इस भाग में गुच्छे बने हुए होते हैं परन्तु सबका कार्य पृथक्-पृथक् होता है।

४—सुषुम्णा-शीर्ष—सुषुम्णा मोटी रस्सी जैसी एक नाड़ी का नाम है जिस का शीर्ष (सिर) सेतु-मस्तिष्क के द्वारा प्रमस्तिष्क से जुड़ा हुआ है, इसी का नाम सुषुम्णा-शीर्ष है। उसे प्रमस्तिष्क की महाराणी ही समझना चाहिए, इसके नीचे का भाग रीढ़-रज्जू भी कहलाता है। गर्दन का प्रारम्भ यहीं से होता है।

सुषुम्णा-शीर्ष के द्वारा श्वास, हृदय-गति, रुधिर बहाने वाली नाड़ियों, पाचन-यन्त्र और निगलने आदि की क्रियाओं का नियन्त्रण होता है। यदि सुषुम्णा-शीर्ष पर किसी प्रकार की चोट लग जाए, तो उससे बहुत हानि होती है और मृत्यु हो जाने तक का भय हो जाता है।

रीढ़-रज्जू छोटी अंगुली के बराबर मोटी होती है और यह रीढ़ की हड्डियों के मध्य से होती हुई टट्टी के मार्ग तक पहुंचती है। वहां पर यह घोड़े की दुम की तरह अनेक बारीक शाखाओं से युक्त होती है। इड़ा और पिंगला नाम वाली दो और तन्त्रिकाओं के जाल मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) के दोनों ओर के छेदों में ऊपर से नीचे को फैले हुए होते हैं जिनको कण्ट्रोल में कर लेने से ब्रह्म में तल्लीनता उत्पन्न होती है। इन तीनों नाड़ियों इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा का मेल दोनों भ्रुवों के मध्य तिलक स्थान से नीचे होता है जहां पर योगी-जन ध्यानावस्था में आनन्दावस्था का अनुभव करते हैं।

हृदय

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।।"
इति हृदयाय नमः ।।

इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं और न आग जला सकती है। वह आत्मा मेरे जिस हृदय में स्थित है, मैं उस हृदय को नमस्कार करता हूं।

**"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥"**

(गी० १८।६१॥)

हे अर्जुन ! प्रत्येक प्राणी का शरीर एक मोटर के समान है। जिसमें हृदयरूपी एक इंजन लगा हुआ है। जिसमें चलाने वाले ड्राइवर के रूप में ईश्वर स्थित है। इस मोटर की सब सीटों पर जीवात्मारूपी (जीवन-यात्रा करने वाली) सवारी बैठी हुई है। वह ड्राइवर रूप-धारी सर्वान्तर्यामी परमेश्वर सब जीवों को उनके कर्मों के अनुसार शुभाशुभ स्थानों में अपनी माया से भ्रमण करवाता हुआ हृदय में स्थित है॥ जब यह हृदयरूपी इंजन चलने से बन्द हो जाता है, तो शरीररूपी मोटर बेकार हो जाती है और सवारी बनकर बैठा हुआ जीवात्मा इससे बाहर निकल जाता है और किसी नवीन माता के गर्भाशय में स्थित होकर अपने चढ़ने के लिए एक नवीन शरीररूपी मोटर की रचना करने लगता है, और सदा बार-बार इसी प्रकार के बेकार धन्धे में लगा रहता है। न उसके कर्मों का आवा समाप्त होता है और न यह गधा भार ढोने से मुक्त होता है। परमेश्वर की अपार कृपा से जब कभी इसको ज्ञान के द्वारा आत्म-साक्षात्कार हो जाता है, तो कर्मों का बन्धन टूट जाता है और यह नवीन मोटरें बनाना सदा के लिए बन्द कर देता है तथा परमपद को पाकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिये—

**"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ! ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिस्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥"**

(गी० १८।६२॥)

"हे भारत !" इस सम्बोधन से अभिप्राय यह है कि कहीं ऐसा न हो कि "मैं महान् भरत के वंश में उत्पन्न हुआ हूँ" ऐसा समझकर तुझे कहीं अभिमान न हो जाए और तू समझने लगे कि मुझे किसी की शरण में जाने की क्या आवश्यकता है। तुम्हें ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए। बल्कि अपने उच्च वंश की पवित्रता का विचार करके तथा अपने हित को दृष्टिगोचर रखकर अधिक विनम्र बन जाना चाहिए। तू सब प्रकार से उस परमेश्वररूपी ड्राइवर की ही शरण को प्राप्त हो जा। फिर वह परमेश्वररूपी ड्राइवर तेरी इस मोटर को नरकादि दुःखदायी स्थानों की ओर न ले जायेगा और तू उसकी कृपा से परम शान्तिमय शाश्वत स्थान को प्राप्त हो जायेगा॥

जिस प्रकार बुद्धि और अहंकार का निवास-स्थान मस्तिष्क है इसी प्रकार [illegible] का स्थिति-स्थान हृदय है। हृदय से मनुष्य सहृदय और सुहृद

बनता है। हृदय के पसीजने से ही दयालु होता है। वात्सल्य, शोक और निवेदादि भावों का स्थान भी हृदय ही है ॥

इस हृदय की आकृति बन्द मुट्ठी के समान होती है. जिसका चौड़ा सिरा ऊपर को और नोक नीचे को होती है। यह छाती की बाईं तीसरी पसली से छठी पसली के मध्य में हड्डियों से बने हुए एक सुदृढ़ नीड़ में स्थित होता है।

हृदय के चार कक्ष होते हैं। दो दाहिने और दो बायें। दाहिने और बायें कक्षों के बीच कठिन झिल्ली की एक दीवार होती है। दाहिने दोनों कक्ष काले, नीले और जामुनी रंगों के खून के मिश्रण से भरे हुए होते हैं और वाम भाग के दोनों कक्षों में शुद्ध और फेफड़ों से आया हुआ चमकदार लाल रक्त संचार करता है।

शरीर का काला खून दो मोटी नाड़ियों द्वारा दाहिनी ओर के ऊपर के कक्ष में दिनरात निरन्तर प्रविष्ट होता रहता है, फिर वहाँ से उसी ओर के निचले कक्ष में चला जाता है। फिर वहाँ से एक मोटी नाड़ी के द्वारा ऊपर को चढ़ता है। जिसकी दो शाखायें होकर इस काले खून को दोनों फेफड़ों में पहुँचा देती हैं। वहाँ इसमें साँस की हवा से आक्सिजन निकलकर घुल जाती है, जिससे इसका रंग चमकदार और गूढ़ा लाल हो जाता है। फिर यह लाल शुद्ध रुधिर दोनों फेफड़ों से निकलकर चार नाड़ियों द्वारा हृदय के ऊपर के बायें कक्ष में प्रवेश करता है और वहाँ से निचले बायें कक्ष में चला जाता है। फिर वहाँ से एक मोटी नाड़ी के द्वारा शरीर में फैली हुई उन अनेक नाड़ियों में चला जाता है जो चिड़िया के बच्चे की भाँति दिनरात निरन्तर तड़पती या कम्पायमान रहती हैं। ये नाड़ियां सिरों पर जाकर बाल से भी अधिक बारीक हो जाती हैं और इनके द्वारा शरीर की प्रत्येक कोशिका तक शुद्ध रुधिर पहुँचाया जाता है। ये नाड़ियां मार्ग में जाती हुई खाए हुए भोजन के सार को भी साथ ले जाती हैं और उसे प्रत्येक कोशिका (सैल) में बाँट देती हैं। जब इस खून में से सारी आक्सिजन, समाप्त हो जाती है तब इसका रंग नीला या जामुनी हो जाता है और यह फिर हृदय की ओर जाने वाली नाड़ियों में दाखिल होकर बहने लगता है। जीवित प्राणियों में निरन्तर ऐसा ही होता रहता है। इसी रुधिर-संचार के द्वारा सब प्राणियों के शरीरों में प्राणों का संचार बराबर बना रहता है। हृदय में लाल लहू एक मिनट में बहत्तर बार धक्के लगाता हुआ प्रवेश करता है, इसलिये युवा पुरुष की नाड़ी भी बहत्तर बार ही एक मिनट में चलती है और हृदय से इतनी बार ही लुप-डुप की ध्वनि होती हुई सुनाई देती है। परन्तु जब हृदय-गति रुक जाती है तो प्राण भी उसी समय शरीर को त्याग देते हैं। योगीजन समाधिस्थ होकर इसी हृदय में परमात्मा के दर्शन किया करते हैं ॥

परमाणु बम और वज्र

"आयुधानामहं वज्रम्" ॥

(गी० १०।२८॥)

जिन नन्हीं-नन्हीं ईंटों से सारे संसार की रचना हुई है उनका नाम तत्त्व है। दूसरे शब्दों में "तत्त्व" वे पदार्थ हैं, जिनको दूसरे अधिक सरल पदार्थों में विभाजित नहीं किया जा सकता। लोहा, सोना, गन्धक, पारा, आक्सिजन आदि तत्त्व हैं। संख्या में ये सारे तत्त्व लगभग सौ हैं। भगवान् ने सारा संसार इन्हीं तत्त्वों से रचा है।

हमारे शास्त्रों में भूमि (मिट्टी), जल, वायु, अग्नि और आकाश (शून्य) इन पाँच तत्त्वों को सृष्टि की रचना का कारण माना है। यह भी ठीक ही है क्योंकि प्रत्येक शरीर और वस्तु मिट्टी में मिले हुए तत्त्वों, जल में मिले हुए तत्त्वों, वायु में मिले हुए तत्त्वों, आकाश (शून्य या खाली स्थान) और अग्नि-रूपी शक्ति से मिलकर ही बने हुए हैं। इनमें सौ तत्त्वों के अतिरिक्त शून्य और अग्नि का भी समावेश हो जाता है। जिन दोनों के अभाव से उक्त सौ तत्त्व मिलकर भी कोई पदार्थ नहीं बना सकते।

संसार की सम्पूर्ण वस्तुएं इन उक्त सौ तत्त्वों में से किन्हीं दो या दो से अधिक तत्त्वों से मिलकर बनी हैं। जैसे हमारे भोजनों में बरता जाने वाला सैंधा नमक सोडियम और क्लोरीन नाम की गैस के मिलने से बना हुआ है और हमारे पीने का जल आक्सिजन और हाइड्रोजन नाम वाली दो गैसों का यौगिक है। इस प्रकार इन सौ तत्त्वों में किन्हीं दो या दो से अधिक तत्त्वों के मेल से ही सारे संसार के सब पदार्थों की रचना हुई है।

इन सब यौगिक पदार्थों के सूक्ष्मतम अंश को "अणु" कहते हैं। इस अणु में कई तत्त्वों के परमाणु मिले हुए होते हैं।

और उक्त सौ तत्त्वों में से प्रत्येक के सूक्ष्मतम अंश को "परमाणु" कहते हैं।

ये परमाणु और अणु इतने छोटे होते हैं, कि किसी अत्युत्तम सूक्ष्मदर्शी (खुर्दबीन) के द्वारा भी नहीं देखे जा सकते। सब अणु दो या दो से अधिक पदार्थों के परमाणुओं के मिलने से बने हुए होते हैं। जैसे जल के अणु में दो परमाणु हाइड्रोजन के और एक परमाणु आक्सिजन का होता है।

प्रत्येक परमाणु सूर्य का पुत्र है। इसलिये वह सूर्य का ही रूप होता है। जैसे सारे सौर परिवार का सूर्य केन्द्र है और उसका सारा परिवार उसके चारों ओर निरन्तर भ्रमण कर रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक परमाणु के मध्य में एक नाभिक होता है जो उसके दो भागों प्रोटानों (PROTON) और

न्यूट्रानों (NEUTRON) से बना होता है। प्रोटान धन आवेश के कण होते हैं। न्यूट्रान उदासीन अर्थात् दोनों प्रकार के आवेशों से रहित होते हैं। न्यूट्रान नाभिक का क्रोड़ होता है। इस परमाणु का तीसरा भाग इलैक्ट्रान (ELECTRON) नाम के कण होते हैं। ये कण ऋण आवेश वाले होते हैं और निरन्तर नाभिक की परिक्रमा करते रहते हैं। इन्हीं तीन प्रकार के कणों से सारे परमाणु बने हुए होते हैं। परन्तु तत्त्वों की विभिन्नता का कारण उनके परमाणुओं में प्रोटानों की न्यूनता या अधिकता है। सब तत्त्वों में से अधिकतम भारी परमाणु यूरेनियम धातु का होता है और सबसे न्यूनतम हलका परमाणु हाइड्रोजन गैस का होता है। यदि हाइड्रोजन गैस के परमाणु का भार 'एक' माना जाए तो यूरेनियम धातु के परमाणु का भार २३८ होता है। इसलिए यूरेनियम से ऐटम बम और हाइड्रोजन से उदजन बम बनाए जाते हैं। ऐटम बम में परमाणु का विखण्डन किया जाता है और उदजन बम में उसके भागों का संलयन किया जाता है। ये दोनों बम महान् प्रलयकारी होते हैं और सैंकड़ों मीलों तक तबाही मचा देते हैं।

वज्र

ऐटम बम और उदजन बम की भाँति वज्र भी एक अत्यन्त भयानक और आफत मचा देने वाला आयुध है जो धनुष, राकेट या किसी दूर मार करने वाले अस्त्र के द्वारा फेंका जाता है। यह आयुध क्षण भर में बड़े से बड़े समुद्र को सुखा सकता है, बड़े से बड़े पर्वत को मिट्टी में मिला सकता है और हजारों वीर योद्धाओं को मृत्यु की नींद सुला सकता है। इन्द्र ने इसी वज्र से अपने शत्रु का नाश कर दिया था और अकेले राम ने खर, दूषण और त्रिशिरा की चौदह हजार दक्षिण भारत की विजेता वीर सेना अल्प काल में ही सारी की सारी नष्ट कर दी थी। यह आयुध इतना गुप्त रखा जाता था कि किसी ग्रन्थ में इसके बनाने का ठीक वर्णन नहीं किया गया है ताकि नीच वृत्ति अभिमानी लोग इसका बनाना और चलाना सीखकर कहीं सारे संसार का सत्यानाश न कर दें।

वज्र आयुध का इतिहास अत्यन्त गुप्त और बहुत रोचक है। उसका संक्षेप से यहाँ थोड़ा सा वर्णन किया जाता है—यह तो सबको विदित ही है कि महाराजा इन्द्र पृथ्वी पर किसी भूभाग का स्वामी नहीं है; वह तो स्वर्ग या इन्द्रपुरी का राजा है जो हमारी पृथ्वी से बहुत दूर कहीं आकाश में स्थित है जिसके साथ प्राचीन काल में इस धरती पर रहने वालों के गहरे सम्बन्ध थे। देवता लोग भी धरती पर उतरते और विचरा करते थे तथा पृथ्वी के कई राजा लोग इन्द्र की सहायता के लिये और भ्रमण करने के लिये विमानों

द्वारा इन्द्रपुरी में जाया करते थे। अर्जुन भी इन्द्रपुरी में गया था। इस पृथ्वी पर सबसे अधिक तप करने वाला पहले इन्द्र के स्थान पर इन्द्र की पदवी को प्राप्त हो सकता था। इसलिये राजा इन्द्र अधिकतम तप करने वालों से सदा सशंकित रहा करता था और येनकेन प्रकार से उनके तप को भंग करने का प्रयास किया करता था।

एक बार दैत्य लोगों ने इन्द्र पर चढ़ाई कर दी। महान् युद्ध हुआ परन्तु इन्द्र राजा उन पर विजय प्राप्त न कर सका। इससे उसे वज्र बनाने का विचार उत्पन्न हुआ। उस समय संसार भर में परमाणु विद्या में अत्यन्त पारंगत महावैज्ञानी "दधीचि" नाम्र का ऋषि विद्यमान था। राजा इन्द्र ने उसकी प्रसिद्धि सुनी तो उसके पास गया और याचना की कि मुझे आपकी छाती की हड्डियों की आवश्यकता है। अर्थात् आपने जो आयु भर परमाणु शक्ति की खोज की है उसके द्वारा मुझे वज्र बनाकर दीजिए। महर्षि दधीचि ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार कर ली और अपने छाती के सब रहस्य इन्द्र को बता दिये जिससे इन्द्र को तो वज्र मिल गया परन्तु दधीचि अपनी प्रयोगशाला में ही धमाके से टुकड़े-टुकड़े होकर मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसके अनन्तर यह विद्या परंपरागत महर्षि विश्वामित्र और परशुराम को प्राप्त हुई। विश्वामित्र न केवल महाप्रलयकारी वज्र आदि आयुधों के निर्माण करने में ही प्रवीण था, बल्कि सब प्रकार के राकेट, सुरक्षा के लिए बिछाई जाने वाली सुरंगें और अत्युत्तम विमान बनाने में भी निपुण था। वह अपनी महान् खोज ऐटमी शक्ति के द्वारा पृथ्वी के गोले को भी उठा सकता था। एक बार उसने राकेट के द्वारा महाराजा त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग पहुँचा दिया था।

जब रावण के सेनापतियों ने दक्षिण भारत के दक्षिणी भाग पर अपना अधिकार जमा लिया तो विश्वामित्र और उसके साथी ऋषियों को महान् चिन्ता उत्पन्न हुई। उन्होंने मिलकर विचार किया कि राजा दशरथ बूढ़ा होने के कारण राक्षसों के इस आक्रमण को रोक नहीं सकता और मिथिला का राजा जनक महाज्ञानी होने के कारण राक्षसों से युद्ध न करेगा तथा उत्तरी या दक्षिणी भारत में कोई और राजा भी ऐसा शक्तिशाली नहीं है जो लंका के राजा रावण को भारत पर अधिकार जमाने से रोक सके।

इन सब बातों पर सोच-विचार करने के लिये विश्वामित्र की प्रधानगी (अध्यक्षता) में परशुरामादि ऋषियों की एक गुप्त गोष्ठी हुई जिसमें एक महान् योजना तैयार की गई जिसको अत्यन्त गुप्त रखा गया। उस समय भारत में सबसे चतुर और राजनीतिज्ञ नारी कैकेयी थी जो राजा दशरथ

की स्त्री और भरत की माता थी। सबसे पहले ऋषियों ने अपनी इस योजना से उसे अवगत कराया और उसे अपने साथ गाँठ लिया गया जिससे उसने अपने लिए दो वरदान लेने का वचन राजा दशरथ से ले लिया।

तदनन्तर महर्षि विश्वामित्र राजा दशरथ के पास गये और राक्षसों का वध करने के लिये राजा से राम और लक्ष्मण को मांगा। राजा दशरथ विश्वामित्र की इस याचना से अत्यन्त घबराने और व्याकुल होने लगे क्योंकि उस समय राम और लक्ष्मण की आयु केवल सोलह-सतरह वर्ष के लगभग थी। उक्त योजना से महर्षि वसिष्ठ भी अवगत थे। इसलिये उन्होंने राजा दशरथ को समझाया कि आप कोई चिन्ता न करें। आपके पुत्रों का कल्याण इसी में है कि इन्हें महर्षि विश्वामित्र को सौंप दिया जाए। फिर महर्षि वसिष्ठ के कहने से राम और लक्ष्मण दोनों भाई विश्वामित्र को सौंप दिए गए जो उनको वन में अपने आश्रम में ले गये और थोड़े ही दिनों में उन्हें वज्र मारने, राकेट चलाने, सुरंगें दबाने और ऐटमी शक्ति द्वारा अलौकिक बल प्रदर्शन करने की उच्चकोटि की ऐसी शिक्षा दी कि जिसे पाकर वे साक्षात् परमेश्वर बन गए। जब वे दोनों भाई सब प्रकार की अस्त्र-शस्त्र विद्या में प्रवीण हो गए तो एक दिन राक्षसों ने आश्रम पर आक्रमण कर दिया तो राम ने एक ही बाण से सुबाहु और ताड़का को मार डाला और राकेट मारकर मारीच को छः-सात सौ मील दूर समुद्र तट पर फेंक दिया।

इसके बाद महर्षि विश्वामित्र दोनों भाइयों को सीता स्वयंवर देखने के लिए राजा जनक की राजधानी मिथिलापुरी में ले गए और वहाँ पर राम ने अत्यन्त भारी शिव धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने के लिये उसे इतना झुकाया कि वह मध्य से धमाके के साथ टूट गया। इस धनुष टूटने के शब्द को सुनकर परशुराम जी वहाँ पहुँच गये और अपने क्रोध का प्रदर्शन करने लगे तो लक्ष्मण के सीखे हुए ऐटमी अस्त्र-शस्त्र उसके भीतर से बोलने लगे और राम ने अपनी युक्तियुक्त मधुर वाणी से परशुराम का परितोष कर दिया। इस प्रकार जब परशुराम द्वारा की गई परीक्षा में महर्षि विश्वामित्र के दोनों शिष्य पास हो गए तो परशुराम जी प्रसन्न और मुग्ध हो गये और उन्होंने अपना दिव्य धनुष पारितोष के रूप में राम को दे दिया।

पूर्वोक्त योजना के अनुसार भरत और शत्रुघ्न को तो नाना के घर भेज दिया गया और कैकेयी ने राजा से भरत के लिये राज्य और राम के लिये चौदह वर्ष का वनवास मांग लिया। उस समय देवताओं ने सरस्वती को कैकेयी की जिह्वा पर बैठा दिया था अर्थात् कैकेयी को सारी ऊँच-नीच समझा दी

थी। यद्यपि इससे कैकेयी की राज्य भर में अति निन्दा हुई और राम के वियोग में बूढ़े दशरथ की मृत्यु हो गई परन्तु देशहितैषिणी और परम बुद्धिमती कैकेयी ने इनमें से किसी बात की भी कोई परवाह न की और उस समय भारत पर आये हुए महान् संकट से देश की रक्षा हो गई तथा देश के शत्रु राक्षस लोग कुछ तो मारे गये और कुछ विभीषणादि हमारे साथ मिलकर शान्ति से रहने लगे ॥

राम ने खर, दूषण, त्रिशिरा तथा उनकी चौदह हजार सेना को चन्द घण्टों में ही ऐटमी आयुधों से तहस-नहस कर दिया था और लंका में सारी लड़ाई भी इन्हीं अस्त्र-शस्त्रों से ही लड़ी गई थी ॥

रावण और उसके दस सिर

वर्तमान काल की तरह रामायण-काल में भी साइंस उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी। आजकल की तरह सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्र बने हुए थे। रावण ने निर्धन ऋषियों से 'कर' के रूप में उनके शरीर का खून लिया था परन्तु उन्होंने उस खून को घड़े में डालकर एक विशेष युक्ति से बन्द कर दिया था। जिससे नौ मास के अनन्तर राजा जनक ने जब उस घड़े का मुंह खोला तो उसमें से नई जन्मी हुई एक कन्या निकली थी जिसका नाम सीता रखा गया था।

रावण स्वयं एक निपुण वैज्ञानी था जिसने अपने सिर से मिलते-जुलते नौ सिर और अपने सिर के साथ प्लास्टिक आदि किसी मसाले के बनाकर जोड़ रखे थे जो हूबहू असली सिर और उसमें लगे हुए अंगों के समान थे और उनमें लगे हुए मुख, नाक, कान आदि अंग भी ठीक उसी प्रकार हिलते-जुलते और काम करते हुए भासमान होते थे जिस प्रकार किसी का असली सिर काम करता है। साथ ही उसने अपनी भुजाएं भी बीस बना रखी थीं जो असली भुजाओं के समान ही काम करती हुई प्रतीत होती थीं। दस सिर और बीस भुजाओं वाला बन जाने से वह अपने लिये कई लाभ समझता था। जैसा कि वह प्रजा और शत्रुओं पर प्रभाव डालने के लिए दशानन बना हुआ था। असली सिर कट जाने की आशंका से उसने दस सिर और बीस भुजाएं बना रखी थीं। हुआ भी ऐसा ही। जब कई दिन के युद्ध में हर रोज राम उसकी जितनी भुजाएं और सिर काट डालते थे तब दूसरे दिन फिर उसको दस सिरों और बीस भुजाओं वाला देख पाते थे। मालूम होता है कि उसने बहुत

सी कृत्रिम भुजाओं और सिरों का स्टाक कर रखा था जिससे वह अपने शरीर में नित्य उनकी न्यूनता पूरी कर लेता था। परन्तु जब यह सिर और भुजाओं का स्टाक समाप्त हो गया तो रावण केवल एक सिर और दो भुजाओं वाला ही रह गया और फिर राम द्वारा सहज ही मारा गया।

रावण शिवजी का उपासक था। उसने ये कृत्रिम सिर काटकर शिवजी की प्रतिमा के सामने भी चढ़ाए थे। जब कभी इसे आवश्यकता होती थी तो बाहर जाते हुए इन कृत्रिम सिरों को शरीर से उतारकर घर में ही छोड़ जाया करता था। बहुत बार उसने ऐसा किया था जिनमें से दो उदाहरण पाठकों की जानकारी के लिये उपस्थित किए जाते हैं :—

१—जब रावण ने सुना कि मिथिलापुरी में सीता का स्वयंवर होने वाला है तो स्वयंवर से कई दिन पूर्व ही रावण अपनी सब कृत्रिम भुजाओं और सिरों को उतारकर तथा भेष बदलकर मिथिलापुरी में पहुँचा और राजा जनक से धनुष देखने की इच्छा प्रकट की तो राजा की आज्ञा से यह महान् बोझल फौलादी धनुष उसे दिखलाया गया। उसने उसे उठाने के लिये एड़ी से चोटी तक सारा बल लगाया परन्तु वह भारी धनुष तिल भर भी धरती से ऊँचा उससे उठाया न जा सका। इससे वह अत्यन्त लज्जित हुआ और हिम्मत हारकर लंका को लौट गया।

२—भगवान् राम दण्डक वन में एक विशाल आश्रम बनाकर लक्ष्मण और सीता के साथ निवास करते थे। आश्रम के चारों ओर उन्होंने गुप्त रूप में सुरंगें बिछा रखी थीं। शूर्पणखा रावण की एक बहन थी। उसका असली नाम तो अब किसी को मालूम नहीं है परन्तु वह आजकल की लड़कियों की तरह बहुत शौकीन थी और उसने अपने नाखून बहुत बढ़ा रखे थे। उनकी शोभा बढ़ाने के लिये वह सदा उन पर नख-पालिश किए रखती थी। 'शूर्प' नाम छाज का है, 'नख' नाखून को कहते हैं। इन दोनों शब्दों में बहुव्रीहि समास होकर स्त्रीलिङ्ग का चिह्न 'आ' लगा हुआ है। इसलिए "शूर्पणखा" शब्द का अर्थ छाज जैसे लम्बे नाखूनों वाली लड़की होता है 'नख' का 'न' शूर्प के र् के सम्पर्क से सन्धि-नियम के द्वारा 'ण' में बदल गया है। इसलिये वे सब लड़कियां शूर्पणखा कहलाती हैं जिनके नाखून लम्बे बढ़ाकर पालिश किए हुए होते हैं। ऐसे ही नाखूनों वाली रावण की बहन शूर्पणखा रावण की आज्ञा से अपने भारती अधिकृत देश दण्डकारण्य के प्रबन्ध को देखने के लिए भ्रमण कर रही थी कि सहसा उसने राम को वन में बैठे हुए देखा—और

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई । बोली वचन बहुत मुसुकाई ।।
तुम सम पुरुष न मो सम नारी । यह सँजोग विधि रचा विचारी ।।
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखिउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ।।
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी । मन माना कछु तुम्हहिं निहारी ।।

यह सुनकर भगवान् राम बोले—कि हे शूर्पणखा ! देखो ! मेरी यह स्त्री तो मेरे पास बैठी है । परन्तु वह दूर बैठा हुआ मेरा छोटा भाई इस समय अकेला है और गोरा-चिट्टा और सुन्दर भी बहुत है । तू उसके पास जा, जहाँ तेरा काम शायद बन जाए । यह सुनकर वह लक्ष्मण जी के पास चली गई और अपने साथ विवाह का प्रस्ताव उसके सामने रखा । यह सुनकर लक्ष्मण जी ने कहा कि हे सुन्दरी ! मेरी बात को तू तनिक ध्यानपूर्वक सुन । वह मेरे स्वामी बैठे हैं । और मैं तो केवल उनका एक तुच्छ सा नौकर हूँ । तू बहुत बड़े राजा रावण लंकापति की एक महान् भगिनी है । मेरे साथ विवाह हो जाने पर तू भी दासी बन जाएगी इसमें तुम्हारी क्या बुद्धिमत्ता है । भगवान् राम तो अयोध्या के राजा हैं । वे जो कुछ भी कर लें वह सब कुछ उन्हें शोभा देता है । पिता दशरथ की तीन रानियां थीं । राम के तो अभी एक ही है । वे दस बीस भी कर लें तो भी उन्हें कौन पूछने वाला है । इसलिए मैं तेरे भले की बात कहता हूँ कि तू अपने मन को डाँवाडोल मत कर । नहीं तो—

सेवक सुख चह मान भिखारी । व्यसनी धन सुभगति व्यभिचारी ।।
लोभी जस चह चार गुमानी । नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी ।।

यह सुनकर वह फिर राम के पास गई और अपने हृदय की काम-वेदना कहने लगी परन्तु राम ने उसे समझा-बुझाकर फिर लक्ष्मण के पास लौटा दिया । परन्तु अब तो लक्ष्मण ने उससे कहा—कि तुम्हारे साथ विवाह तो वही पुरुष रचा सकता है, जो निर्लज्ज और पक्का बेशर्म हो । यह वचन सुनते ही वह क्रोध से आगबबूला बन गई । अपने सिर के बाल बिखेरकर नोचने लगी, अपने गालों तथा छाती को पीटने लगी । अनाप-शनाप बकती हुई सीता पर झपटी तो लक्ष्मण जी उसे खींचकर दूर ले गये । इस खींचातानी में शूर्पणखा की नाक पर चोट लग गई जिससे नकसीर फूट पड़ी और रुधिर बहने लगा । गले का कपड़ा और दुपट्टा लहू से रंगे गए । इस दशा में वह रावण के जरनैल खर, दूषण और त्रिशिरा के पास चली गई । अपने राजा रावण की बहन की यह दशा देखकर वे तीनों बहुत घबराये और उससे सारा हाल सुनकर वे राम के विरुद्ध युद्ध करने के लिये चल पड़े । परन्तु भगवान् राम ने अल्प काल

में ही ऐटमी आयुधों से उनके पर्खचे उड़ा दिये और उनके मृतक शरीरों को एक स्थल पर एकत्रित करके आग लगा दी। तब शूर्पणखा ने भी इस भयानक घटना को देखा और सारा वृत्तान्त लंका में जाकर रावण से कहा और उसकी सभा में फूट-फूटकर रोने लगी। शूर्पणखा की इस दुर्दशा को देखकर तथा भारत भूमि में राक्षस सेना का सफाया सुनकर सब सभासद घबरा उठे। तब रावण ने नाक पर चोट लगी हुई बहन को समझाकर धैर्य दिया और घर में भेज दिया। तब फिर—

दसमुख गयउ जहां मारीचा। नाइ माथ स्वारथ-रत-नीचा ॥
नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ॥
भयदायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी ॥

तब मारीच ने उसके चरण छूए, अर्घ्य दिया, सुन्दर आसन पर बैठाकर आदर-सत्कार किया तथा कुशलक्षेम पूछकर प्रार्थना की कि आप महापुरुष होते हुए किस कारण से मेरे घर पर पधारे हैं ? कोई आवश्यकता थी तो मुझे बुला लेते मैं अहोभाग्य समझकर सहर्ष आपके चरणों में चला आता। आपने मुझ दीन के गृह आने का बहुत कष्ट किया है।

तब रावण ने मारीच से अपने आने का कारण कहा और बोला— कि हे मारीच ! तुम सोने का मृग बनकर राम के आश्रम के समीप जाओ और उन्हें दिखाई देकर भाग निकलो। राम तुझे मारने के लिये तेरे पीछे जायेंगे। तुम फिर राम के स्वर में लक्ष्मण का नाम लेकर सहायता के लिए पुकारना जिससे फिर लक्ष्मण भी राम के पीछे आश्रम से बाहर चला जायेगा और मैं भी राम की पत्नी सीता को अकेली देखकर उठा लाऊँगा।

यह योजना सुनकर मारीच का खून शुष्क हो गया और डरते-डरते बोला—

हे राजन् ! उन लोगों से वैर न करो। वे तो अत्यन्त शक्तिशाली हैं जिन्होंने मुनि विश्वामित्र के आश्रम में मेरे राकेट मारा और उठाकर छः-सात सौ मील दूर यहाँ समुद्र के तट पर फेंक दिया था। दिनरात मेरे नेत्रों के सामने उन्हीं की मूर्ति कालरूप होकर मुझे कम्पायमान करती हुई फिरती रहती है। यद्यपि वे मनुष्य रूपधारी दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु वे वास्तव में मनुष्य नहीं हैं। मुझे तो स्वयं परमेश्वर ही मालूम होते हैं।

यह सुनकर रावण का हृदय जल गया और बोला—अरे मूर्ख ! तुम मुझे क्या समझा रहे हो। यदि मेरी आज्ञा का तुम पालन न करोगे तो मेरे हाथों अभी मारे जाओगे ॥ जब मारीच ने दोनों ओर मरना देखा तो उसने रावण की

योजना के अनुसार आचरण किया जिससे राम उसके मारने के लिये उसके पीछे आश्रम से दूर निकल गये। जब मरते समय मारीच ने राम के स्वर में सहायता के लिये लक्ष्मण को पुकारा तो सीता जी के कहने पर उनको भी भाई राम का अनुसरण करना पड़ा। वे जाते समय आश्रम के चारों ओर सुरंगें बिछा गये और सीता जी के बाहर निकलने के लिये केवल हाथ दो हाथ का रास्ता खुला छोड़ गये। तब फिर—

सून बीच दसकन्धर देखा। आवा निकट जती के बेखा॥

अर्थात् रावण को यह सूचना मिली कि अब सीता अपने आश्रम में अकेली रह गई है तो उसने अपनी कृत्रिम भुजाएं और सिर अपने शरीर से पृथक् कर दिए और साधारण साधु का भेष धारण कर लिया क्योंकि उसे डर था कि यदि मैं ऐसा न करूंगा तो सीता मुझे झट पहचान लेगी और मुझ से धोखा न खाएगी। कारण यह कि मेरे सिवाय संसार में और कोई प्राणी दस सिरों और बीस भुजाओं वाला नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वास्तव में रावण भी केवल एक सिर और दो भुजाओं वाला ही था। शेष सब सिर और भुजाएं उसने केवल अपने प्रभाव दिखाने और अपनी सुरक्षा के लिये कृत्रिम ही बना रखे थे। यह उस समय की सर्जरी का कमाल ही समझना चाहिए।

रावण चतुर और नीतिज्ञ तो था ही। वह शीघ्र भाँप गया कि इस आश्रम के चारों ओर सुरंगें बिछी हुई हैं। यदि भूल से मेरा पाँव किसी सुरंग पर पड़ गया तो वह फट जायेगी और साथ ही मैं भी उड़ जाऊँगा। इसलिये उसने कहा—हे सुन्दरी! मैं संन्यासी हूँ। इसलिये किसी गृहस्थ के गृह के भीतर प्रविष्ट होकर मैं भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। (देखिए प्राचीन काल का नकली संन्यासी क्या कह रहा है और आजकल के संन्यासी महाराजाओं के भवनों को भी लज्जित करने वाले सर्व प्रकार की भोग सामग्रियों से युक्त भवनों में निवास करते हैं और वे न केवल गृहस्थों के गृहों में ही चिरकाल तक निवास करते हैं अपितु उनके डेरों में भी उनकी चेलियां चिरकाल तक डेरे डाले रहती हैं॥)

रावण की यह बात सुनकर और उसको सच्चा संन्यासी समझकर फिर—

विधि-गति वाम काल कठिनाई। रेख नाँघि सिय बाहर आई॥

तब रावण ने उसे अपने साथ चलने के लिये सहमत करना चाहा और तरह-तरह के प्रलोभन दिखाए। प्रेम प्रकट किया। राजनीति की बातें कहीं और जान से मार डालने का भय दिखाकर साथ चलने के लिये कहा परन्तु—

कह सीता सुन जती गोसाँइ । बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं ॥
तब रावन निजरूप देखावा । भई सभय जब नाम सुनावा ॥
कह सीता धरि धीरज गाढ़ा । आइ गयउ प्रभु खल रहु ठाढ़ा ॥

क्रोधवंत तब रावन लीन्हेसि रथ बैठाई ।
चला गगन-पथ आतुर-भय रथ हाँकि न जाई ॥

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस रथ में जबर्दस्ती सीता को डालकर लंका का राजा रावण आकाश मार्ग में लिये जा रहा है और जिसके घोड़े भय के कारण उसके द्वारा हाँके नहीं जाते, क्या उस रथ के घोड़े लीद करने और घास खाने वाले होंगे ? कदापि नहीं, वे तो आकाश में विमानों को उड़ाने वाले इंजन ही हो सकते हैं जो उस समय केवल ऐटमी शक्ति से ही चला करते थे । त्रेता के बाद ही द्वापर युग का प्रारम्भ हुआ था तो क्या फिर यह ऐटमी शक्ति से चलने वाले रथ नष्ट हो गये थे ? कदापि नहीं । क्योंकि लंका के युद्ध और महाभारत के युद्ध के बीच में कोई ऐसा युद्ध नहीं हुआ था जिसमें संसार के इंजीनियर, साइंस जानने वाले और बुद्धिमान् मर गये हों । त्रेता युग तो विज्ञान के विकास का महान् युग था । और द्वापर में हुए महाभारत के युद्ध तक उत्तरोत्तर उसमें महान् उन्नति होती गई जैसा कि हम इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर दर्शाते चले जा रहे हैं। तो फिर क्या अर्जुन का रथ घास खाने और लीद करने वाले घोड़ों द्वारा चलने वाला होगा ? कदापि नहीं। वह तो इन्द्र का रथ था जिसे अग्नि देवता आकाश मार्ग से उड़ाकर लाया था। सारे संसार के योद्धा लोग कुरुक्षेत्र के मीलों लम्बे चौड़े बिशाल मैदान में एकत्रित होकर लड़े थे । अठारह दिन तक ऐटमी आयुध चलते रहे जिससे सारे संसार के शूरवीर, वैज्ञानी, साइंस विज्ञाता, इंजीनियर, बुद्धिमान्, विद्वान और कला कौशल में प्रवीण और निपुण सारे के सारे लोग मारे गये। यह युद्ध संसार के लिए अत्यन्त महान् ट्रेजडी या दुःखान्त सिद्ध हुआ । इस प्रकार सब संसार फिर से प्रारम्भिक अवस्था को प्राप्त हो गया, केवल तोते, मैना तथा राजा रानी की कथाएं कहने वाले शेष रह गए । और जैसे अंधा अंधे को कुछ भी दर्शा नहीं सकता है यही बात इन लोगों पर चरितार्थ होती है । परन्तु आधुनिक आविष्कारों ने सबकी आँखें खोल दी हैं जिससे नई युवा पीढ़ी सब प्रकार के मत-मतान्तरों के फैलाए हुए अन्धकारों को दूर कर देना चाहती है । संसार के सब धर्मों के बाह्य चिह्नों की दीवारें गिरती जा रही हैं । अब किसी भी धर्म-ध्वजधारी को यह गिला करना उचित नहीं है कि नवीन पीढ़ी धर्म

से बेगाना और विमुख होती जा रही है। मेरे विचार में ये युवक जितनी जल्दी इन धर्मों को त्यागकर स्वतन्त्र मस्तिष्क होकर विचार करने के स्वभाव वाले हो जाएंगे उतना ही देश और संसार का कल्याण होगा और संसार में शान्ति की स्थापना हो जायेगी ।। कहा भी है—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।"

(गी० १८।६६।।)

हनुमान् की पूँछ और वानर जाति

दक्षिण भारत में पंचवटी के दक्षिण की ओर किष्किन्धा नाम की एक नगरी थी जिसमें वानर जाति के लोग राज्य करते थे। ये लोग भी मनुष्य ही थे। बन्दर और रीछ नहीं थे। परन्तु उत्तरी भारत के लोगों की तरह अधिक सुन्दर और गौर वर्ण नहीं थे। उनके नाम भी प्रायः शरीर के अवयवों के अनुसार ही होते थे, जैसे बाली (घने बालों वाला), सुग्रीव (सुन्दर ग्रीवा वाला), हनुमान् (बड़ी ठोड़ी वाला) और अङ्गद (बाहुभूषण) आदि। अब तक इण्डोनेशिया के लोग इन जैसे नाम रखते हैं जैसे सुकर्ण (सुन्दर कानों वाला) आदि।

जिस तरह आजकल कई लोगों के पास जेब में डालने वाले रेडियो सैट मौजूद हैं उसी प्रकार रामायण के काल में कई लोगों के पास जेब में डालकर रखने वाले छोटे-छोटे बिमान थे जो गुप्त या छिपाकर रखे जा सकते थे। वे परमाणु शक्ति से चलते थे और उनको चलाने वाला अपनी कमर के साथ बाँधकर जब चाहे बड़ी तेजी से उड़ सकता था। जटायु और संपाती कुरूप तो भले ही थे परन्तु गीध या पक्षी बिल्कुल नहीं थे क्योंकि गीध मनुष्य की भाँति कभी नहीं बोल सकते। उन दोनों के पास भी ये उड़ने वाले यन्त्र मौजूद थे और संपाती के पास तो दूरबीन भी थी जिससे उसने अशोक वाटिका में बैठी हुई सीता को चार सौ कोस दूर बैठे हुए ही देख लिया था और खोज करते समय हनुमान् को बतला दिया था। जब रावण सीता को चुराकर लिए जा रहा था, तो जटायु ने अपने यन्त्र द्वारा उड़कर रावण से युद्ध किया था, परन्तु सीता को छुड़ाने में सफल न हो सका और रावण ने उसे घायल करके पृथ्वी पर गिरा दिया था और उसने सीता के चुराए जाने का वृत्तान्त राम से निवेदन करने के अनन्तर अपने प्राणों को त्याग दिया था। हनुमान् जी ने

हिमालय से संजीवनी बूटी लाने के लिये अपने इस गुप्त उड़न यन्त्र के द्वारा आठ-नौ घण्टों में लगभग चार हजार मील लम्बी यात्रा की थी। जब हनुमान् जी हिमालय से वापस लौटते हुए अयोध्या के ऊपर के आकाश से होकर लांघने लगे तो उसे भरत ने कोई शत्रु समझा और राकेट मारकर नीचे गिरा लिया। गिरते ही हनुमान् जी राम राम कहकर कराहने लगे। तब भरत जी ने समीप जाकर पूछा कि अरे भाई! तू कौन है? तब श्री हनुमान् जी ने सीताहरण से लेकर लक्ष्मण की मूर्छा पर्यन्त व्यतीत हुआ सारा वृत्तान्त कह सुनाया, जिसे सुनकर भरत को बहुत पश्चात्ताप हुआ और हनुमान् जी से बोले—हे भाई! तनिक ठहरो। मैं तुम्हें अभी अपने एक राकेट के द्वारा लंका में पहुँचाता हूँ। परन्तु हनुमान् जी ने हँसकर कहा कि नहीं भाई, मैं स्वयं ही वहाँ शीघ्र पहुँच जाऊँगा। तदनन्तर वह वहाँ से उड़कर नियत समय से पूर्व ही लंका में पहुँच गये और लक्ष्मण जी को मरने से बचा लिया गया।

जब वानर लोग सीता की खोज करते हुए सिन्धु तट पर पहुँचे तो श्री हनुमान् जी ने कन्याकुमारी के तट से उड़कर सौ योजन समुद्र को पार किया और रात के अन्धकार में लङ्का की अशोक वाटिका में पहुँच गये; सीता जी को भगवान् राम का सन्देश और चिह्न स्वरूप अंगूठी देकर प्रार्थना की कि हे माता इस वाटिका के सुन्दर फल देखकर मुझे भूख लग गई है। यदि आज्ञा हो तो मैं इनको खाकर उसे दूर कर लूं। सीता की आज्ञा मिलते ही श्री हनुमान् जी ने वाटिका के सुन्दर फलदार वृक्षों को उजाड़ना और उखाड़ना प्रारम्भ कर दिया। वाटिका में जो लोग रखवाली करने के लिये मौजूद थे हनुमान् जी ने उन्हें जब मार-मारकर दुम्बे बना दिया तो उन्होंने रावण के पास जाकर पुकार की तो रावण ने उनकी रक्षा और सहायता के लिये अपने पुत्र अक्षयकुमार को भेजा परन्तु वह भी हनुमान् जी ने मार डाला। तब हनुमान् जी को पकड़ने के लिये मेघनाद आया जो हनुमान् को पकड़कर अपने पिता रावण की राजसभा में ले गया।

तब रावण हनुमान् जी को देखकर उपहास करता हुआ बोला अहो! यह पुरुष तो वानर जाति का नहीं है। बन्दरों की जाति से मालूम होता है। निरा बन्दर है, केवल एक पूँछ की कसर है। सो अभी सर्जरी के द्वारा एक लम्बी पूँछ इसके जोड़ दी जाए। डाक्टरों को आज्ञा मिलने की ही देर थी। उन्होंने बहुत जल्दी बहुत लम्बी एक पूँछ हनुमान् जी की पीठ के साथ जोड़ दी।

तब रावण उस पूँछ को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—"इस पूँछ पर बहुत सी रूई लपेटकर उसे तेल से भिगोकर आग लगा दो और लंका

शहर के बाजारों में इस बन्दर का जलूस निकालो ताकि पुनः कोई बन्दर लंका में आ न सके।"

रावण की आज्ञा का पालन करते हुए उसके मूर्ख अनुचरों ने वैसा ही किया परन्तु हनुमान् जी बलपूर्वक उनके हाथ से निकल गए और उस जलती हुई पूँछ के द्वारा लंका का प्रत्येक घर जला दिया। फिर समुद्र के जल से उस पूँछ को बुझाकर भगवान् राम के पास वापस लौट गये।

परन्तु इस घटना की सूचना जब उसके शेष साथियों को मिली तो उन सबने रावण को चिढ़ाने के लिये अपने पीछे एक-एक पूँछ लगा ली और इसी रूप में लंका पर आक्रमण किया।

इस घटना से मिलती-जुलती एक घटना इंग्लैण्ड में भी घटित हुई थी। जब वहाँ धूम्रपान करने का रिवाज अधिक बढ़ गया तो वहाँ के बादशाह चार्ल्स ने तमाकू पीने की मनाही कर दी तथा नियम भंग करने वालों के लिये मृत्यु दण्ड की घोषणा कर दी। दूसरे दिन जब बादशाह और उसकी महारानी प्रातःकाल होने पर जागे तो उन्होंने देखा कि राजभवन के चारों ओर लाखों लोग खड़े हैं। सबके हाथ में गज-गज भर लम्बे तमाकू डालकर सुलगाए गये पाइप हैं। बादशाह को चिढ़ाने के लिए वे सब मुँह से धूम्राँ निकालकर उसकी ओर छोड़ रहे हैं। उनके इस आश्चर्यमय सामूहिक कर्म को देखकर बादशाह ने तुरन्त अपनी आज्ञा वापस लेकर धूम्रपान करने की खुली छुट्टी दे दी॥

रामायण और महाभारत के युद्ध

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि मुनि विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण को जिन अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा दी थी, वे सब वज्र आदि आण्विक आयुध ही थे जिनके द्वारा दोनों राजकुमारों ने सबसे पहले ताड़का और सुबाहु का वध किया और मारीच को पाँच-छः सौ मील दूर समुद्र तट पर फेंक दिया। फिर अकेले राम ने खर, दूषण और त्रिशिरा सहित उनकी चौदह हजार दक्षिण भारत विजेता शूरवीर सेना का अत्यल्प समय में ही नाश कर दिया। इन्हीं अस्त्र-शस्त्रों द्वारा लङ्का का युद्ध जीता गया। रावण और उसके साथियों के पास भी इसी प्रकार के आयुध थे जिनका वर्णन लंकाकाण्ड में विस्तारपूर्वक

किया गया है। विभीषण ने आकर राम को एक बार यह सूचना दी, कि हे देव ! मेघनाद एक अत्यन्त प्रलयतुल्य विध्वंसकारी अस्त्र निर्माण कर रहा है। तब भगवान् की आज्ञा पाकर हनुमान् और अंगदादि शूरवीर योद्धा मिलकर वहाँ गए जिन्होंने मेघनाद को पकड़कर बाहर खींच लिया और उसकी प्रयोगशाला को एक ही धमाके से उड़ा दिया।

राम के द्वारा चार सौ मील चौड़े समुद्र पर थोड़े समय में ही एक लम्बे पुल का बनाया जाना भी विज्ञान का एक आश्चर्यजनक चमत्कार था।

देवताओं ने इन्द्र को सूचना दी कि रावण रथ (टैंक) पर चढ़कर लड़ रहा है और भगवान् राम पैदल ही शत्रु से युद्ध में जुटे हुए हैं। तब इन्द्र ने अपना रथ (टैंक) राम के लिये भेज दिया जो आकाश मार्ग से लंका में उतरा था। मेघनाद बार-बार आकाश में उड़कर बाण बरसा रहा था, उसके अग्नि-बाणों को बुझाने के लिये राम ने मेघबाणों (बमों) की वर्षा की थी।

रावण ने ऋषियों के शरीर का रुधिर 'कर' रूप में ग्रहण किया था जिसका प्रयोग उसने युद्ध में आहत हुए सैनिकों के शरीरों में डालकर किया था। हनुमानादि योद्धाओं का आकाश में उड़कर इधर-उधर जाना और लम्बी यात्राएं करना, मेघनाद का उड़-उड़कर युद्ध करना, रावण का आकाश मार्ग से सीता को हर ले जाना, राम का पुष्पक विमान पर बैठकर अयोध्या को वापस आना, यक्षों के आकाश भ्रमण, इन्द्र आदि देवताओं का सदैव विमानों द्वारा आकाश में विचरण करना, दुष्यन्त, अर्जुन आदि का स्वर्गलोक में जाना, ये सब बातें इस बात की परिचायक हैं कि रामायण और महाभारत काल में भी विज्ञान उन्नति के अत्युच्च शिखर पर पहुँचकर सूर्यवत् प्रकाशमान् था। उन दिनों में भी आकाश यात्रा के साधन पूरी तरह से उपलब्ध थे, जो आजकल की अपेक्षा अच्छे और उत्तम थे। अभी तक वर्तमान लोग उतनी खोज नहीं कर सके हैं। राजा दुष्यन्त का विमान पर चढ़कर इन्द्र की सहायता के लिये इन्द्रलोक में जाना महाकवि कालिदास ने "अभिज्ञानशाकुन्तल" नाटक में विस्तारपूर्वक अति रोचक ढंग से वर्णन किया है। पंचतन्त्र की अनेक कथाओं में विमानों का वर्णन पाया जाता है। भगवान् राम जब एक ही ऐटम बम से लंका और भारत के बीच के समुद्र का शोषण करने लगे थे तो समुद्र का अधिष्ठातृ-देवता भेंट लेकर राम के सामने आ उपस्थित हुआ था और अपने अपराध और भूल के लिये क्षमा-याचना करने लगा था तथा उसने उस बम से अपने उत्तर तटवासी दुष्ट लोगों का नाश राम से करवा दिया था। मारीच वध के समय लक्ष्मण के द्वारा अपने आश्रम के चारों ओर सुरंगें बिछाना सबको पहले ही विदित है।

आजकल रेडियो के द्वारा प्रचार एक साधारण बात मानी जाती है। परन्तु प्राचीन काल में भी आकाशवाणी द्वारा सूचनाओं का मिलना एक साधारण बात ही समझी जाती थी। संजय के पास दिव्यनेत्र अर्थात् टेलीविजन यन्त्र था जो आजकल के टेलीविजन से अत्युत्तम था क्योंकि वह दूसरों के हृदयों के गुप्त रहस्यों का भी उद्‌घाटन करता था।

सारांश यह है कि महाभारत के युद्ध के समय तक वैज्ञानिक-उन्नति भारत में अपनी चरम सीमा तक पहुँची हुई थी जो उस युद्ध के अन्त के साथ ही मिट्टी में मिल गई। पीछे केवल ऐसी कथाएं सुनाने वाले ही शेष रह गए जिन्होंने हमें फिर से इस उन्नति के मार्ग पर जाने से रोक दिया और हमारी बुद्धियों को ऐसे पक्के कुफल या ताले लगा दिये कि किसी समय हम यह सोच भी न सकें कि प्राचीन काल में हम कितने महान् थे। और तो और अक्ल दंग कर देने वाले हमारे शूरवीरों को तुच्छ बन्दर और रीछ बनाकर रख दिया गया। यही शिक्षा हमारी अधोगति का कारण बनी और हम आज तक महारसातल में गिरे रहे॥

अर्जुन और उसका रथ

अर्जुन भगवान् कृष्ण का सखा और उनकी बूआ कुन्ती का पुत्र था जिसकी उत्पत्ति स्वर्ग के राजा इन्द्र के वरदान से हुई थी। इसलिये उसे इन्द्र का पुत्र कहा जाता है। राजा इन्द्र ने कई बार अर्जुन की सहायता की थी। अर्जुन स्वयं भी महाशूरवीर था जिसने अपने युद्ध-कौशल द्वारा शंकर भगवान् को प्रसन्न किया था जिसका वर्णन किरातार्जुनीय काव्य में विस्तार-पूर्वक जगत्प्रसिद्ध महाकवि भारवि द्वारा किया गया है। द्रौपदी स्वयंवर में अर्जुन ने अपने बाण चलाने के कौशल से सबको अत्यन्त दंग और विस्मित कर दिया था। त्रेतायुग में ही ऐटमी आयुधों, विमानों, सुरङ्गों और आजकल जैसे टैंकों, बमबारों, तथा अनेक आश्चर्यजनक आविष्कारों का प्रादुर्भाव हो चुका था। महाभारत के युद्धकाल में तो इस ओर सर्वतोमुखी पूर्ण उन्नति हो चुकी थी। जिस प्रकार आज के नीतिज्ञ और बुद्धिमान् लोग ऐटमी युद्ध से डर रहे हैं और इसके द्वारा सारी दुनिया और मानव सभ्यता का विनाश होना मानते हैं, उसी प्रकार उस समय के बुद्धिमान् लोग भी ऐसा ही समझते थे और उन्होंने महाभारत के युद्ध को रोकने का हर सम्भव प्रयत्न किया परन्तु होनी किसी के भी टाले न टल सकी जो दुर्योधन और उसके साथियों

के रूप में सारे संसार को एक साथ ले डूबी। अठारह दिन के युद्ध के अन्त में केवल दस पाण्डवों के पक्षपाती और पांच कौरवों के साथी ही जीवित बचे, पचास लाख मनुष्य युद्ध में लड़ते हुए मारे गए, चार लाख रथ (टैंक) नष्ट हुए, इतने ही हाथी मरे और अनेक घोड़े मारे गये थे। सारे संसार में रोने के लिये अबोध शिशु और विधवाएं शेष रह गईं।

अब तनिक इस बात पर ध्यान दीजिए कि क्या इतने उन्नतिशील समय में वे लोग उन लकड़ी के रथों पर चढ़कर लड़े होंगे जिनमें लीद करने वाले तथा घास खाने वाले घोड़े जुते हुए होंगे। कदापि नहीं। अर्जुन को इन्द्र देवता ने रथ भेजा था और अग्नि देवता आकाश मार्ग से उड़ाकर लाया था। इससे प्रकट होता है कि वह रथ कोई ऐसी मशीन थी जो आकाश और पृथ्वी दोनों में चलाई जा सकती थी। भला उसमें बेचारे इन साधारण घोड़ों का क्या काम हो सकता है? गीता में लिखा है—संजय, राजा धृतराष्ट्र से कहते हैं—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥

(गी० १।१४।।)

अर्थात् फिर श्वेत वर्ण के घोड़े जुते हुए बहुत बड़े स्यंदन में बैठे हुए माधव और पांडव ने दिव्य (अलौकिक) शंख बजाए॥

परन्तु ये श्वेत-हय (तीन या तीन से अधिक) घास खाने और लीद करने वाले घोड़े नहीं थे। और न ये रथ वे थे जिनमें दुल्हनों को ब्याह कर लाया जाता है। ये तो चार इंजनों वाले टैंक थे जो आण्विक शक्ति से चलाए जाते थे।

यह तो सम्भव हो सकता है कि इन इंजनों की आकृति श्वेत घोड़ों से मिलती-जुलती हो। √हय् (भ्वा० पर० सक०=जाना)+अच्=हय। अथवा √हि (स्वा० पर० सक०=धकेलना। आगे बढ़ाना)+अच्=हय। इस प्रकार हय का रूढ़ि अर्थ 'घोड़ा' त्यागकर 'इंजन' भी किया जा सकता है। इससे हॉर्स-पावर का आभास भी होता है। 'महति' पद 'महत्' विशेषण का सप्त० ए० व० है। जिसका अर्थ है—बहुत बड़े में। स्यन्दने=√स्यन्द्+ल्युट्+सप्त० ए० व० =तेज चाल से चलने वाले में। तीव्र वेग से दौड़ने वाले में। जंगी टैंक में।

इस प्रकार इस श्लोक का ठीक अर्थ इस प्रकार हुआ—फिर बहुत से अश्वों की शक्ति वाले श्वेत इंजनों से युक्त बहुत बड़े जंगी टैंक में बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण जी और अर्जुन ने भी (दो) अलौकिक शंख बजाए॥

फिर कपिध्वज अर्जुन ने हृषीकेश भगवान् कृष्ण से कहा—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥

(गी० १।२१)

अर्थात् हे अच्युत ! मेरे रथ (जंगी टैंक) को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थित कीजिये। [रथ=(पुं०) रम्यते अनेन अत्र वा, √रम्+क्थन्=रथ। युद्ध के लिये उपयोगी चार पहियों वाली एक सवारी।] फिर और आगे संजय कहते हैं—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत !।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥

(गी० १।२४॥)

अर्थात् हे धृतराष्ट्र ! गुडाकेश (अर्जुन) द्वारा इस प्रकार कहे हुए हृषीकेश (श्रीकृष्ण जी) ने दोनों सेनाओं के मध्य में उत्तम रथ (सबसे अच्छे जंगी टैंक) को खड़ा करके—॥

इस पहले अध्याय के अन्तिम श्लोक में संजय ने अर्जुन की इस प्रकार की कायरता के वचनों पर घृणा व्यक्त करते हुए कहा—हे धृतराष्ट्र !

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥

(गी० १।४७॥)

अर्थ—रणभूमि में शोक से संविग्न (दुःखी) मन वाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाण सहित धनुष को त्यागकर (अर्थात् रथ में फेंककर) रथ के उपस्थ (अगले भाग—घृणित गाली) में बैठ गया ॥ टैंक के अगले भाग में इंजनों को स्टार्ट करके रथ को चलाने और इधर-उधर आगे-पीछे मोड़ने वाला सारथी (ड्राइवर) बैठा करता है और वह उस स्थान में छिपा हुआ होता है। रथ के पिछले भाग में गोला-बारूद अर्थात् अस्त्र-शस्त्रों से युक्त रथी (योद्धा) स्थित होता है। जब भगवान् ने अर्जुन को शत्रु सेना देखने के लिये कहा तो वह धनुष बाण धारण किया हुआ रथ के पिछले भाग अर्थात् अपने बैठने के स्थान से उठकर भगवान् कृष्ण के पास रथ के अगले भाग में आकर खड़ा हो गया और कुछ देर तक अपनी और शत्रु की सेना में लड़ने के लिए उद्यत हुए सगे सम्बन्धियों को देखकर मोहपाश में बँध गया तथा घबराकर लड़ने से विमुख हो गया। जिससे धनुष बाण रथ के पिछले भाग में फेंककर आप रथ के अगले भाग अर्थात् उपस्थ में जहाँ वह पहले खड़ा था वहीं उद्विग्न मन हुआ बैठ गया। मालूम होता है कि अर्जुन को ऐसा

करते हुए देखकर संजय का मन भी उद्वेग से युक्त हो गया और उसे अर्जुन की इस कायरता को देखकर क्रोध ने घेर लिया। परन्तु फिर अपने आप को सम्भाल गया और 'उपस्थे' शब्द के पूर्व 'रथो' शब्द जोड़कर अपने को वाणी की अश्लीलता के दोष से बचा लिया ॥

संजय

महाभारत काल में जितने बुद्धिमान् और नीतिज्ञ पुरुष थे उनमें से संजय भी एक था। वह इतना भाग्यशाली और सुकृती था कि उसने दिव्यदृष्टि द्वारा अपने चर्म-चक्षुओं से भगवान् कृष्ण को गीता का उपदेश अर्जुन के प्रति करते हुए देखा और अपने कानों से उस उपदेश को सुना तथा अपने कथन को गीता में मिलाकर अपनी वाणी को सफल और अमर कर लिया। अर्जुन के बाद संसार में संजय से अधिक और कौन पुण्यात्मा हो सकता है जिसके कहे हुए गीता में उतने ही श्लोक हैं जितने अर्जुन के कहे हुए हैं। संजय सूत पुत्र, और राजा धृतराष्ट्र का सारथी था और महर्षि व्यास के प्रसिद्ध शिष्यों में से एक था। कई बार उसने पाण्डवों के पास जाकर दूत का कार्य किया था। जिस प्रकार श्रीकृष्ण चन्द्र, भीष्म, द्रोण, गान्धारी आदि अनेक धर्मात्माओं और सत्पुरुषों ने दुर्योधन और धृतराष्ट्र आदि को युद्ध न करने के लिये समझाने का प्रयत्न किया था ठीक उसी प्रकार संजय ने भी इस कार्य की पूर्ति में अपना भरसक प्रयत्न किया था। सच पूछो तो ठीक बात यह है कि जब युद्ध के दसवें दिन वह शूरवीर महायोद्धा भीष्म धराशायी हो गया जिसके कारण धृतराष्ट्र को अपने पुत्रों की युद्ध-विजय में तनिक भी सन्देह नहीं था। तब संजय ने धृतराष्ट्र को भीष्म पितामह के युद्ध में आहत होकर धराशायी होने का समाचार कह सुनाया जिसको सुनकर बेचारे अन्धे (युद्ध के मूल कारण) धृतराष्ट्र की कमर टूट गई और उसके मुख से सहसा गीता का पहला श्लोक निकल गया। हमारे विचार में वह श्लोक राजा धृतराष्ट्र के केवल पश्चाताप को ही प्रकट करता है और उसमें काकूक्ति अलंकार ही प्रधान है जिसके कारण उसके कहने से धृतराष्ट्र का भाव यह है—

कि हे संजय ! हमारे पूर्वज कुरुराजा का क्षेत्र हो जिसे राजा कुरु ने बड़े कष्ट से जोता और सींचा हो और फिर उसमें धर्म का बीज बोया हो। जिसके कारण महापापी का हृदय भी वहाँ जाने पर शुद्ध और पवित्र हो जाता हो। फिर बड़े आश्चर्य की बात है कि वहाँ पहुँचकर भी मेरे पुत्रों का हृदय शुद्ध क्यों

न हुआ। मैं यह मानता हूँ कि मेरे पुत्र दुर्योधनादि तो पापी, कपटी, छल करने वाले और अधर्मी ही थे। परन्तु पाण्डु के पुत्र तो सत्यवादी, निष्कपट, छल से रहित और धर्मी ही थे। फिर उनका हृदय भी वहाँ युद्ध करने के लिये कैसे प्रेरित हुआ। "हा! हतोऽस्मि" हाय! हाय!! मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने इस युद्ध को छेड़कर कितना अनर्थ किया? बिलकुल अच्छा न किया।

यद्यपि संजय धृतराष्ट्र के इस पश्चात्ताप से भली-भाँति अवगत था क्योंकि महाचतुर पुरुष होने से और दिव्यदृष्टि के प्रभाव से उसके हृदय की बात को वह भली-भाँति जानता था परन्तु उसने राजा धृतराष्ट्र के मनोभाव को जान-बूझकर त्याग दिया और श्लेष अलंकार की सहायता से इस श्लोक को राजा धृतराष्ट्र का प्रश्न बना लिया तथा उसका यह प्रसिद्ध अर्थ बना दिया—

"हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?"

हमारे अपने इस पक्ष में बड़ी दलील यह है कि यदि राजा धृतराष्ट्र को गीता सुनने में कोई दिलचस्पी होती तो क्या वह बीच में कहीं भी न बोलते। सन्त शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर जी महाराज ने धृतराष्ट्र की उस समय की अवस्था का चित्र इस प्रकार खींचा है—

"जिस प्रकार कोई आलसी भैंसा नदी का जल बढ़ जाने पर भी चुपचाप आराम से बैठा रहता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्र (देह ढीली-ढाली किए हुए) चुपचाप बैठे रहे। उस समय संजय ने सिर हिलाकर मन ही मन कहा "यहाँ अमृत की लगातार वर्षा हो रही है और यह बुड्ढा इस प्रकार चुपचाप बैठा है मानो यहाँ मौजूद ही नहीं है। परन्तु फिर भी वह हमारा पालन-पोषण करता है, इसलिए इसके सामने स्पष्ट बात कहकर अपनी वाचा को दूषित करना ठीक नहीं है। इसका कोई उपाय नहीं है क्योंकि इसका स्वभाव ही ऐसा है। परन्तु फिर भी मैं बहुत भाग्यवान् हूँ क्योंकि युद्ध-क्षेत्र का समस्त समाचार सुनाने के लिये श्री वेदव्यास जी महाराज ने मुझे नियुक्त किया है।" (ज्ञानेश्वरी गीता ६।३४)

धृतराष्ट्र का हृदय निर्मल और शुद्ध नहीं था। इसी से तो उसने "युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने" कहा था। यदि हृदय शुद्ध होता तो पाण्डवों को पांडु के पुत्र न कहकर "हमारे युवकों ने" कहता। सारी गीता का एक शब्द भी उसने ध्यान से नहीं सुना था। वह तो सारा समय शोकाकुल और अचेतना से ही युक्त रहा। परन्तु संजय ने अपनी वाणी को पवित्र

करने, लोक-हितार्थ, धृतराष्ट्र को युद्ध का होने वाला परिणाम जताने, और धृतराष्ट्र का कल्याण करने इन चार उद्देश्यों को दृष्टिगोचर रखकर धृतराष्ट्र से गीता कही थी।

महर्षि व्यास ने धृतराष्ट्र से कहा था—

"एष ते सञ्जयो राजन्! युद्धमेतद्वदिष्यति।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि॥
मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति सञ्जयः।
नैनं शस्त्राणि छेत्स्यन्ति नैनं बाधिष्यते श्रमः॥"

अर्थ—हे राजन्! तेरा यह (सारथी) संजय, इस युद्ध (के सब वृत्तान्त) को तेरे प्रति कहेगा। दिन में होने वाले, रात में होने वाले, प्रकट, अप्रकट और (दूसरों द्वारा) मन में सोचे जाने वाले भी सब कुछ को सञ्जय भली-भाँति जान लेगा। इसे (युद्ध में जाने पर भी) न शस्त्र घायल कर सकेंगे तथा न इसके नियत कार्य में किसी प्रकार की बाधा ही डाल सकेंगे॥

महर्षि वेद्व्यास जी

"अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वाऽपि पापीयाञ्जायते तु सः॥"

(स्मृति)

अर्थ—किसी मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता, और विनियोग को न जानते हुए जो (उक्त मन्त्र की) शिक्षा देता है अथवा जप करता है, वह पापी होता है।

"यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण
याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा
प्रतिपद्यते॥"

(आर्षेय ब्राह्मण—आर्षे—१)

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये, तो गीता भी वेदों की तरह भगवान् द्वारा ही कही गई है और गीता से युक्त होने के कारण महाभारत को पाँचवाँ वेद कहा जाता है। इसलिये गीता पढ़ने से पूर्व इसके ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग से अवगत होना जरूरी है : जो इस प्रकार कहे गए हैं—

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीता-माला-मन्त्रस्य भगवान्वेदव्यास ऋषिः।
अनुष्टुप् छन्दः।

श्रीकृष्णः परमात्मा देवता ।
श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः ॥

व्यासजी महर्षि पराशर के सुपुत्र थे और सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इनका नाम कृष्ण द्वापायन भी था क्योंकि ये श्याम वर्ण थे और इनका जन्म एक द्वीप में हुआ था। वेदों के विभाग करने से लोग इन्हें वेदव्यास कहने लगे। ये ज्ञान के अगाध और असीम समुद्र थे। विद्वत्ता की पराकाष्ठा थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्र, महाभारत, अठारह पुराण और अनेक उपपुराणों की रचना की थी। गीता को कविता का रूप भी इन्होंने ही दिया था। इन्होंने अपने प्रधान शिष्य पैल को ऋग्वेद, वैशंपायन को यजुर्वेद, जैमिनी को सामवेद, और सुमन्तु को अथर्ववेद पढ़ाया। एवं सूत जातीय महान् बुद्धिमान् रोमहर्षण महा-मुनि को इतिहास और पुराण पढ़ाये। धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर तीनों इनकी दिव्यदृष्टि के टीकों से उत्पन्न हुए थे।

ईसा के जन्म से सहस्रों वर्ष पूर्व पारसियों की मुख्य धर्म-पुस्तक "दसातीर" लिखी गई थी, उसमें महर्षि व्यास का ईरान (फारस) में जाना वर्णित है। इस पुस्तक के कुछ अंश यहाँ उद्धृत किए जाते हैं :—

"इकनू विरहमने व्यास नाम अज़ हिन्द आमद,
वसद्दाना के अक़्ल चुनानस्त"

(ज़रतुश्त की ६५वीं आयत)

अर्थात् व्यास नाम का एक ब्राह्मण हिन्द से आया, जिसके समान कोई बुद्धिमान् नहीं है ॥

"चूं व्यास हिन्द बलख़ आमद।
गस्तासप ज़रतुश्त रा बख़वांद ॥"

(१६१वीं आयत)

जब हिन्द का रहने वाला व्यास बलख़ में आया तब गस्तासप (ईरान के राजा) ने ज़रतुश्त को बुलवाया ॥

आगे फिर लिखा है—व्यास ने कहा—

"मम मरदे अम हिन्दी निज़ादे।"

अर्थात् मैं हिन्द में उत्पन्न हुआ एक पुरुष हूँ।

फिर लिखा है—

"बुह हिन्द वाज़ गश्ते।"

फिर वह हिन्द को लौट गया ॥

इससे ज्ञात होता है कि भारत के महापुरुष सारे संसार में घूमा करते थे। आज से पाँच शताब्दी पहले गुरु नानकदेव जी ने भी पश्चिम के सारे मुस्लिम देशों का भ्रमण किया था ॥

छन्द प्रकरण

सम्पूर्ण गीता के सात सौ श्लोक हैं, जिनमें से ६४५ श्लोक तो अनुष्टुप् छन्द हैं। १० इन्द्रवज्रा हैं। ४ उपेन्द्रवज्रा हैं। ३७ उपजाति हैं और ४ विपरीतपूर्वा हैं ॥

१—अनुष्टुप् छन्द

(क) **ह्रस्वं लघु** (ख) **संयोगे गुरुः** (ग) **दीर्घं च।**

(पाणिनीय अष्टाध्यायी)

ह्रस्व स्वर या ह्रस्व स्वर से युक्त व्यंजन "लघु" वर्ण कहलाता है।

संयोग आगे होने से ह्रस्व भी 'गुरु' हो जाता है।

दीर्घ स्वर अथवा दीर्घ स्वर से युक्त व्यंजन भी गुरु होता है। अनुस्वार और विसर्ग से युक्त वर्ण भी गुरु कहलाता है। लघु की एक मात्रा होती है। इसके उच्चारण में एक चुटकी बजाने जितना समय लगता है और इसका चिह्न खड़ी सरल रेखा (।) होती है। गुरु के उच्चारण में लघु से दुगना समय व्यय होता है उसका चिह्न वक्र रेखा (ऽ) होती है।

"द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षरा गणाः"।

। ऽ ऽ　　　　। ऽ ।

"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।

। ऽ ऽ　　　　। ऽ ।

द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥"

अनुष्टुप् छन्द को श्लोक भी कहते हैं। इसमें ३२ अक्षर और आठ-आठ अक्षर के चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद का पाँचवाँ वर्ण लघु और छठा वर्ण गुरु होता है। दूसरे और चौथे पादों में सातवाँ अक्षर लघु होता है तथा पहले और तीसरे पाद में सातवाँ अक्षर गुरु होता है। यथा—

। ऽ ऽ

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे=८

। ऽ ।

समवेता युयुत्सवः=८

। ऽ ऽ

मामकाः पाण्डवाश्चैव=८

। ऽ ।

किमकुर्वत सञ्जय=८

ग्यारहवें अध्याय का पहला श्लोक भी अनुष्टुप् छन्द है परन्तु उसके पहले पाद में ९ अक्षर हैं इसलिये वह आर्ष प्रयोग माना जाता है ॥

इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति और विपरीतपूर्वा आदि अनेक छन्द वर्णिक होते हैं अर्थात् उनके प्रत्येक पाद में वर्णों की गणना की जाती है और इस गणना की आसानी के लिये इन छन्दों का माप मगण=SSS, नगण=।।।, भगण=S।।, यगण=।SS, जगण=।S।, रगण=S।S, सगण=।।S, तगण=SS।, लघु=।, गुरु=S इन दस बाँटों से किया जाता है। इनमें से पहले चार शुभ और अन्तिम चार अशुभ माने जाते हैं। गीता का प्रारम्भ मगण से किया

S S S

गया है (धर्मक्षे) में 'म' पर बोलने में दो मात्राओं के समान समय लगता है इसलिये वह गुरु है। उसे लघु भी माना जाए तो इससे यह सूचित किया है कि इस पवित्र ग्रन्थ में शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, मोक्ष-जन्ममरणरूपबंधन तथा पाडवों-कौरवों के चरित्रों का विशद निर्णय किया गया है ॥

एक ही सूत्र से इन दस गणों के नामों के पहले अक्षर और स्वरूप ज्ञात किये जा सकते हैं और वह सूत्र यह है—

। S S S । S । । । S

"यमाताराजभानसलगम् ।"

य=यगण, म=मगण, त=तगण, र=रगण
(।SS) (SSS) (SS।) (S।S)

ज=जगण, भ=भगण, न=नगण, स=सगण
(।S।) (S।।) (।।।) (।।S)

ल=लघु, और ग=गुरु ॥
(।) (S)

२—इन्द्रवज्रा

S S । S S । । S । S S

"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ।"

यदि दो तगण (SS।, SS।), जगण (।S।) और दो गुरु (SS) इस प्रकार क्रमशः चारों चरणों में से प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर हों तो वह छन्द इन्द्रवज्रा होता है। गीता में केवल १० श्लोक ही इन्द्रवज्रा हैं जिनका विवरण

इस प्रकार है—

अध्याय	२	श्लोक	७, २६	=२
,,	८	,,	२८	=१
,,	६	,,	२०	=१
,,	११	,,	२०, २२, २७, ३०	=४
,,	२५	,,	५, १५	=२
			कुल	=१०

३—उपेन्द्रवज्रा

।ऽ।ऽऽ ।।ऽ। ऽ ऽ

"उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।"

उपेन्द्रवज्रा के चारों चरणों में से प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और दो गुरु क्रमशः होते हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो कहा जाएगा कि जिस छन्द के प्रत्येक चरण का पहला अक्षर लघु हो शेष सब वर्ण इन्द्रवज्रा छन्द के समान हों, वह छन्द उपेन्द्रवज्रा होता है। गीता में ऐसे नीचे लिखे कुल चार ही छन्द हैं—

अध्याय ११ श्लोक १८, २८, २६, ४५=४

४—उपजाति छन्द

इस छन्द के चारों चरणों में से कोई चरण इन्द्रवज्रा का होता है और कोई उपेन्द्रवज्रा का। इन्द्रवज्रा के प्रत्येक चरण का पहला अक्षर गुरु होता है और उपेन्द्रवज्रा का लघु होता है, इसके अलावा और कोई अन्तर नहीं होता है। सारी गीता में नीचे लिखे कुल उपजाति छन्द ३७ हैं—

अध्याय	२	श्लोक	५, ६, ८, २०, २२, ७०	=६
,,	८	,,	६, १०, ११	=३
,,	६	,,	२१	=१
,,	११	,,	१५, १६, १७, १६, २१, २३, २४, २५, २६, ३१, ३२, ३३, ३४, ३६, ३८, ४०, ४१, ४२, ४३, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०	=२४
,,	१५	,,	२, ३, ४	=३
			कुल	=३७

५—विपरीतपूर्वा

जिस छन्द का पहला चरण इन्द्रवज्रा छन्द का हो और शेष तीनों चरण उपेन्द्रवज्रा के हों, वह 'विपरीतपूर्वा' या 'आख्यानकी' छन्द कहलाता है। गीता के ११वें अध्याय के ३५, ३७, ३९ और ४४ चार श्लोकों में यह छन्द प्रयुक्त हुआ है ॥

गीता के पहले छः अध्याय श्री गणेश जी का रूप हैं। दूसरा षटक भगवती महामाई पार्वती का रूप माना जाता है। और अन्तिम षटक श्रीकार्तिकेय का रूप समझा जाता है। महात्म पढ़ने से श्री शंकर के ध्यान का फल होता है।

अंगन्यास का अभिप्राय

अंगन्यास करते समय हम अपने जिस अंग का स्पर्श करते हैं उसे भगवान् कृष्ण का अंग समझकर ही नमस्कार करते हैं और साथ में पढ़े जा रहे मन्त्र (श्लोक) से मन्त्रोक्त दिव्य गुणों का आरोप उस अंग में करते हैं।

अच्छा तो यह है कि स्नान करते समय हम अपने शरीर में रम रहे प्रभु का ही स्नान कराया करें। नवीन वस्त्र सदा उसी के शरीर पर धारण कराया करें। भोजन करते समय भी उसी को भोग लगता जानें। "भीतर बाहर एको जानो, यह गुरु ज्ञान बताई" का जप और मनन नित्य करते रहें। सदा सर्वत्र उसी के ध्यान में लीन रहते हुए निष्काम भाव से कर्म करते रहें। शरीर को केवल मिट्टी, जल, वायु, अग्नि और आकाश का संघात मात्र समझते रहें जिसमें शुद्ध ब्रह्म का निवास और प्रकाश अनुभव करें।

जिस प्रकार कुछ जीव जल में रहते हैं और कुछ वायुमण्डल में रहते हैं उसी प्रकार सब कुछ प्रभु के भीतर है और प्रभु उस सबके बाहर भीतर एकरस रम रहा है। प्रश्न उठता है कि इस ब्रह्माण्ड का आदि अन्त कहाँ हैं? उत्तर यह है कि असीम और अनादि प्रभु के बिना और कुछ है ही नहीं। जो वस्तु वास्तव में है ही नहीं उसकी सीमा के बारे में सोचना ही व्यर्थ है। तो फिर यह सब कुछ हमारे अपने सहित दिखाई क्या देता है? और क्यों देता है? असल बात यह है कि एक बार असीम प्रभु को स्फुरण हुआ "एकोऽहं बहु स्याम्"। उसी समय यह सब रचना रचित हो गई। उस असीम ने अनेक रूपों वाली अपनी रचना में क्रीड़ा करना प्रारम्भ कर दिया। इसलिये उसके बिना वास्तव में और कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि हम अपने सब अंगों को उसी के अंग समझकर अङ्गन्यास क्रिया द्वारा नमस्कार करते हैं। जब

उस असीम की क्रीड़ा करने की इच्छा निःशेष हो जाती है, तब यह रचना भी लुप्त हो जाती है जिस प्रकार किसी प्रकाशक के लुप्त होने पर सारा प्रकाश भी उसी में समाकर लुप्त हो जाता है। वह उस असीम की निद्रा कही जा सकती है। इसलिये हम उसी का ध्यान करते हैं और उसी के गुण गाते हैं।

मूर्ख मनुष्य पुत्र कलत्रादि के मोह में फँसे रहते हैं और घोर पाप-कर्मों द्वारा धन-दौलत उपार्जन करते हैं। परन्तु जब मृत्युवश हो जाते हैं तो केवल पाप के गट्ठर ही संग ले जाते है; बाकी पाप से कमाया हुआ सब कुछ यहीं पड़ा रह जाता है।

सारी सृष्टि के जीव प्रभु के अंश रूप हैं क्योंकि महद्ब्रह्म मायारूपी योनि में उसी के द्वारा बीज डालने से उत्पन्न हुए हैं, इस बात को अच्छी तरह समझकर धर्मपूर्वक असीम प्रभु के जीव शिशुओं का पालन-पोषण करो। व्यर्थ का रोना-धोना, चिन्ता-शोक करना, पाप-महापाप रत होना तथा मोह-माया ग्रस्त होना त्याग दो क्योंकि यह सब केवल दुःख के ही कारण होते हैं॥

क्योंकि कहा भी है—

"यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ !।
समदुःखसुखं धीरं, सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गी० २।१५।।)

यह सब कुछ नाशवान् है—

"अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्॥"

(गी० २।१७।।)

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः शंसन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

अर्थात् जिस असीम प्रभु के गुणों की, ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, शिव और वायु आदि, अनेक देवता अलौकिक स्तोत्रों से सदा स्तुति (और प्रार्थना) करते हैं। साम-गायन करने वाले महर्षि तथा महामुनि, सम्पूर्ण अंगों सहित वेदमन्त्रों

तथा उपनिषदों द्वारा जिस अनादि परमेश्वर का गुणानुवाद गायन करते हैं; योगी-जन ध्यान में स्थित हुए मन से निज हृदय में स्थित जिस महान् जगदीश को देखते हैं, जिस सर्व-व्यापक भगवान् के अन्त (रहस्य) को सुर और असुर थोड़ा भी नहीं जानते हैं उस परब्रह्म परमेश्वर के लिये हमारी नमस्कार हो ॥

हे भक्तजनो ! तुम भी अंगन्यास के द्वारा उसका ध्यान करो और उसको नमस्कार करो।

गीता सम्बन्धी कुछ कुतर्कों के उत्तर

तर्क (१)—कुछ लोग कहते हैं कि गीता के पहले अध्याय का ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिये उसे गीता में सम्मिलित करना उचित नहीं था। इसी कारण से सम्भवतः श्री शंकराचार्य ने इस अध्याय की टीका नहीं की।

उत्तर—यदि पहला अध्याय न होता तो गीताशास्त्र को भगवान् वर्णन ही क्यों करते। पहले अध्याय में भगवान् ने भीष्म, द्रोण आदि अर्जुन के पूज्य, गुरु और अपने वंश के लोग दिखाते हुए उसे कहा था कि हे पार्थ ! तू लड़ने के लिये स्थित हुए इन कुरु-वंशियों को देख। जब अर्जुन ने उनको देखा तो उसके मन में उनकी मृत्यु की सम्भावना से शोक और मोह उत्पन्न हुए जिसके निवारण के लिये भगवान् ने सारी गीता को कहा। फिर इस अध्याय के श्लोक ३१ से श्लोक ४४ तक अर्जुन ने मोहवश होकर जो-जो बातें कही थीं, भगवान् ने उनका उत्तर दूसरे अध्याय के श्लोक ३१ से ३६ तक दिया है। इससे मालूम होता है कि गीता का पहला अध्याय गीता में अवश्य होना चाहिए था। याद रहे गीता के ये अठारह अध्याय, महाभारत के भीष्मपर्व से लिये गये हैं और गीता का पहला अध्याय उस पर्व का २५वां अध्याय है और क्रमशः सारी गीता उसके अध्याय ४२ तक वर्णित है॥

तर्क (२)—कुछ लोग कहते हैं कि जब युद्ध की सारी तैयारी हो चुकी और दोनों ओर के शंख और नगाड़े बज गए तो फिर गीता सुनाने और सुनने का श्रीकृष्ण और अर्जुन के पास समय ही कहाँ था ? अथवा भगवान् ने अल्प काल में ही थोड़ी सी बातें कह दी होंगी।

परन्तु ऐसी बात नहीं है क्योंकि शंख और नगाड़े बजने के बाद भी छः-सात घण्टे दोनों ओर कुछ और भी सोच-विचार होती रही। गीता को धैर्य से सुनाए जाने के बाद युधिष्ठिर आदि पांडव लोग भीष्म, द्रोण आदि के पास

गये, उन सबके चरण छूए और उनसे नम्रतापूर्वक युद्ध करने की आज्ञा और अपनी विजय के लिए आशीर्वाद प्राप्त किया। अपनी सेना में लौटने से पहले यह घोषणा भी की कि कौरवों की सेना का कोई वीर यदि हमारी ओर आना चाहता है तो आ सकता है। यह सुनकर 'युयुत्सु' डंका बजाता हुआ पाण्डवों के पक्ष में आ गया। इस प्रकार यह भीष्मपर्व अध्याय ४३ श्लोक ६४ से १०० तक में वर्णित किया गया है। तदनन्तर पांडव अपनी सेना में लौट आये जो मैदान के पश्चिम में स्थित थी जिसका मुख यमुना और गंगा की ओर पूर्व को था। तब कहीं जाकर युद्ध का होना प्रारम्भ हुआ। इसलिये वहाँ गीता सुनाने में समय की कोई कमी नहीं थी।

तर्क (३)—कुछ लोग भगवान् पर दोष लगाते हैं कि उन्होंने अर्जुन को गीता सुनाकर ही महाभारत का युद्ध करवाया जिससे भारत का सर्वनाश हो गया और संसार की उन्नति रुक गई।

परन्तु भगवान् पर यह दोष लगाना निर्मूल है और लगाने वाले की अल्पज्ञता का सूचक है क्योंकि भगवान् ने तो बार-बार प्रयत्न किया था कि युद्ध न हो और इसी हेतु से कौरवों की सभा में भी गये थे परन्तु युद्ध रोकने के उनके और शेष सबके प्रयास विफल हो गये और दोनों पक्षों की सेनाएं युद्ध क्षेत्र में लड़ने के लिए आमने-सामने आकर खड़ी हो गईं। तो क्या एक अर्जुन के न लड़ने से युद्ध रुक सकता था? कदापि नहीं। क्योंकि महाराजा युधिष्ठिर ही अब युद्ध किए बिना न रहते क्योंकि उन्होंने आयु भर माता कुन्ती की आज्ञा का कभी उल्लंघन न किया था। और तो और माता कुन्ती की आज्ञा से द्रौपदी के साथ पाँचों पाण्डवों का विवाह करना भी स्वीकार कर लिया था जो संसार की एक विचित्र बात थी। अब उसी माता कुन्ती की आज्ञा हो जाने पर वे कदापि युद्ध से विमुख न हो सकते थे।

दूसरे भीमसेन युद्ध न करके सबके सम्मुख की हुई अपनी प्रतिज्ञाओं को भंग कैसे कर सकते थे? उसकी तीन प्रतिज्ञाएं थीं—

१—द्रौपदी को बालों से खींचकर सभा में लाने और सबके सामने नग्न करने के प्रयास के बदले में युद्धभूमि में दुःशासन की फटी हुई छाती से निकलता हुआ रुधिर पान करना।

२—दुर्योधन की उस रान (उरु) को गदा से चूर्ण करना, जिस पर वह द्रौपदी को नग्नावस्था में भरी सभा के सामने बिठलाना चाहता था।

३—उन कौरवों को पांवों तले रौंदना, जो द्रौपदी-चीर-हरण के समय पाण्डवों की दुर्दशा को देखकर हँस रहे थे।

वेणीसंहार नाटक में वर्णित भीम के मुख से उसकी प्रतिज्ञाओं को सुनिए—

"मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरःस्थः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥

महाभारत में भी भीमसेन ने कहा है—

"युद्धार्हान् क्षत्रियान् सर्वान् पाण्डवेष्वाततायिनः।
अधः पादतलेनैतानधिष्ठास्यामि भूतले॥

फिर अर्जुन भी तो कोई युद्ध-भीरु और डरपोक नहीं था जो युद्ध से कन्नी कतरा रहा हो। वह तो उस समय केवल धर्म-भीरु और आर्द्रचित्त ही बना हुआ था। वह युद्ध से तो डरता ही न था, केवल कुल-क्षय के पाप से ही डरता था। इससे यह भली-भाँति सिद्ध होता है कि भगवान् ने अर्जुन को युद्ध में लड़ाने के लिए गीता का उपदेश नहीं किया था बल्कि उसको धर्म-अधर्म और पाप-पुण्य आदि का निर्णय कराने के लिये यह उपदेश किया था। अर्जुन ने स्वयं भगवान् से कहा था—

"तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥" (गी० ३।२)
"यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥" (गी० ५।१)
"यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे॥" (गी० २।७॥)

इत्यादि कथनों के उत्तर में भगवान् ने अर्जुन को उसके भले के लिये अनेक प्रकार के उपदेश किए जो सारे मनुष्यों के लिये कल्याणकारी और मोक्ष के दिलाने वाले हैं। तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान् ने अर्जुन को गीता का उपदेश करके महाभारत या भारत का अनर्थकारी युद्ध करवाया था। प्रभु-सृष्टि का यह एक अटल नियम है कि जब इसमें उन्नति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो ऐसे सर्वविनाशकारी युद्ध हुआ ही करते हैं। वर्तमान काल में भी महाभारत के युद्ध के पूर्व जैसी स्थिति इस संसार की बनती जा रही है जिससे एक महाविश्वयुद्ध की सम्भावना प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। यद्यपि इस समय वे बुद्धिमान् प्रत्येक देश में विद्यमान हैं जो इस संभावित महाविश्वयुद्ध को रोके हुए हैं परन्तु संसार में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो अपने कुकृत्यों से संसार को भस्मीभूत कर देना चाहते हैं। उन्होंने अपनी

ओर से अब तक कोई ढील नहीं की है। कभी संसार को इधर से आग लगा देते हैं कभी उधर से आग लगा देते हैं। एक आग अभी बुझती नहीं है कि दूसरी ओर भड़का देते हैं। ये जंगबाज लोग संसार के बूचड़ हैं जो दूसरों को भस्म कर देना चाहते हैं। परन्तु उन्हें याद रखना चाहिये कि अभी तक तो यह खेल केवल उनका दिलबहलाव और विनोद मात्र ही है। परन्तु उनकी लगाई हुई आग यदि और भड़क उठी तो दूसरों का नाश तो सम्भवतः पूरी तरह से न हो परन्तु इन आततायियों का सर्वनाश अवश्य हो जाएगा। अभी समय है कि ये लोग कौरवों के दुष्परिणाम से शिक्षा ग्रहण करें ताकि पापरूपी विष के प्यालों के भर जाने से पूर्व ही इनका त्राण हो सके, नहीं तो इन जंगबाजों को वे अवश्य ही पीने होंगे॥

तर्क (४)—कुछ लोग कहते हैं कि गीता एकमात्र कर्मयोग की ही शिक्षा देती है और कुछ लोग उनके विपरीत यह कहते हैं कि यह गीता संसार से उपराम होकर संन्यासी हो जाने का ही उपदेश देती है। और कुछ यह कहते हैं कि गीता केवल भक्ति-प्रधान ग्रन्थ है। इत्यादि अनेक मत व्यक्त किए जाते हैं।

असल बात यह है कि ये सब लोग या तो उन अन्धों के समान हैं जिनमें से किसी को तो हाथी की सूंड हाथ में पकड़वाकर दिखलाई गई थी। किसी को पूंछ पकड़वा दी गई थी, किसी के हाथ में कान दे दिया गया था और किसी का जप्फा टांग से डलवा दिया गया था। हाथी के चले जाने पर वे हाथी की आकृति अपने-अपने अनुभवों के अनुसार वर्णन करके जूतों से लड़ रहे थे। अथवा ये लोग अपने-अपने मतों के पक्षपात से आंखों के होने पर भी जान-बूझ कर अन्धे बने रहना चाहते हैं। वास्तव में तो बात यह है कि गीता उन सब मार्गों को वर्णन करती है जो संसार में सुख और शान्ति देने वाले हैं और अन्त में मोक्ष दिला देते हैं। गीता पढ़ने से संसार में भली-भाँति रहना आ जाता है और परमात्मा से मिलाप हो जाता है। इसलिये यह महाविज्ञान है। ब्रह्म-विद्या है। जिस प्रकार श्री गंगा जी का जल अत्यन्त पवित्र और अमृत-तुल्य है उसी प्रकार गीता की वाणी परम पवित्र और अमृत के समान है। इसमें कर्मयोग, कर्मसंन्यासयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग आदि सोने के ताज में लगे हुए अनर्घ्य हीरों की तरह स्व-स्व स्थान पर जड़े हुए महती शोभा को प्राप्त हो रहे हैं॥

तर्क (५)—कुछ लोगों का कथन है कि अर्जुन तो भगवान् का अन्तरंग सखा था। हरदम उनके संग रहता था, भगवान् ने पहले ही शान्ति के किसी काल में सारी गीता क्यों न सुना दी जो युद्धकाल में ही नाक पर दिया जलाया गया।

इसका उत्तर यह है कि भगवान् ने इससे पूर्व अर्जुन को कभी इतना मोहग्रस्त और शोकातुर नहीं देखा था। जब उस अर्जुन को मोह और शोक ने घेरकर किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया तब ही उसके कल्याण के लिये भगवान् ने गीता सुना दी। किसी पुरुष को उसी समय दवाई दी जाती है जब वह रोगग्रस्त है। रोग के नाश के लिए टीका भी दिया जाता है और शल्य चिकित्सा अर्थात् शरीर की चीर-फाड़ भी की जाती है। जो अंग गलता जा रहा हो उसे शरीर से काटकर अलग भी कर दिया जाता है। आंखों से मोतियाबिन्द काटा जाता है। कुक्करे छीलकर दूर किये जाते हैं। हरकाए हुए कुत्ते को मारा भी जाता है। क्या कोई समझदार पुरुष इनके लिये किसी विशेष समय की प्रतीक्षा करता है अथवा आवश्यकता के बिना भी ये सब काम किये जाते हैं, क्या कोई किसी की टांग इसलिए भी काट सकता है कि यह कभी न कभी गल सकती है इसलिए इसे अभी शान्ति की अवस्था में काट डालना चाहिए। इसलिए भगवान् ने भी युद्ध के समय पर ही अर्जुन का विषाद दूर करने के लिए गीता सुना दी थी और उससे पूर्व आवश्यकता न होने से न सुनाई। सब बातें आवश्यकता के अनुसार ही की जाती हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि "आवश्यकता आविष्कार की जननी है।"

संस्कृत और उसका व्याकरण

"मुखं व्याकरणं प्रोक्तम्"। वेद के छः अङ्ग माने जाते हैं—१-शिक्षा, २-कल्प, ३-व्याकरण, ४-निरुक्त, ५-छन्द और ६-ज्योतिष ॥ इनमें से व्याकरण को मुख कहा गया है। जिस प्रकार सारा भोजन मुख द्वारा ही खाया जाता है परन्तु उससे पुष्ट सारे अङ्ग होते हैं इसी प्रकार व्याकरण के ज्ञान से ही वाणी का विकास होता है और सम्पूर्ण विद्याएँ जानी जाती हैं। सब विद्याओं के भण्डार रूप ग्रन्थों के ताले (क़ुफल) व्याकरणरूपी चाबी से ही खुलते हैं। इसलिये गीता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी व्याकरण का जानना जरूरी है। वेद की भाँति गीता भी स्वयं भगवान् द्वारा कही गई है। इसलिये वेद और गीता का कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार वेद का मुख व्याकरण है, उसी प्रकार गीता का भी मुख व्याकरण है। बिना मुख के देखे किसी की ठीक पहचान नहीं हो सकती। इस उद्देश्य और भावना को लक्ष्य करके व्याकरण सम्बन्धी यह अध्याय लिखा जा रहा है।

सबसे पहले इन्द्र ने व्याकरण की रचना की थी। जैसा कि तैत्तिरीय संहिता में लिखा है—

"वाग् वै पराच्य व्याकृताऽवदत् । ते देवा
इन्द्रमब्रुवन्—इमां नो वाचं व्याकुर्विति ।
—तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् ।"
(तै० सं० ६।४।७)

कहते हैं कि पाणिनि से पहले ८० व्याकरणवक्ता हो चुके थे । पाणिनि ने स्वयं भी अपने बनाए हुए व्याकरण अष्टाध्यायी में दस पूर्वाचार्यों का स्मरण किया है जिनके नाम इस प्रकार हैं—

आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चक्रवर्मन, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन ।

इन्द्र के बाद उत्तरोत्तर व्याकरणों की रचना होने लगी थी । भागुरि, गालव, व्याघ्रपाद नौकायन आदि ऋषियों ने व्याकरण का सूत्रपात किया था । फिर कालक्रम से शाकटायन, मासक, व्याडि आदि उसके अङ्ग पूर्ण करते रहे । उसी काल में सूत्रों की रचना होने लगी थी । सूत्र में छोटे से वाक्यखण्ड में बहुत से अर्थ का समावेश होता है जिसका स्मरण कर लेना सहज होता है ।

इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, पङ्गु, कृष्ण, आपिशलि आदि ऋषियों ने सूत्रों में अपने-अपने व्याकरणों की रचना की थी । परन्तु इन सबसे विद्वानों की तृषा शान्त न हुई ।

तदनन्तर महर्षि पाणिनि का जन्म हुआ, जिसका सत्कार करने के लिए इस तरह कहा गया है—

"येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

बृहत्कथा में लिखा है कि जब पाणिनि को व्याकरण बनाने की इच्छा हुई तो वे महादेव की आराधना करने लगे । तपस्या पूर्ण होने पर आशुतोष भगवान् शंकर नटराज रूप में प्रकट हुए। उस समय उनके दक्षिण कर में डगा और वाम कर में एक डमरू था । तब उन्होंने चौदह बार उस डमरू पर चोट लगाई । पाणिनि ने साथ-साथ प्रत्येक चोट के अव्यक्त शब्दों को अपनी कापी पर नोट कर लिया । तदनन्तर भगवान् शंकर लोप हो गये । उन अव्यक्त शब्दों के चौदह सूत्र बन गए जिनसे तैंतालीस प्रत्याहार निकले जो पाणिनि व्याकरण की आधारशिला बन गए ॥

फिर कात्यायन ऋषि ने अष्टाध्यायी व्याकरण पर वार्तिक लिखे। तदनन्तर महर्षि पतञ्जलि ने इसका भाष्य लिखा। इस प्रकार इन तीन ऋषियों के प्रयास से व्याकरणों का शिरोमणि यह ग्रन्थ पूर्ण रूप को प्राप्त हो गया। तदनन्तर आज तक संस्कृत के जितने व्याकरणों की रचना हुई है उन सबका आधारभूत यह अष्टाध्यायी व्याकरण ही है।

धातुएँ

संस्कृत में क्रिया के मूलरूप का नाम 'धातु' है। ये सब धातुएँ दस गणों के रूप में लिखी गई हैं। प्रत्येक गण का नाम उसकी पहली धातु के नाम पर रखा गया है। जैसे—

१—भ्वादिगण की पहली धातु √ भू (होना) है।
२—अदादिगण की पहली धातु √ अद् (खाना) है।
३—जुहोत्यादिगण की पहली धातु √ हु (हवन करना) है।
४—दिवादिगण की पहली धातु √ दिव् (चमकना) है।
५—स्वादिगण की पहली धातु √ सु (रस या अर्क निकालना) है।
६—तुदादिगण की पहली धातु √ तुद् (दुःख देना) है।
७—रुधादिगण की पहली धातु √ रुध् (रोकना) है।
८—तनादिगण की पहली धातु √ तन् (फैलना) है।
९—क्र्यादिगण की पहली धातु √ क्री (खरीदना) है।
१०—चुरादिगण की पहली धातु √ चुर् (चुराना) है।

व्याख्या

१—√ भू—होना या उत्पन्न होना। शिशु उत्पन्न होता है, तो २—√ अद् (खाना) वह मुँह मारता है, स्तन से दूध चूसता है अथवा बोतल का दूध पीता है। फिर अनेक प्रकार के भोजन खाता है और बढ़ता है। ३—√ हु (हवन करना) बच्चे के अनेक संस्कार किए जाते हैं तथा मरण तक सोलह संस्कार हुआ करते हैं जिनमें हवन और यज्ञ आवश्यक होते हैं। इन यज्ञहवनादि शुभ कर्मों के करने से मनुष्य ४—√ दिव् (चमकना) खूब चमक उठता है। यज्ञोपवीत धारण करता है, विद्याभ्यास से उन्नति के शिखर

पर चढ़कर टैगोर, गांधी, जवाहर तथा तिलक आदि बन जाता है। यदि बालक में अच्छे संस्कार न डाले जायें तो √दिव् धातु विपरीत अर्थ को प्राप्त हो जाती है जैसा कि द्यूतक्रीड़ा, हँसी-मज़ाक में समय गँवाना, ताश खेलना, निकम्मे कामों में धन को व्यय करना, पागल होना, सदा बुरी-भली अभिलाषाओं को करते रहना, इत्यादि कर्मों और व्यसनों में फँसे रहकर फिर पुरुष अधोगति को प्राप्त हो जाता है। ५—√सु (रस निकालना, तत्त्व को जानना) फिर चमका हुआ व्यक्ति परिश्रम करके अपनी देह का पसीना निकालता है, कला-कौशल में प्रवीण बनता है, भगवान् सम्बन्धी तत्त्व की खोज करता है तथा ध्यान-मग्न होता है। ६—√तुद् (दुःख देना) भले और सत्पुरुष तो सदा अपनी देह को ही पीड़ा देते हैं। वे शुभ और नित्य, नैमित्तिक तथा कर्त्तव्य कर्मों को करने के लिए निरन्तर ऐसा करते रहते हैं और तपस्या करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। ७—√रुध् (रोकना)—अपने तन, मन और धनादि पर नियन्त्रण करना उन्नति और कल्याण का कारण होता है। ८—√तन् (फैलना) जिस वस्तु को रोककर रखा जाय वह समय पाकर फैलती है। सब प्रकार की गैसों का भी यही स्वभाव है। बारूद को खुला रखकर आग लगा देने से वह शुर्रर करके जल जाता है। परन्तु यदि किसी डिब्बे या पीतल के खोल में बन्द कर दिया जाए तो वह बम बन जाता है और फिर आग लगने से धमाके के साथ फटता है और अनर्थकारी सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रत्येक रोकी हुई वस्तु और प्रत्येक रोका हुआ जीव समय पाकर अवश्य फैलता है। उस अवस्था में लाभकारी भी सिद्ध हो सकता है और हानिकर भी बन सकता है। ९—√क्री (खरीदना) यदि किसी वस्तु को खरीदकर जमा ही करते जायें उसको बेचने या बाँटने का नाम ही न लें, तो १०—√चुर् (चुराना) वहाँ दूसरों द्वारा चुरा ली जाएगी अथवा बलपूर्वक छीन ली जाएगी॥

इस प्रकार इन दसों गणों का नाम रखने वाली धातुएं हमें शिक्षा देती हैं।

पद्

ये सब धातुएं तीन प्रकार की होती हैं—

१—परस्मैपदी।

२—आत्मनेपदी।

३—उभयपदी।

वचन

संस्कृत में वचन तीन होते हैं—

१—एकवचन ।

२—द्विवचन ।

३—बहुवचन ।

पुरुष

पुरुष भी तीन होते हैं—

१—प्रथम पुरुष ।

२—मध्यम पुरुष ।

३—उत्तम पुरुष ।

लकार

संस्कृत में लकार दस होते हैं—

१—लट्—वर्तमान काल ।

२—लिट्—परोक्ष भूत ।

३—लुट्—अनद्यतन भविष्यत—आने वाला दूर का समय—आज की रात के १२ बजे से बाद का समय ।

४—लृट्—सामान्य भविष्यत् ।

५—लेट्—इसके रूप लट् के समान ही होते हैं परन्तु अर्थ उससे भिन्न होता है अर्थात् 'लेट्' लङ्लकार के अर्थ में होता है परन्तु यह लकार केवल वेदमन्त्रों में ही प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग लौकिक संस्कृत में कहीं नहीं होता। यथा—"विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन", यहाँ "विविदिषन्ति" रूप लेट्लकार में है ।

६—लोट्—आज्ञा आदि में ।

७—लङ्—सामान्य भूत ।

८—लिङ्— { (क) विधिलिङ्—विधि, आज्ञा आदि में । (ख) आशीर्लिङ्—आशीर्वाद के अर्थ में ।

९—लुङ्—अनद्यतन भूत—दूर का भूत । बीती रात के १२ बजे से पहले का भूतकाल ।

१०—लृङ्—(लङ्वत्—मध्य में 'ष्य') क्रियातिपत्ति (शर्त) के अर्थ में।

सब लकारों के प्रत्यय धातुओं के अन्त में लगाए जाते हैं जिससे वे सब धातुएँ क्रियाएँ बन जाती हैं। जिस प्रकार दो वस्तुओं को जोड़ने के लिए गोंद, लेई, सरेस या किसी अन्य प्रकार का पदार्थ बीच में लगाया जाता है इसी प्रकार धातुओं और प्रत्यय के मध्य जोड़ लगाने के लिए विकरण लगाए जाते हैं जो हर एक गण के लिए पृथक्-पृथक् होते हैं ॥ जो इस प्रकार हैं—

१—भ्वा० = अ	२—अदा० = ×	३—जुहो० = ×
४—दिवा० = य	५—स्वा० = नु	६—तुदा० = अ
७—रुधा० = न	८—तना० = उ	६—क्र्या० = ना

और १०—चुरा० = अय

आत्मनेपद और परस्मैपद के नाम रखने का कारण

प्राचीन काल में कर्ता अपने लिये प्रयुक्त की गई क्रिया को शब्दों से व्यक्त करने के लिए धातु से आगे सम्भवतः आत्मनेपद प्रत्ययों का प्रयोग करता होगा और दूसरे के लिए प्रयुक्त की गई क्रिया के आगे परस्मैपद प्रत्ययों का प्रयोग होता होगा। परन्तु धीरे-धीरे समय पाकर क्रिया के विषय में अपने पराये का यह भेद विलुप्त हो गया और प्रत्येक धातु के साथ प्रयुक्त किए हुए प्रत्यय पूर्ववत् बने रहे जिससे आत्मनेपदी, परस्मैपदी और उभयपदी धातुएँ पूर्ववत् ही बनी रहीं और सब विद्वानों को मान्य हुईं ॥ जहाँ उभयपदी धातुओं में आत्मनेपद होता है वहाँ क्रिया का फल कर्ता को मिलता है। इससे वहाँ आत्म-प्रशंसा नहीं मानी जाती ॥

प्रत्येक लकार में तीनों वचनों और तीनों लिंगों के अनुसार ६ प्रत्यय आत्मनेपद के और ६ प्रत्यय परस्मैपद के होते हैं। परन्तु क्रियापदों में स्त्रीलिङ्ग, पुंल्लिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग का कोई भेद नहीं होता है जैसा कि हिन्दी में होता है ॥

संज्ञा-शब्द

पुरुषों, पशुओं, पक्षियों, नगरों, नगों, नदियों आदियों के सब प्रकार के नाम 'संज्ञा' शब्द कहलाते हैं। मैं, तू, वह आदि जो सबके नाम होते हैं 'सर्वनाम'

होते हैं। इसी प्रकार जो दूसरों की विशेषता प्रकट करते हैं वे शब्द विशेषण कहलाते हैं तथा जिन शब्दों से गणना की जाती है उन्हें संख्यावाचक शब्द कहा जाता है।

ये चारों प्रकार के शब्द परस्पर सम्बन्ध रखते हैं और इन सबमें विभक्तियों के चिह्न या प्रत्यय लगाए जाते हैं।

कारक और विभक्तियाँ

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण, ये सात कारक होते हैं और आठवाँ सम्बोधन होता है। कर्ता को प्रथमा विभक्ति कहते हैं इसी प्रकार शेष कारकों की क्रमशः द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं और आठवाँ सम्बोधन होता है। तीनों वचनों में इन सब विभक्तियों के २४ प्रत्यय पुंल्लिङ्ग के, २४ प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग के और २४ प्रत्यय नपुंसकलिङ्ग के होते हैं। इस प्रकार जो संज्ञा शब्द तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं उनके ७२ रूप बन जाते हैं। संज्ञाएँ छः प्रकार की होती हैं—

१—अजन्त पुंल्लिङ्ग, २—अजन्त स्त्रीलिङ्ग, ३—अजन्त नपुंसकलिङ्ग, ४—हलन्त पुंल्लिङ्ग, ५—हलन्त स्त्रीलिङ्ग और ६—हलन्त नपुंसकलिङ्ग।

सन्धि

अत्यन्त समीप आए हुए दो अक्षरों के मिलने से शब्दों में जो परिवर्तन होता है उसे "सन्धि" कहते हैं। मुख्य सन्धि तीन प्रकार की होती है—

१—स्वर सन्धि, २—व्यञ्जन सन्धि और ३—विसर्ग सन्धि ॥

१—स्वर सन्धि

इसमें स्वरों का स्वरों से मेल होता है। यह आठ प्रकार की होती है—

१—दीर्घ सन्धि, २—गुण सन्धि, ३—वृद्धि सन्धि, ४—यण् सन्धि, ५—अयादि सन्धि, ६—पूर्वरूप, ७—पररूप और ८—प्रकृतिभाव ॥

२—व्यञ्जन सन्धि

जब अतिशय समीपवर्ती व्यञ्जनों में विकार होता है तो उसे **'व्यञ्जन सन्धि'** कहते हैं। शेष दोनों सन्धियों से इसके नियम बहुत अधिक हैं।

३—विसर्ग सन्धि

जब किसी विशेष वर्ण के निकटतम होने से विसर्ग में विकार उत्पन्न होता है तो उसे विसर्ग सन्धि कहते हैं।

'न' को 'ण' हो जाना

१—एकपद में यदि ऋ, ॠ, र् और ष् से परे 'न' हो तो उसके स्थान पर 'ण' हो जाता है।

२—स्वर, कवर्ग, पवर्ग, य्, व्, ह् और अनुस्वार मध्य में हों तो भी ऋ, ॠ, र् और ष् से परे के 'न' को 'ण्' हो जाता है।

३—ऊपर के दोनों नियमों के लागू होने पर भी पदान्त 'न' को 'ण्' कभी नहीं होता।

'स्' का 'ष्' में बदल जाना

१—अ, आ से बिना किसी भी स्वर से परे एकपद में 'स' को 'ष' हो जाता है।

२—एकपद में क्, र् से परे भी 'स्' को 'ष्' हो जाता है।

३—ऊपर के दोनों नियमों के विद्यमान होने पर यदि मध्य में अनुस्वार या विसर्ग हों तो भी 'स्' को 'ष्' हो जाता है।

४—सु, वि, निर् और दुर् के परे सम के स् को ष् हो जाता है।

५—युधि पद से परे स्थिर का 'स्' भी 'ष्' में बदल जाता है।

६—समास में मातृ+स्वसा का मातृष्वसा और पितृ+स्वसा का पितृष्वसा हो जाता है।

समास

बीच की विभक्तियों का लोप होकर, परस्पर सम्बन्ध रखने वाले दो या दो से अधिक सुबन्त पदों का एकपद हो जाना समास होना कहलाता है और यह बना हुआ पद समस्तपद कहलाता है।

जब समस्तपद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये उसके प्रत्येक शब्द के साथ लुप्त हुई विभक्ति पुनः लगा दी जाती है तो वह उस समस्तपद का विग्रह कहलाता है।

समास के भेद

समास मूलतः तो चार ही प्रकार का होता है—

१—प्रथम शब्द प्रधान—अव्ययीभाव। इसमें पहला शब्द जो किसी प्रकार का अव्यय होता है वह अपने से जुड़े हुए शब्द को भी अव्यय ही बना देता है जिससे वह फिर रूप बदलने से रहित हो जाता है।

२—द्वितीय शब्द प्रधान—तत्पुरुष ।
३—दोनों या सारे शब्द (अंग) प्रधान—द्वन्द्व । [द्वन्द्वः सामासिकस्य च =समास-समूह में द्वन्द्व नामक समास मैं हूँ ॥ (गी० १०।३३ ॥)]
४—जिसमें कोई भी शब्द प्रधान नहीं होता—"बहुव्रीहि" ।

तत्पुरुष समास के भेद

तत्पुरुष के १२ भेद हैं
१—द्वितीया तत्पुरुष, २—तृतीया तत्पुरुष, ३—चतुर्थी तत्पुरुष, ४—पंचमी तत्पुरुष, ५—षष्ठी तत्पुरुष, ६—सप्तमी तत्पुरुष, ७—अलुक् तत्पुरुष, ८—प्रादि तत्पुरुष, ९—नञ् तत्पुरुष, १०—उपपद तत्पुरुष, ११—कर्मधारय और १२—द्विगु ॥

द्वन्द्व समास के भेद

१—इतरेतर, २—समाहार और ३—एकशेष
नोट—नञ् समास बहुव्रीहि में भी होता है ।

प्रेरणार्थक (णिजन्त) धातुएँ

१—कर्ता जब किसी काम को स्वयं न करके किसी अन्य से करवाता है तो धातु को णिच् (इ) प्रत्यय लगाया जाता है तब फिर उस धातु को 'णिजन्त' या 'प्रेरणार्थक' धातु कहते हैं ।

२—सब प्रेरणार्थक धातुएँ प्रायः उभयपदी होती हैं और उनके रूप लट्, लोट्, लुङ्, विधिलिङ् और लृट् इन पाँचों लकारों में भ्वादिगण की धातुओं के समान होते हैं और देखने में चुरादिगण के रूप मालूम होते हैं । जैसे अध्यापयति-ते । कारयति-ते । क्रीडयति-ते । गमयति-ते । जागरयति-ते । ध्याययति-ते । पाठयति-ते । पूजयति-ते । रमयति-ते । रक्षयति-ते । इत्यादि ।

सन्नन्त धातुएँ

जब कर्ता किसी काम के करने की स्वयं इच्छा करता है तो उस क्रिया को बताने वाली धातु से 'सन्' प्रत्यय किया जाता है तब अर्थ "चाहता है ।" हो जाता है ॥ जैसे—चिकीर्षति-ते (करना चाहता है) । जिगीषति (जीतना चाहता है) । पिपासति (पीना चाहता है) । √युध्+सन्+उ=युयुत्सु+(पुं०) प्र० ब० व०=युयुत्सवः (=युद्ध करने की इच्छा वाले) ।

यङ्ङन्त धातुएँ

जब कोई कार्य बार-बार किया जाता है, बार-बार होता है अथवा अत्यधिक होता है तो इस अर्थ को प्रकट करने के लिये धातु को 'यङ्' प्रत्यय लगाया जाता है और यङ्ङन्त धातु से प्राय: आत्मनेपद प्रत्यय किये जाते हैं तथा यङ् प्रत्यय एकाच हलादि धातु को ही होते हैं। यथा—जेजीयते (बार-बार जीतता है)। देदीयते (बार-बार देता है)। दन्दह्यते (बार-बार जलाता है)। चेक्रीयते (बार-बार करता है)। दरीदृश्यते (बार-बार देखता है)। नरीनृत्यते (बार-बार नाचता है)। पापठ्यते (बार-बार पढ़ता है)। रोरुद्यते (बार-बार रोता है या अत्यन्त रोता है)।

नाम-धातु

१—संज्ञा शब्दों से आगे भिन्न-भिन्न अर्थों में 'काम्यच्' क्यच्, क्यङ्, णिच् और क्विप् प्रत्यय जोड़ने से जो धातु बनती है उसको **"नाम-धातु"** कहते हैं।

२—नामधातुओं के रूप भ्वादिगण की धातुओं के समान होते हैं।

३—"अपने लिये चाहता है" इस अर्थ में "काम्यच्" प्रत्यय होता है जैसे —पुत्रकाम्यति।
इसी अर्थ में क्यच् प्रत्यय भी होता है यथा पुत्रीयति (पुत्र चाहता है)।

४—'करना' या 'बनाना' अर्थ में—वैर, कलह, अभ्र, कण्व, मेघ, सुदिन, दुर्दिन शब्दों से 'क्यङ्' प्रत्यय होता है। जैसे—वैरायते (वैर करता है)। कलहायते। कण्वायते (पाप करता है)। मेघायते। सुदिनायते (शुभ दिन करता है)। दुर्दिनायते।

५—उपमानवाची शब्दों में 'क्विप्' होता है। यथा—हरिणायते (हरिणी की तरह आचरण करती है)। युवायते (युवति की तरह आचरण करती है)।

६—'करण' अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय होता है यथा—सपत्नीयते (सौत के समान आचरण करती है)। विपाश्यति-ते (पाश को छोड़ता है)।

७—काम्यच्, क्यच् और क्विप् युक्त नाम-धातुएँ परस्मैपद होती हैं। क्यङ् प्रत्यय से बनी हुई नाम-धातुएँ आत्मनेपदी होती हैं और णिजन्त नाम-धातुएँ उभयपदी होती हैं॥

वाच्य

संस्कृत में वाच्य तीन होते हैं :—

१—कर्तृ-वाच्य ।

२—कर्म-वाच्य ।

३—भाव-वाच्य ।

अव्यय

जिन शब्दों के रूप तीनों वचनों में, तीनों लिङ्गों में और सब विभक्तियों में एक समान बने रहते हैं उन सब शब्दों को अव्यय कहते हैं ।

तद्धित प्रत्यय

प्रत्ययरहित संज्ञा, विशेषण आदि शब्दों को "प्रातिपदिक" कहते हैं । इन प्रातिपदिकों में जिन प्रत्ययों के लगाने से विशेष प्रातिपदिक बन जाते हैं, उन प्रत्ययों को **'तद्धित-प्रत्यय'** कहते हैं । वैसे तो तद्धित प्रत्यय अनेक हैं परन्तु यहाँ बहुत प्रसिद्ध प्रत्ययों का ही उल्लेख किया जाएगा ।

१—अपत्यार्थ—

अण्—वासुदेवः, दानवः, पार्वती, जानकी, द्रौपदी, पाण्डवः ।

इञ्—मारुतिः । दाक्षिः ।

ढक्—कौन्तेयः । गाङ्गेयः ।

गोत्रापत्यार्थक—मानवः ।

सम्बन्धार्थक—(अण्) दैवम् । भैक्षम् ।

तत्र भवार्थम्—(अण्) नैशं (तमः) ।

विकारार्थक—(अण्) शार्करम् । मार्दः (घटः) ।

समूहार्थक (अण्)—काकम् । मायूरम् ।

भावार्थ (अण्)—कौमारम् । यौवनम् ।

२—सम्बन्धार्थक—छ (ईय)

पर्वतीयः । पाणिनीयः । भवदीयः । युष्मदीयः । राजकीयः ।

ख (ईन)

कुलीनः । ग्रामीणः ।

३—'चरति' अर्थ में—'ठ'

धार्मिकः । नाविकः ।

समय अर्थ में—'ठ'
मासिकम् । वार्षिकम् ।
अध्ययन अर्थ में—'ठ'
वैदिकः । श्रौतिकः । पौराणिकः । ऐतिहासिकः ।
अस्ति अर्थ में—'ठ'—आस्तिकः ।

४—सम्बन्ध अर्थ में—'क' त्वत्कः । मत्कः ।
क्षुद्र अर्थ में—'क' पुत्रकः ।

५—भव अर्थ में—'तन'
पुरातनम् । सनातनः । नूतनम् ।
'त्य' दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः ।

६—भव अर्थ में—'य' कण्ठ्यः ।
अर्हति अर्थ में—'य' वध्यः ।
अनपेत अर्थ में—'य' धर्म्यम् ।
भाव अर्थ में—'य' राज्यम् ।

७—भाव अर्थ में—'त्व'
मनुष्यत्वम् । पुरुषत्वम् । मूर्खत्वम् ।

८—भाव अर्थ में—'तल् (ता)'
मनुष्यता । पशुता । मूर्खता ।
समूह अर्थ में—तल (ता)—जनता ।

९—मतुप्—अस्ति या अस्मिन् अर्थ में
रसवत् (रसवान्) । इसी प्रकार रूपवान् । धनवान् । कीर्तिमान् । भास्वान् ।
मतुप् अर्थ वाला 'र'=मधुरः ।
मतुप् अर्थ वाला 'वल'=कृषीवलः । रजस्वलः ।
मतुप् अर्थ वाला 'इन्'=ज्ञानी । दण्डी । रोगी । सुखी । दुःखी । शशी ।
मतुप् अर्थ वाला 'इक'=दण्डिकः ।
मतुप् अर्थ वाला 'इन'=मलिनः ।
मतुप् अर्थ वाला 'विन्'=यशस्वी । मेधावी ।
मतुप् अर्थ में 'आमिन्'=स्वामी ।
मतुप् अर्थ में 'इत'=पिपासितः । पुष्पितः । उत्कण्ठितः । पुलकितः ।

१०—विकार अर्थ में 'मय'=मृण्मयः । हिरण्मयः । लोहमयम् ।
अधिक अर्थ में 'मय'=घृतमयः । वाङ्मयः ।

११—पंचमी विभक्ति के अर्थ में 'तस्' (तः)=ग्रामतः। नगरतः। ततः। यतः। अतः। कुतः। सर्वतः। इतः। अज्ञानतः।

१२—प्रकार अर्थ में—'था'=अन्यथा। यथा। तथा। सर्वथा। उभयथा। इस अर्थ में—'थम्'=कथम्। इत्थम्।

१३—सप्तमी अर्थ में—'त्र'=यत्र, तत्र, सर्वत्र, अन्यत्र, कुत्र, अमुत्र। 'ह'=इह। 'अ' =क्व।

१४—समय अर्थ में—'दा'=कदा। यदा। तदा। सर्वदा। एकदा। अन्यदा।
'अधुन'=अधुना।
'र्हि'—कर्हि। तर्हि।
'धा'—एकधा। पञ्चधा। बहुधा।

१५—इव या प्रकार अर्थ में 'वत्'=चन्द्रवत्। क्षत्रियवत्। विधिवत्।

१६—'तर', 'तम'=मूर्खतरः। मूर्खतमः। महत्तरः। महत्तमः।
'ईयस्', 'इष्ठ'=लघीयान्। लघिष्ठः। भूयस्। भूयिष्ठः। श्रेयस्, श्रेष्ठः।

'कृत्' प्रत्यय और कृदन्त शब्द

धातु से संज्ञावाचक अथवा विशेषण शब्द इत्यादि बनाने के लिये जो प्रत्यय लगाए जाते हैं वे कृत्-प्रत्यय कहलाते हैं और कृत्-प्रत्यय युक्त शब्द कृदन्त कहे जाते हैं। कृत्-प्रत्यय निम्नलिखित हैं :—

१—शतृ और शानच्—ये दोनों प्रत्यय वर्तमान कालक कर्तृ-वाच्य विशेषण होते हैं।

परस्मैपद धातुओं को शतृ और आत्मनेपद धातुओं को शानच् तथा उभय-पदी धातुओं को दोनों प्रत्यय होते हैं। शतृ के स्थान में 'यत्' और शानच् के स्थान में 'आन' अथवा 'मान' होता है। जैसे—शत्रन्त—पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्, प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्, उन्मिषन्, निमिषन्, धारयन् (गीता ५।८, ९।।)।

शानच् प्रत्यन्त—वर्तमानः। म्रियमाणः। लभमानः। वर्धमानः। कम्पमानः। कुर्वाणः। ब्रुवाणः। आसीनः। शयानः। विद्यमानः। भुञ्जानः (इस प्रकार के सब शब्दों का अर्थ 'ता हुआ' होता है)।

२—क्त तथा क्तवतु—ये दोनों प्रत्यय भूतकालिक विशेषण होते हैं। 'क्त' प्रायः कर्म-वाच्य में तथा 'क्तवतु' कर्तृ-वाच्य में होता है। यथा क्तान्त पद—छिन्नः। भिन्नः। खिन्नः। श्रान्तः। भ्रान्तः। शान्तः। मुक्तः। त्यक्तः। पक्वः। इष्टः।

पृष्टः । सृष्टः । शुष्कः । नष्टः । भ्रष्टः । तुष्टः । रुष्टः । दृष्टः । गतः । रतः । हतः । नतः । मतः । लब्धः । बद्धः । क्रुद्धः । युद्धः । बुद्धः । क्षुब्धः । उक्तः । सुप्तः । स्थितः । कृतः । भक्तः । रुग्णः । पीतम् । हीनम् । प्राप्तः । जातः । वृद्धः । त्रातः । हितम् । पूतः । कथितः । भूतः । क्षीणः । दुग्धः । तप्तः । आसीनः । दग्धः ।

क्तवतु प्रत्यान्त रूप बनाने के लिए—क्त प्रत्यान्त शब्दों के आगे वत् (वान्) लगा दिया जाता है जैसे जग्धवान् । तप्तवान् इत्यादि ।

३—क्त्वा—वाक्य में दो क्रियाओं के होने पर जो पहले समाप्त होती है उसे बताने वाली धातु से परे 'क्त्वा' प्रत्यय लगाया जाता है यथा स स्नात्वा विद्यालयं गच्छति ।

कुछ क्त्वा प्रत्यान्त शब्द—

कथयित्वा । दृष्ट्वा । भूत्वा । कृत्वा । मुक्त्वा । पीत्वा । मुक्त्वा । ज्ञात्वा । श्रुत्वा । जित्वा ।

जब धातु से पूर्व कोई उपसर्ग हो तो 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' प्रत्यय होता है । यथा—अधीत्य । आगत्य । प्रणम्य । अधिगम्य । प्राप्य । प्रेत्य । परिज्ञाय । परित्यज्य । विहाय । निहत्य । प्रबुध्य ।

नोट—जिस अर्थ में 'क्त्वा' और 'ल्यप्' प्रत्यय होते हैं उसी अर्थ में णमुल् (अम्) प्रत्यय होता है परन्तु उसका प्रयोग तब होता है जब धातु का अर्थ "बार-बार करके" होता है । जैसे श्रावं श्रावम् (सुन-सुनकर) स्मारं स्मारम् (याद कर-करके) । पाठं पाठम् (पढ़-पढ़कर) । इत्यादि ॥

४—'तुमुन्' प्रत्यय 'के लिये' अर्थ में होता है जैसे—कथयितुम् (कहने के लिये) । कर्तुम् (करने के लिये) । मोक्तुम् (छोड़ने के लिये) । जेतुम् (जीतने के लिये) । नन्तुम् (झुकने के लिए) । गन्तुम् (जाने के लिये) । श्रोतुम् (सुनने के लिये) । इत्यादि ।

५—तव्य, अनीय और य (यत्, क्यप्, ण्यत्) इनमें से किसी भी प्रत्यय के लगने पर शब्द का अर्थ 'करना चाहिए', 'होना चाहिए', 'करने योग्य', 'होने योग्य', 'होगा' इत्यादि होते हैं । इनका सम्बन्ध भविष्यत् काल से है । ये विधिकृदन्त प्रत्यय भी कहलाते हैं क्योंकि इनका प्रयोग विधिलिङ्लकार के अर्थ में भी होता है । ये सब प्रत्यय कर्म-वाच्य तथा भाव-वाच्य में ही होते हैं ॥

कुछ तव्यान्त धातु शब्द

जेतव्य । नेतव्य । स्तोतव्य । होतव्य । वर्तव्य । द्रष्टव्य । दग्धव्य । भवितव्य । कथयितव्य । कोपितव्य । गन्तव्य । श्रोतव्य । ग्रहीतव्य । मोक्तव्य । भोक्तव्य ।

कुछ 'अनीय' प्रत्ययान्त धातुएँ

अर्चनीय । भवनीय । अध्ययनीय । कथनीय । आसनीय । अपनीय । कीर्तनीय । क्लेशनीय । गमनीय । गोपनीय । जागरणीय । जयनीय । नयनीय । पठनीय । श्रवणीय ।

यत् (य) प्रत्यय

अजन्त, पवर्गान्त, अदुपध तथा √शक् और √सह् धातुओं से परे यत् (य) प्रत्यय होता है—यथा—

पेयम् । स्थेयम् । देयम् । गेयम् । शप्यम् । लभ्यम् । शक्यम् । सह्यम् । वध्यम् ।

क्यप् (य) प्रत्यय

√इ, √वृ, √स्तु, √दृ, √शास्, √जुष्, √शंस्, √दह्, √गुह्, √कृ, और √वृष् धातुओं से परे क्यप् (य या त्य) प्रत्यय होता है । यथा—

इत्य । वृत्य । स्तुत्य । दृत्य । शिष्य । जुष्य । शस्यम् । दुह्यम् । गुह्यम् । कृत्यम् । वृष्यम् ।

ण्यत् (य) प्रत्यय

शंस्यम् । दोह्यम् । गोह्यम् । कार्यम् । वर्ष्यम् । धार्यम् । याज्यम् । ग्राह्यम् । हार्यम् । तार्यम् । पाक्यम् ।

अवश्य अर्थ में—पाच्यम् । याच्यम् । रोच्यम् । प्रवाच्यम् । अर्च्यम् । वाक्यम् । वाक्य अर्थ न होने पर—वाच्यम् । भोजन अर्थ होने पर—भोज्यम् । अन्य अर्थ होने पर—भोग्यम् । प्रयोज्यः । नियोज्यः ।

कर्तृ-वाच्य कृदन्त

१—तृच् (तृ) प्रत्यय

भवितृ (होने वाला) । कर्तृ (करने वाला) । गन्तृ (जाने वाला) । श्रोतृ (सुनने वाला) । शयितृ (सोने वाला) । होतृ (हवन करने वाला) । हर्तृ (हरने वाला) । नेतृ (ले जाने वाला) । जेतृ (जीतने वाला) । स्रष्टृ (उत्पन्न करने वाला) । यष्टृ (यज्ञ करने वाला) इत्यादि । इसी प्रकार किसी भी धातु से कर्ता अर्थ में तृच् (तृ) प्रत्यय होता है ।

२—ण्वुल् (वु=अक्) प्रत्यय

कारकः । हारकः । नायकः । पावकः । स्मारकः । छेदकः । मोदकः । रोचकः । योजकः । श्रमकः । दमकः । गमकः । पाठकः । पाचकः । दायकः । धायकः । रम्भकः । लम्भकः ॥

३—ल्यु (अन)

नन्दनः। सूदनः। विभीषणः (विशेषेण भीययति-इति)॥

४—णिन् (इन्) प्रत्यय

ग्राहिन्। स्थायिन्। मन्त्रिन्। भेदिन्। विशयिन्। इत्यादि।

५—अच् (अ) प्रत्यय

पचः। नदः। देवः। चोरः। चरः। चलः। पतः। वदः। हनः। इत्यादि।

६—क (अ) प्रत्यय

क्षिपः। लिखः। बुधः। कृशः। ज्ञः। प्रियः। प्रज्ञः। प्रदः। गोदः (गौ देने वाला)। द्विपः। समस्थः। विषमस्थः।

७—अण् (अ) प्रत्ययः

कुम्भकारः। भारहारः।

८—ड (अ) प्रत्यय

सुगः। दुःखेन गच्छति इति=दुर्गः। ग्रामगः। सर्वत्रगः। सरसिजम्। मनोजः। मनसिजः।

६— णिनि (इन्) प्रत्यय

शीतभोजिन्। उष्णभोजिन्। धनदायिन्। मितभोजिन्। सोमयाजिन्।

६—ख (अ) प्रत्यय

पण्डितंमन्यः। वीरंमन्यः।

१०—'उ' प्रत्यय

जिज्ञासुः। जिगमिषुः। पिपासुः। चिकीर्षुः। भिक्षुः।

११—इष्णुच् (इष्णु)

रोचिष्णुः। वर्तिष्णुः। सहिष्णुः। प्रभविष्णुः।

१२—√ग्ला, √जि और √स्था इन धातुओं से कर्ता अर्थ में 'स्नु' प्रत्यय होता है। यथा—

ग्लास्नुः। जिष्णुः। स्थास्नुः।

१३—आलुच् (आलु)

स्पृहयालुः। गृहयालुः। पतयालुः। दयालुः। निद्रालुः। तन्द्रालुः। शयालुः।

१४—घञ् (अ) [भाववाचक कृदन्त]

त्यागः। पाकः। शोकः। योगः। रोगः। लाभः। पातः। भेदः। छेदः।

[घञ् प्रत्यान्त सब शब्द पुं० होते हैं]

१५—ल्युट् (अन)

भेदनम् । छेदनम् । गमनम् । यजनम् । पचनम् । रमणम् । नयनम् । शयनम् । दर्शनम् । वचनम् । वदनम् । [इस प्रत्यय वाले सब शब्द नपुं० होते हैं ।]

१६—'क्तिन्' प्रत्यय

गतिः । रतिः । शान्तिः । मतिः । यतिः । उक्तिः । प्रीतिः । मुक्तिः । भुक्तिः । बुद्धिः । भित्तिः । कीर्तिः । [इस प्रत्यय के सब शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।]

स्त्री-प्रत्यय

१—आ (टाप्, डाप्, चाप्)

यथा—अजा । बाला । वत्सा । चंचला । चपला । कृष्णा । कृपणा । सरला । प्रथमा । द्वितीया । मूषिका । पाचिका । गायिका । नायिका । कारिका । अध्यापिका ।

२—ई (ङीप्, ङीष्, ङीन्)

गौरी । सुन्दरी । मातामही । तरुणी । कर्त्री । दात्री । धात्री । गन्त्री । गामिनी । राज्ञी । खेचरी । तापसी । रुदती । यूनी । युवती ।

३—ऊ (ऊङ्)

कुरूः । श्वश्रूः ।

४—ति

युवतिः ।

महाभारत

महाभारत संस्कृत का एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है जो पाँचवाँ वेद कहा जाता है । इसमें लगभग एक लाख श्लोक हैं । सारा ग्रन्थ अठारह पर्वों में विभक्त है और प्रत्येक पर्व में अनेक अध्याय हैं ।

महाभारत की मुख्य कथा कौरव-पाण्डवों से सम्बन्ध रखती है । इसमें इसके अतिरिक्त और भी अनेक कथाएँ लिखी हुई मिलती हैं। यह ग्रन्थ नीति, ज्ञान, उपदेश और प्राचीन इतिहास का भण्डार है । इस महान् ग्रन्थ के रचयिता महर्षि वेदव्यास जी हैं ।

कथा का प्रारम्भ

पाण्डवों ने कुछ काल पर्यंत राज्य का भोग करने के अनन्तर जब यह देखा कि अब शीघ्र युग परिवर्तन होने वाला है, द्वापर की समाप्ति समीप आ रही है और कलियुग का प्रारम्भ होने वाला है तो उन्होंने अर्जुन के पौत्र, वीर अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को राज्य सम्भाल दिया और आप देह-त्याग के लिये हिमालय की ओर चले गये।

एक दिन जब राजा परीक्षित बाहर जा रहे थे तब उन्होंने देखा कि गूढ़ श्यामवर्ण, ऊर्ध्व-केश और रक्त-नेत्र एक मनुष्य मूसल हाथ में लिये हुए आगे भागती हुई गाय को मारने के लिए उसके पीछे दौड़ रहा है।

राजा ने जब यह दृश्य देखा तो उसे डाँटते हुए कहा—पांडव-वंश के राज्य में यह घोर अनर्थ तू कैसे कर रहा है? क्या तुझे अपने प्राणों का कोई भय नहीं है?

यह सुनकर भयभीत हुआ वह पुरुष हाथ जोड़कर बोला—हे राजन्! ब्रह्मा ने पहले ही चार युगों की रचना की हुई है जिनमें से तीन युग सत्ययुग, त्रेता और द्वापर क्रमशः व्यतीत हो चुके हैं। अब अन्तिम और चौथे युग 'कलि' का प्रारम्भ हो रहा है और मैं ही स्वयं कलियुग हूँ। यह गाय तो गाय का रूप धारण की हुई पृथ्वी है जो मेरी मार के डर से वेगपूर्वक भागी जा रही है।

राजा ने पृथ्वी को रक्षा का आश्वासन दिया, जिससे वह अपने स्वरूप को प्राप्त हो गई। फिर राजा खड्ग के द्वारा कलियुग का वध करने लगा। तब कलियुग ने बड़ी नम्रता से झुककर राजा के चरण छूए और कहा कि मैं आपकी शरण हूँ और अपने रहने के लिये आपसे स्थान की याचना करता हूँ। यह देखकर राजा के हृदय में दया उत्पन्न हो गई और उसने कहा—मैं तेरे रहने के जो स्थान निर्धारित करता हूँ तू उनमें निवास कर। वे स्थान ये हैं—

१—मद्य पीने वाले। २—जूआ खेलने वाले। ३—बदचलनी के अड्डे। ४—चोरबाज़ारी का धन्धा करने वाले। ५—रिश्वत लेने वाले। ६—धर्मान्ध सम्प्रदाय, भाषा और प्रान्त का झगड़ा खड़ा करके लोगों को मरवाने वाले। ७—अन्याय से पैसा कमाने वाले। ८—न्यायाधीश होकर पक्षपात करने वाले, माँस-मदिरा बेचने वाले। ९—बटमार, डाकू, जेबकतरे। १०—आग द्वारा अपनी-पराई सम्पत्ति नष्ट करने वाले और ११—स्वर्ण आदि। इनके अतिरिक्त और भी पाप कर्म स्थानों में तुम निवास करो। तुम गुण्डों के झुण्डों में भी रहा करो। इतने अधिक निवास-स्थानों में रहने की आज्ञा पाकर कलियुग

प्रसन्न हो गया और वह तत्काल राजा के सिर पर धारण किए हुए मुकुट में गुप्त रूप से चढ़ बैठा, जिससे राजा की बुद्धि नष्ट हो गई। वहाँ से चलकर वह लोमश ऋषि के आश्रम पर पहुँचा। उस समय महात्मा लोमश समाधि लगाये ध्यानावस्था में मग्न बैठे थे, तृषित राजा ने उससे जल मांगा, परन्तु ऋषि ने न आँखें खोलीं और न ही कुछ उत्तर दिया। इससे राजा को बहुत क्रोध हुआ। इसलिये उसने मरा हुआ एक तक्षक नाग धनुष के सिरे से उठाकर ऋषि के गले में डाल दिया।

जब राजा लौटकर अपने राजभवन में आया तो उसने सोने का मुकुट अपने सिर से उतारकर पर्यंक पर रख दिया जिससे उसकी बुद्धि कलियुग के प्रभाव से मुक्त होकर शुद्ध और स्थिर हो गई जिससे राजा को अपने द्वारा किए गये कुकर्म का बहुत पश्चात्ताप हुआ। उधर खेलने के लिये बाहर गया हुआ ऋषि लोमश का बालक जब लौटकर आश्रम में आया तो उसने अपने पिता के गले में पड़ा हुआ मृतक तक्षक नाग देखा जिससे उसने क्रुद्ध होकर तत्काल यह शाप दे दिया कि जिस किसी ने भी मेरे पिता के गले में यह नाग डाला है उसे आज से आठवें दिन यह तक्षक नाग जीवित होकर काट खाए जिससे वह तत्क्षण काल-कवल बन जाए। वह शाप सुनकर लोमश ऋषि की समाधि भंग हो गई और उन्होंने सारा वृत्तान्त योगाभ्यास द्वारा जानकर अपने पुत्र से कहा—कि पुत्र ! तूने बिना सोचे-समझे ही यह शाप दे दिया है। राजा परीक्षित का इसमें कोई अपराध नहीं है। वह तो धर्मावतार और न्यायशील राजा है। यह कुकर्म तो उससे कलियुग ने करवाया है जो उसके सिर के सोने के मुकुट में छिपकर स्थित था। होनी पर किसी का वश नहीं चलता। जो होना होता है वह होकर ही रहता है।

तब महर्षि लोमश ने पुत्र द्वारा दिए गये शाप की सूचना राजा परीक्षित को कहला भेजी।

तब राजा ने वैद्यों, वैज्ञानियों और सर्पविष-नाशकों की सहायता से तक्षक नाग को रोकने और डसने पर उसके विष उतारने के सब सम्भव प्रबन्ध और उपाय किए परन्तु मालिन द्वारा लाए गए फूलों में छिपे हुए तक्षक ने ठीक समय पर ही राजा को डस लिया जिससे तत्काल राजा की मृत्यु हो गई।

परीक्षित के बाद उसका पुत्र जन्मेजय राजसिंहासन पर बैठा। उसने पाकिस्तान में स्थित नगर हसन अबदाल के समीप तक्षक नागों के वंश का नाशक एक महान् यज्ञ किया जिसमें अनेक नाग जलकर भस्म हो गये और उस स्थान का नाम तक्षक-शिला पड़ गया जो बाद में बिगड़कर तक्षशिला बन

गया जिसमें सिकन्दर महान् के काल में संसार भर में अति प्रसिद्ध एक विश्वविद्यालय था। परम नीतिज्ञ चाणक्य भी उन दिनों में वहाँ प्राध्यापक (प्रोफेसर) था तथा मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी वहीं से शिक्षा ग्रहण की थी परन्तु समय पाकर यह शहर भूचाल से पृथ्वी के नीचे दबकर नष्ट हो गया था। सन् १९०८ ई० में खुदाई किये जाने पर इसके भग्नावशेष धरती से बाहर निकाले गये हैं और उनको दिखाने के लिये वहाँ पर एक म्यूजियम स्थापित किया गया था।

तक्षक नागों को जलाने के पाप से तथा उनके विषैले धुएं के प्रभाव से राजा जन्मेजय के सारे शरीर पर कुष्ठ रोग फूट पड़ा जिससे राजा का तन बहुत दुःखी और मन अति व्याकुल हो गया और उसने सब ऋषि-मुनियों को बुलाकर उसके दूर करने का उपाय पूछा।

तब उन्होंने एक स्वर होकर कहा कि हे राजन्! महर्षि वेदव्यास जी ने महाभारत की रचना की है। यदि आप श्रद्धापूर्वक शुद्ध हृदय होकर उसे श्रवण करोगे तो देह का सारा कुष्ठ रोग दूर हो जाएगा।

तब राजा की आज्ञा से नैमिषारण्य तीर्थस्थान पर सब ऋषि-मुनि और साधु-सन्त आदि महात्मा लोग एकत्रित हुए और उन सबको वैशंपायन जी महाभारत की कथा सुनाने लगे जिसे राजा जन्मेजय सहित सब लोग श्रद्धापूर्वक सुनने लगे। धीरे-धीरे महाराजा के शरीर का कुष्ठ घटने लगा। अन्त में उसका एक चिह्न केवल राजा के नाक पर ही रह गया।

इसके अनन्तर वैशंपायन जी बोले—हे राजन्! आपके पूर्वज पाँचों पाण्डव महाशक्तिशाली, अत्यन्त बुद्धिमान् और विज्ञान-निपुण योद्धा थे। देखो! तेरे दादा भीम के फेंके हुए मृतक हाथी आज तक आकाशमण्डल में घूम रहे हैं। यह सुनकर राजा को इस बात का विश्वास न हुआ, जिसको कथावाचक महर्षि वैशंपायन राजा के चेहरे की विकृत आकृति देखकर भाँप गये और बोले कि हे राजन्! यदि कोई छोटी या बहुत भारी वस्तु पांच-छः मील प्रति सेकण्ड वेग से आकाश की ओर फेंकी जाए तो वह कुछ ऊपर जाकर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण पुनः पृथ्वी पर लौट आती है और यदि वह वस्तु सात-आठ मील प्रति सेकण्ड के वेग से आकाश की ओर ऊपर उछाली जाए तो वह ऊपर जाकर पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाने लगती है परन्तु ऊपर फेंकी जाने वाली वस्तु की चाल यदि ९ या ९ से अधिक मील प्रति सेकण्ड रखी जाए तो वह पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से छूटकर बाह्य पुलाड़ में चली जाती है। उस समय न उस पर कोई आकर्षण होता है और न उसका

कोई भार होता है। विज्ञान का यह एक प्रसिद्ध नियम है कि "एक बार चलाई हुई वस्तु अपने पूरे वेग से सदैव चलती ही रहती है।" पृथ्वी पर स्थित ऐटमी केन्द्र का नियामक (कण्ट्रोलर) उसे मन चाहे ग्रह या उपग्रह की ओर मोड़ सकता है जिससे वह वस्तु उस ग्रह या उपग्रह के समीप जाकर उसके गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से उसमें जा गिरती है।

क्योंकि महाभारत के युद्ध की समाप्ति के साथ ही विज्ञान-युग समाप्त हो चुका था इसलिये कथावाचक के ऐसी व्याख्या करने पर भी भीम द्वारा आकाश में फेंके गए मृतक हाथियों के घूमने वाली बात पर राजा को विश्वास न हुआ। तब उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि हे ऋषिवर! यह बात असम्भव है और कभी नहीं हुई होगी मुझे ऐसा प्रतीत होता है।

तब राजा की यह बात सुनकर वैशंपायन जी बोले—हे राजन्! हम चाहते थे कि इस कुष्ठ रोग का संसार से सदा के लिये नाश हो जाए परन्तु होनी बहुत बलवान् है किसी के टाले नहीं टल सकती। आपके इन अश्रद्धा भरे वचनों ने सब काम बिगाड़ दिया है। विधाता वाम होने पर अब सब उपचार व्यर्थ हो गये हैं।

इतना कहने के अनन्तर ऋषि वैशंपायन जी ने तत्काल कोई ऐसा ऐटमी प्रयोग किया कि जिसके प्रभाव से देखते ही देखते सामने का सारा क्षेत्र आकाश से गिर रहे हस्ति-पञ्जरों से भर गया।

इससे यह बात भली-भाँति सिद्ध हो जाती है कि महाभारतकालीन लोग कृत्रिम उपग्रहों को आकाश में छोड़ने और आकाश से पुनः नीचे उतारने में अत्यन्त दक्ष और महाकुशल थे।

जिस यादव-वंश में भगवान् श्रीकृष्ण जी का जन्म हुआ था और जिस कुरु-वंश में अर्जुन का जन्म हुआ था उन दोनों का आदिपुरुष एक ही था उसका नात 'ययाति' था। उस ययाति के दो पुत्र हुए। जिनमें से एक का नाम 'यदु' और दूसरे का नाम पुरु था। यदु बड़ा था तथा पुरु छोटा था परन्तु ययाति यदु से प्रसन्न नहीं था क्योंकि छोटा पुत्र पुरु उसकी बहुत सेवा करता था। इसलिये राजा ययाति ने राज्याधिकारी पुरु को बना दिया। इसी पुरु-वंश में राजा भरत ने जन्म ग्रहण किया जो महाप्रतापी राजा था जिसके नाम पर हमारे इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ। वह राजा दुष्यन्त का पुत्र था और उसकी माता का नाम शकुन्तला था।

आगे चलकर महाबलवान् राजा 'कुरु' इसी वंश में उत्पन्न हुए जिनके नाम पर इनके वंश का नाम 'कौरव' प्रसिद्ध हुआ। फिर इस वंश में राजा प्रतीप जन्मे।

यदु के वंशज 'यादव' कहलाए। इस वंश में 'भोज', वृष्णि, अंधक आदि अनेक वीर पुरुषों का जन्म हुआ और इसी वंश में आनन्दकन्द भगवान् श्री कृष्णचन्द्र का जन्म हुआ।

कौरववंशीय राजा प्रतीप के पुत्र महाराजा शान्तनु हुए। जब शान्तनु की आयु बीस वर्ष की हुई तो महाराजा प्रतीप उसको सिंहासन पर बिठा कर आप तप के लिये वन को चले गये।

एक दिन राजा शान्तनु गङ्गा के तट पर भ्रमण करते हुए गंगा की शोभा देख रहे थे तो उन्होंने सहसा वहाँ पर एक रूपवती स्त्री को खड़े देखा और उसके दर्शन करते ही सारी सुध-बुध भूल गये। फिर कुछ काल के अनन्तर मन को स्थिर करके बोले—तेरा क्या नाम है? यह सुनकर वह बोली मेरा नाम गङ्गा है, मैं महर्षि जह्नु की पुत्री हूँ। इससे जाह्नवी भी कहलाती हूँ। तब फिर शान्तनु ने कहा—यदि तू स्वीकार करे तो मैं तेरे साथ अपना विवाह करना चाहता हूँ। यह सुनकर गंगा ने कहा—मेरी एक शर्त है यदि तुझे स्वीकार हो तो मैं तेरे साथ विवाह करवा सकती हूँ। तब राजा ने पूछा कि वह कौन सी शर्त है?

इस पर गंगा ने उत्तर दिया कि मेरे किसी भी कार्य में कभी आप दखल न देना और न कभी मेरा तिरस्कार करना। यदि आप इन दोनों बातों से विपरीत आचरण करोगे तो मैं आपको छोड़कर उसी समय चली जाऊँगी।

यह सुनकर शान्तनु ने कहा मुझे यह सब कुछ स्वीकार है।

तब गंगा राजा शान्तनु की रानी बनकर हस्तिनापुर के राजभवन में चली गई। गङ्गा कौन थी? गङ्गा, सुर नदी भागीरथी की अधिष्ठात्री देवता थी। उसने शान्तनु की रानी बनना क्यों स्वीकार किया? इसका पहला कारण तो यह था कि शकुन्तला जो भरत की माता थी वह स्वर्ग की एक अप्सरा की ही पुत्री थी जिससे भरत का वंश एक देववंश समझा जाता था। इसलिए देववंश में गङ्गारूपी देवता का ब्याह होना उचित और यथायोग्य ही था परन्तु इसका सबसे बड़ा और विशेष कारण यह था :—

एक बार दिशाओं के आठों वसु देवता किसी स्थान कर एकत्रित हुए किसी विशेष महाकार्य सम्बन्धी विचार-विमर्श कर रहे थे। इतने में सहसा महा-क्रोधी दुर्वासा ऋषि उनके समीप आए। परन्तु वे देवता लोग उठकर उसका अभिवादन न कर सके जिससे ऋषि ने उन्हें शाप देते हुए कहा कि "हे अभिमानी देवताओं! पृथ्वी पर जाकर जन्म ग्रहण करो।" यह कहने के

अनन्तर ऋषि दुर्वासा तो वहाँ से चले गये परन्तु वे आठों वसु चिन्ता निमग्न हुए नीचे मुख किए बैठे रहे। तब माता गङ्गा उनके निकट आई और बोली—हे वसुओं! किस चिन्ता में निमग्न हो और क्या सोच रहे हो। यह सुनते ही उन आठों ने उठकर माता के चरण पकड़ लिये और दुर्वासा द्वारा दिये गये शाप को कहा साथ ही प्रार्थना की हे माता! आप हमें गर्भ में धारण करके इस घोर शाप से मुक्त करो। दयालु माता दयार्द्रित होकर उनकी बात को मान गई और बोली—हे वसुओं! मैं तुम में से सात का तो शीघ्र छुटकारा करा दूंगी परन्तु आठवें को चिरकाल तक संसार में जीवित रहना पड़ेगा। उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली, तब यह सुनते ही माता अन्तर्धान हो गई।

रानी गङ्गा के गर्भ से शान्तनु के घर में क्रमशः सात पुत्र उत्पन्न हुए। परन्तु माता गङ्गा ने प्रत्येक को जीवित ही गङ्गा-जल के प्रवाह में जाकर डुबो दिया किन्तु राजा शान्तनु रानी के चले जाने के भय से दम न मार सका परन्तु हृदय उसका बहुत खिन्न हुआ। कुछ काल के बाद रानी गङ्गा ने आठवें पुत्र को जन्म दिया। जब रानी उसको लेकर भी गङ्गा-जल के प्रवाह में डुबोने के लिये चलने लगी तो राजा अति अधीर हो उठा और रानी का तिरस्कार करता हुआ कहने लगा—कि अरी डायन! अब तो मैं इस नवजात शिशु का बाल भी बांका न होने दूंगा, चाहे तू मुझे छोड़कर ही क्यों न चली जाये। तेरे तुल्य निष्ठुर स्त्री आज तक मैंने कोई नहीं देखी थी।

जब रानी गङ्गा ने राजा शान्तनु की ये अपमानसूचक बातें सुनीं तो उसने बड़े धैर्य से मुस्कराते हुए वह नवजात शिशु राजा को सौंप दिया और आप तुरन्त वहाँ से चली गई। राजा अपना हृदय मलता और उसका मुँह देखता ही रह गया। वह रानी को नित्य-निरन्तर स्मरण करता रहता था परन्तु रानी गङ्गा एक बार जाकर वापस फिर कभी न लौटी।

नवजात शिशु का नाम देवव्रत रखा गया और उसका पालन-पोषण बड़ी सावधानी और होशियारी से किया गया। जब शिशु की आयु अठारह वर्ष की हो गई तो राजा को कुछ सन्तोष सा हो गया जिससे वह फिर घूमने और भ्रमण करने के लियें बाहर वन में जाने लगा।

एक दिन वह अपने मंत्री के साथ भ्रमण करता हुआ यमुना नदी के तट पर घूम रहा था कि सहसा उसे एक सुन्दर युवती दिखाई दी। उसे देखते ही रानी गङ्गा उसे स्मरण हो आई जिससे उसके हृदय के प्रेम-घाव पुनः हरे हो गये। अपना मन उस सुन्दर युवती के लावण्यमय रूप में लीन कर बैठा और उसके समीप जाकर बोला—हे सुन्दरी! तुम कौन हो? मुझे अपने

घर ले चलो। यह सुनकर उसने उत्तर दिया—मैं एक धीवर की पुत्री हूँ। मेरा नाम सत्यवती है। आओ, मैं आपको अपने घर में ले चलती हूँ। यह कहकर वह राजा और मंत्री को यमुना के तीर पर बने हुए घर में अपने पिता के पास ले गई। तब धीवर ने राजा को देखते ही उठकर उनके चरण छुए और षोडश उपचारों द्वारा उन दोनों का सत्कार करके कहा कि मेरा बड़ा अहो-भाग्य है जो आज चींटी के घर में नारायण पधारे हैं। कहिए मैं आपकी क्या सेवा करूँ।

राजा ने कहा कि अपनी पुत्री सत्यवती का विवाह आप मेरे साथ कर दीजिए। यह सुनकर चतुर धीवर ने कहा कि 'हे राजन्! मुझे ऐसा करना स्वीकार है परन्तु पहले यह प्रतिज्ञा कीजिए कि आपके बाद इससे जन्मा हुआ पुत्र ही राज्याधिकारी होगा, आपका ज्येष्ठ पुत्र देवव्रत नहीं होगा।' परन्तु राजा ने धीवर की यह बात स्वीकार न की। तब धीवर ने हाथ जोड़कर राजा से कहा कि वैसे तो आप सब प्रकार से समर्थ हैं, परन्तु हम प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ अपनी पुत्री का विवाह नहीं कर सकते। यह सुनकर राजा हस्तिनापुर को लौट आया और सदा उदास और गमगीन होकर रहने लगा। उसके पुत्र देवव्रत ने उसकी जब यह दशा देखी तो बहुत चिन्तित हुआ। तब मंत्री से उसे सारा वृत्तान्त ज्ञात हो गया जिससे वह धीवर के पास गया और उससे अनुरोध किया कि वह अपनी पुत्री सत्यवती का विवाह राजा शान्तनु के साथ कर दे। परन्तु जब धीवर न मानता दिखाई दिया तो उसने उसके सामने प्रतिज्ञा की कि मैं राज्य नहीं करूँगा, न आजीवन विवाह ही करवाऊँगा जिससे पुत्र भी न होंगे जो राज्य की इच्छा कर सकें। इस कठोर प्रतिज्ञा के कारण सब लोगों ने उसका नाम भीष्म रख दिया।

सत्यवती का विवाह राजा शान्तनु के साथ हो गया और उससे चित्रांगद और विचित्रवीर्य दो पुत्र उत्पन्न हुए परन्तु थोड़े समय के अनन्तर ही राजा शान्तनु की मृत्यु हो गई और उसके कुछ काल बाद ही चित्रांगद भी काल-कवल बन गया। जिससे भीष्म ने विचित्रवीर्य को हस्तिनापुर के सिंहासन पर बिठा दिया और काशीराज की दो कन्याओं अम्बिका और अम्बालिका से उसका विवाह भी करवा दिया। परन्तु सात वर्ष राज्य-सुख भोगने के बाद निःसन्तान ही क्षयरोग से उसकी भी मृत्यु हो गई।

तब सत्यवती ने भीष्म से अनुरोध किया कि वह राजसिंहासन पर बैठे तथा अम्बिका और अम्बालिका के साथ अपना विवाह कर ले। परन्तु दृढ़ तथा सत्यप्रतिज्ञ भीष्म ने सत्यवती के इस आग्रह और प्रस्ताव को अस्वीकार

कर दिया क्योंकि वह उसके पिता के साथ की गई प्रतिज्ञा से कदाचित् विचलित नहीं होना चाहता था।

वंश को समाप्त होता हुआ समझकर सत्यवती ने अपने पहले पुत्र कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास का स्मरण किया तो वे अपने किए हुए प्रण के अनुसार अपनी माता के सम्मुख आकर उपस्थित हो गये और बोले—हे अम्ब ! मुझे किस कारण से याद किया है। मुझे क्या आज्ञा है जिसे मैं पालन करूं।

तब सत्यवती उनको देखकर अतीव प्रसन्न हुई और बोली—हे पुत्र ! इस समय मैं अत्यन्त मानसिक दुःख को अनुभव कर रही हूँ क्योंकि मेरा वंश समाप्त हो रहा है। तुम मेरी आज्ञा मानो और अम्बिका तथा अम्बालिका से विवाह करके राज्य करो। यह सुनकर ऋषि ने कहा कि हे माता मेरे द्वारा ऐसा होना सम्भव नहीं है। यह बात सुनकर सत्यवती रुष्ट होकर व्यास जी को शाप देने लगी तो व्यास जी बोले हे माता ! आप ऐसा न करो। मैं विचित्रवीर्य की दोनों स्त्रियों को पुत्र प्रदान करने के लिये उद्यत हूँ।

यह सुनकर सत्यवती प्रसन्न हो गई। तब व्यास जी ने अम्बिका के शरीर में अपनी दिव्यदृष्टि द्वारा सन्तान का टीका कर दिया परन्तु उस समय अम्बिका से एक भूल हो गई। वह व्यास जी के नेत्रों का तेज सह न सकी जिससे दिव्यदृष्टि पड़ने के समय उसने अपनी दोनों आँखें मीच ली थीं। तब महर्षि व्यास ने माता से कहा कि इसके एक प्रतापी पुत्र उत्पन्न होगा परन्तु नेत्रहीन होगा।

फिर छोटी बहू अम्बालिका पर महर्षि की दिव्यदृष्टि का सन्तान-टीका हुआ। उस समय उसका वर्ण लज्जा और भय से पीला पांडु जैसा हो गया मानो उसके शरीर में रक्त की एक बूंद भी न रही हो। तब महर्षि ने सत्यवती से कहा—माता ! इसके जो पुत्र पैदा होगा वह रक्तरहित पीतवर्ण होगा। यह सुनकर सत्यवती बहुत उदास हुई और उसे सन्तोष न हुआ। अतः उसने एक दासी को सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों मे सजाकर वेदव्यास के सामने उपस्थित किया। वह दासी गीत गाने और झांझ बजाने लगी और दिव्यदृष्टि रूप सन्तानसृजन टीका होते समय प्रसन्न-वदन होकर हरि के गीत गाती रही। तब ऋषि ने अपनी माता सत्यवती से कहा कि इसके सर्वांग सुन्दर और प्रभु-भक्त पुत्र उत्पन्न होगा। इसके बाद व्यास जी अन्तर्धान हो गये।

समय पाकर तीनों के तीन पुत्र क्रमशः धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर उत्पन्न हुए। तब भीष्म ने तीनों का पालन-पोषण अति सावधानी से कराया। सब संस्कारों के साथ-साथ राजोचित विद्याओं से तीनों को सम्पन्न कर दिया

गया। धृतराष्ट्र बहुत हृष्ट-पुष्ट और अत्यन्त बलवान् हो गए और पाण्डु धनुर्विद्या में प्रवीण और पारंगत हुए। विदुर जी राजनीति और धर्म-कर्म तथा भक्ति में निष्णात हो गये।

यद्यपि धृतराष्ट्र बड़े थे परन्तु अन्धे थे और विदुर दासीपुत्र थे। इसलिये भीष्म ने पाण्डु को हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बिठा दिया।

फिर इन तीनों के विवाह भी करवा दिए गये। धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार (वर्तमान कन्धार अफ़गानिस्तान) देश के राजा सुबल की कन्या गान्धारी से हुआ जिसने पति को अन्धा जानकर आजीवन आँखों पर पट्टी बाँधे रखी।

राजा पाण्डु के दो विवाह हुए। पहला यदुवंशी राजा शूरसेन (कृष्ण का दादा) की पुत्री पृथा के साथ हुआ, जिसका पालन-पोषण कुन्तीभोज ने पुत्रीवत् किया था जिससे पृथा का दूसरा नाम कुन्ती प्रसिद्ध हुआ।

राजा पाण्डु का दूसरा विवाह मद्रदेश की राजकुमारी माद्री के साथ हुआ था तथा विदुर का विवाह राजा देवक की पुत्री पारशवी के साथ हुआ था।

कुन्तीभोज के घर एक दिन महर्षि दुर्वासा पधारे तो उसकी पालिता कन्या कुन्ती ने उसकी बहुत सेवा की जिससे महर्षि परम प्रसन्न हो गये और उन्होंने कन्या कुन्ती को एक ऐसे मन्त्र की प्रयोग-विधि सिखा दी जिससे वह पुत्र-प्राप्ति निमित्त प्रत्येक देवता को अपने पास बुलाने में समर्थ हो गई।

एक दिन उस कुमारी कुन्ती के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि महर्षि के बताए हुए मन्त्र की प्रयोग-विधि की परीक्षा करनी चाहिए। उसके अनुसार उसने सूर्य देवता का आवाहन किया, तब तत्काल मुकुट, कुण्डल और कवचधारी एक दिव्यपुरुष सामने आकर उपस्थित हो गया। कुन्ती ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और मधुर वाणी से नम्रतापूर्वक पूछा—भगवन्! आप कौन हैं? उसने उत्तर दिया कि हे सुन्दरी! मैं आकाश पर चमकने वाले दिनमणि सूर्य-मण्डल का अधिष्ठातृ देवता हूँ। मैं तेरे मन्त्र प्रयोग के प्रभाव से तुझे पुत्र प्रदान करने के लिये यहाँ आया हूँ।

यह सुनकर भोली-भाली कुन्ती बोली—मैं अविवाहिता हूँ। आपको बुलाने में मुझसे भूल हो गई है, मुझे क्षमा कीजिए और जैसे आए हो वैसे ही लौट जाइए।

इस पर सूर्य देवता ने कहा मेरा आना निष्फल नहीं होगा। तेरे एक प्रसिद्ध प्रतापी पुत्र होगा और तेरे गर्भ को कोई जान न सकेगा। तू नवजात शिशु को फूलों की टोकरी में रखकर नदी के तीर पर छोड़ आना।

तदनन्तर समय पाकर कुन्ती के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो बहुत तेजस्वी और कवच-कुण्डलधारी था। कुन्ती ने देवता के निर्देशानुसार उसको फूलों की टोकरी में डाल निर्दिष्ट स्थान पर ले जाकर रख दिया। कुरुराज के सारथी अधिरथ ने जब इस नवजात शिशु को देखा तो वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसे उठाकर अपने घर ले आया तथा अपनी स्त्री राधा से बोला—आज हमारा अत्यन्त अहोभाग्य है कि भगवान् ने हमें चाँद-सूर्य सा सुन्दर एक बालक प्रदान किया है। राधा ने उसे सहर्ष गोद में ले लिया और तत्काल उसके स्तनों से दुग्ध-धाराएँ बहने लगीं। फिर दोनों ने बड़े चाव और लाड़ से उसका पालन-पोषण किया और उसका नाम वसुसेन रखा जो बड़ा होकर अंग देश का राजा बना और दानवीर कर्ण के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

किसी कारण विशेष से राजा पाण्डु को किसी ऋषि ने शाप दे दिया कि हे राजन् ! जब तू अपनी किसी स्त्री से संभोग करेगा तब तत्काल तेरी मृत्यु हो जायेगी। इस शाप से दुःखी और व्याकुल होकर राजा पाण्डु अपनी स्त्रियों को साथ लेकर वन को चले गये और प्रतिदिन रुग्ण-शरीर रहने लगे। एक तो स्वास्थ्य ठीक न रहता था दूसरे सन्तान का अभाव सता रहा था। राजा की यह दशा देखकर कुन्ती ने दुर्वासा से सन्तानसृजन मन्त्र की प्राप्ति की सारी कथा कह सुनाई। जिससे राजा के मन का बोझ हलका हो गया और उसने कुन्ती को धर्मराज को स्मरण करने की आज्ञा दी। इससे धर्मराज की कृपा से कुन्ती के युधिष्ठिर नाम का धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार क्रमशः वायु देवता की कृपा से भीम और इन्द्र देवता की कृपा से अर्जुन का जन्म हुआ।

फिर कुन्ती ने अपनी सौत माद्री के लिये मन्त्र विधि का प्रयोग किया जिससे अश्विनीकुमारों की कृपा से एक ही साथ नकुल और सहदेव की उत्पत्ति हुई। ये पाँचों भाई पाण्डु के पुत्र या पाण्डव नाम से प्रसिद्ध हुए।

एक दिन माद्री से संभोग करने पर शाप के कारण राजा पाण्डु की मृत्यु हो गई। तब माद्री अपने मृतक पति पाण्डु के साथ सती हो गई परन्तु कुन्ती पाण्डवों के पालने के लिये जीवित रही।

पाण्डु के वन में चले जाने पर राजकाज धृतराष्ट्र चलाने लगे। उन दिनों हस्तिनापुर में जब पाण्डु के बड़े पुत्र युधिष्ठिर के जन्म की सूचना पहुँची तो गान्धारी का हृदय जल गया और वह शोक और क्रोध से अपने पेट को पीटने लगी जिससे उसका अधूरा गर्भ गिर गया जो केवल मांस का एक पिण्ड मात्र ही दिखाई देता था जिसे देखकर गान्धारी रोने और विलाप करने लगी। यह सुनकर तत्काल महर्षि व्यास हस्तिनापुर पहुँचे और बोले—

हे गान्धारी ! तू शोक मत कर, तेरे इस गर्भ-पिण्ड से सौ पुत्रों और एक कन्या की उत्पत्ति होगी। उसके अनन्तर महर्षि ने तत्काल एक सौ एक मटके मंगवाये तथा उनमें घी आदि अनेक औषधियों का सम्मिश्रण डाला गया। तत्पश्चात् किसी विशेष विधि अनुसार उस गर्भ-पिण्ड को एक सौ एक टुकड़ों में विभाजित करके पृथक्-पृथक् सम्पुट किया गया और प्रत्येक मटके में स्थापित करके मटकों का मुख बन्द कर दिया गया और उन मटकों को बड़ी सावधानी और होशियारी से एक ऐसी प्रयोगशाला में रखा गया जो इसी प्रयोजन के लिये बनाई गई थी जिसमें आक्सिजन पर्याप्त मात्रा में सदैव विद्यमान रहने का प्रबन्ध किया गया था। उस स्थान का तापमान निरन्तर ३६.९° सेंटीग्रेड अर्थात् ९८.४° फार्नहाईट बना रहता था।

नियत समय पर क्रमशः उन मटकों के मुँह खोले गये तो उनके भीतर से नवजात सुन्दर सौ बालक और एक कन्या निकली। तब फिर बहुत सावधानी और निपुणता से उन सब बच्चों का पालन-पोषण किया गया तथा उनके नाम क्रमशः दुर्योधन, दुःशासन और विकरण आदि रखे गये और कन्या का नाम दुःशला रखा गया। इन्हीं दिनों धृतराष्ट्र का एक पुत्र एक वैश्य-कन्या के गर्भ से उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'युयुत्सु' रखा गया। धृतराष्ट्र के ये सब पुत्र कौरव या कुरुवंशीय कहलाते थे।

वनवासी ऋषि-मुनि पाँचों पाण्डवों और उनकी माता कुन्ती को साथ लेकर हस्तिनापुर में पधारे और उनको कुरु राजदरबार में ले गये। धृतराष्ट्र और भीष्म को पाँचों पाण्डवों के जन्म की कथा तथा पाण्डु और माद्री के मृत्यु के समाचार पहले ही यथासमय प्राप्त हो चुके थे। तब इन पाण्डवों को देखकर सब नगर निवासी और राजवंश के लोग अतीव प्रसन्न हुए।

फिर कौरव और पाण्डव सब बालक परस्पर मिलकर एक साथ रहने और खेलने लगे। ये सब भीष्म जी को पितामह कहकर पुकारते थे। इस प्रकार भीष्म, भीष्म से भीष्म पितामह बन गये।

सब बालकों में पाण्डव बहुत बलवान् थे इसलिये वे खेलकूद में बाकी बालकों को जीत जाते थे -विशेषकर भीम सबसे बलिष्ठ था। अतः दुर्योधन मन ही मन उससे कुढ़ता था और उसका अन्त कर देना चाहता था। दुर्योधन ने दो बार धोखे से भीम को विष भी खिला दिया था परन्तु उसके प्राण दोनों बार बच गये थे।

एक बार राजा शान्तनु के एक सेवक ने वन में एक वृक्ष की छाया तले पड़े हुए एक नन्हें बालक और छोटी बालिका को देखा। धनुष बाण और मृग-छाला उनके पास पड़े हुए थे। सारा दिन वह सेवक किसी के आने की प्रतीक्षा

करता रहा परन्तु रात्रि का घना अन्धकार फैल जाने पर भी जब वहाँ कोई न आया तब वह उन दोनों बच्चों को हस्तिनापुर में उठा लाया और महाराजा शान्तनु के पास ले गया। तब महाराजा ने उन दोनों को अपना पुत्र और पुत्री समझकर पालन लिया। यथार्थ में ये दोनों बच्चे महर्षि शरद्वान की सन्तान थे जो उन दोनों को छोड़कर नदी तट पर तप कर रहा था।

महाराज ने बालक का नाम 'कृप' और बालिका का नाम 'कृपी' रखा। बड़ी होने पर कृपी का विवाह गुरुग्राम (वर्तमान गुड़गांव) में रहने वाले द्रोणाचार्य के साथ कर दिया गया जिससे अश्वत्थामा नाम का एक प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ।

जब महर्षि शरद्वान को यह पता चला कि मेरी सन्तान का पालन-पोषण महाराजा शान्तनु के गृह में हो रहा है तो वे हस्तिनापुर में आए और अपने पुत्र कृप को यथायोग्य ढंग से शस्त्र विद्या की शिक्षा देने लगे जिससे वह आचार्य पदवी को प्राप्त होकर 'कृपाचार्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ और उससे कौरव, पाण्डव और अन्य देशों के राजकुमार शस्त्र विद्या ग्रहण करने लगे।

गुरुग्राम के निवासी द्रोणाचार्य महर्षि भरद्वाज के सुपुत्र थे जिन्होंने सब प्रकार की अस्त्र-शस्त्र विद्या की शिक्षा महर्षि अग्निवेश और प्रसिद्ध शूरवीर और अणु शक्ति के प्रवीण पारंगत ज्ञाता श्री परशुराम जी से प्राप्त की थी। भीष्म पितामह जी द्रोणाचार्य को कौरव राजसभा में लिवा लाए और विशेष अस्त्र-शस्त्र विद्या सिखाने के लिए सारे राजकुमारों और कर्ण आदि योद्धाओं को उनके सुपुर्द कर दिया जिससे वे सब अल्पकाल में ही इस विद्या में निपुण और पारंगत हो गये। उन्होंने हाथी, घोड़ों, रथों (टैंकों) और जंगी गाड़ियों पर चढ़कर युद्ध करना भली-भाँति सीख लिया। तीर-तोप, बन्दूक-बर्छी, वज्र-शक्ति आदि सब प्रकार के अस्त्रों को चलाना सीख गये। तोमर, मुद्गर, गुर्ज-गदा आदि चलाना तो उनके बाएं हाथ के खेल हो गये। सब शिष्यों में अर्जुन अधिक निपुण और धनुष चलाने में सिद्धहस्त हो गये, भीम और दुर्योधन ने गदा चलाने में निपुणता प्राप्त कर ली।

एक बार सब शिष्यों की परीक्षा का दिन आ गया। हस्तिनापुर के निकट एक बहुत विशाल रंगभूमि तैयार कराई गई। वहाँ सब राजकुमारों ने अपना-अपना युद्ध-कौशल प्रदर्शित किया। दुर्योधन और भीम का गदा युद्ध हुआ। जब दोनों के मर जाने का भय उपस्थित हो गया तो द्रोणाचार्य की आज्ञा से उसके पुत्र अश्वत्थामा ने जाकर उनमें बीच-बचाव करवा दिया। परन्तु उन दोनों का मन-मुटाव आजीवन दूर न हुआ।

इसके बाद अर्जुन ने अपनी श्रेष्ठ धनुर्विद्या के करतब (कर्तव्य) दिखाए जिन्हें देखकर सब दर्शक वाह-वाह करने लगे। परन्तु दुर्योधन ईर्ष्या और डाह से जल-भुनकर कोयला तथा राख सा हो गया। तब उसकी शह पाकर कर्ण अर्जुन का अपमान और तिरस्कार करता हुआ अखाड़े में उतरा तथा अर्जुन के सदृश ही सब कौशल दिखाने लगा। तब तत्काल यह देखकर अर्जुन ने कहा कि हे कर्ण ! तू तो एक सूत का पुत्र है। तुझे राजकुमारों से मुकाबला करने का कोई अधिकार नहीं है। तब कर्ण ने भी अर्जुन को तुर्की बतुर्की उत्तर दिया। जब ऐसी अपमानजनक परस्पर के वाक् कलह से कौरवों और पाण्डवों में युद्ध का आतंक बढ़ने लगा तो कृपाचार्य ने कहा—

जो स्वयं राजा नहीं तथा जिसके जन्म और वंश का किसी को भी कोई पता नहीं है उसके साथ राजकुमारों का युद्ध करना कदापि उचित नहीं है। कहने का भाव यह कि उसके कुकर्मों और पापों को देखकर तत्काल उसका वध कर देना तो अपनी रक्षा करने के लिये ठीक ही है परन्तु उससे धर्म-युद्ध कभी न करना चाहिए।

यह सुनकर दुर्योधन के हृदय को बड़ा धक्का लगा और बोला—बहुत अच्छी बात है। यदि अर्जुन राजा के अतिरिक्त और किसी से युद्ध करना नहीं चाहता तो मैं अभी कर्ण को राजा बना देता हूँ। यह कहकर उसने उसी समय कर्ण को 'अंग' देश का राजा बनाकर उसका तत्काल राज्याभिषेक करवा दिया। तब कर्ण ने शपथपूर्वक प्रण किया कि मैं आजीवन दुर्योधन का ही साथ दूंगा।

इतने में दिनमणि सूर्य भगवान् अस्ताचल की ओर चल दिए और प्रकाश के स्थान पर अन्धकार का साम्राज्य बढ़ने लगा। यह देखकर सभा तो विसर्जित हो गई परन्तु महाभारत के युद्ध की नींव पक्की कर दी गई।

पाँचाल देश का राजा द्रुपद गुरु द्रोणाचार्य का गुरु-भाई था। एक बार उसने द्रोण का घोर-अपमान किया था जिससे द्रोण के मन में उससे बदला लेने की भावना उत्पन्न हो चुकी थी। इसलिये गुरु द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की शिक्षा पूरी होने पर उनसे यह गुरु-दक्षिणा मांगी कि तुम सब जाकर पाँचाल देश पर आक्रमण करो और राजा द्रुपद को पकड़कर मेरे अर्पण करो।

गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए पहले अकेले कौरवों ने पाँचाल पर आक्रमण किया। परन्तु राजा द्रुपद की घोर बाण-वर्षा न सह सके और सिर पर पाँव रखकर ऐसे भागे कि राजधानी हस्तिनापुर में ही आकर दम लिया और फिर कभी उधर मुँह न किया।

उन कौरवों की यह घोर दुर्दशा देखकर तब पाण्डव अपने रथों (टैंकों) पर चढ़े और तत्काल पांचाल पर आक्रमणकारी हुए। घोर युद्ध हुआ और अन्त में अर्जुन ने राजा द्रुपद को बन्दी बना लिया और उसे लाकर गुरु द्रोणाचार्य के चरणों पर डाला और उन्होंने इस प्रकार गुरु-दक्षिणा चुका दी।

तब द्रुपद ने द्रोणाचार्य से क्षमा की याचना की। द्रोणाचार्य ने द्रुपद को क्षमा कर दिया तथा उसका आधा राज्य भी उसे वापस दे दिया और आधा राज्य स्वयं ले लिया। इससे द्रुपद का मन द्रोणाचार्य के प्रति शुद्ध न हुआ तथा उसके हृदय में बदला लेने की भावना जागृत हो उठी।

द्रुपद के कोई सन्तान न थी। उसने महर्षि याग और उपयाग की सहायता से पुत्रेष्टि यज्ञ किया जिसके फलस्वरूप उसके घर में एक पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ। पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न और पुत्री का नाम कृष्णा रखा गया। द्रुपद की पुत्री होने से कृष्णा का दूसरा नाम द्रौपदी प्रसिद्ध हुआ। इसी धृष्टद्युम्न ने महाभारत के युद्ध में द्रोणाचार्य को मारकर अपने पिता का तप्त हृदय शान्त किया था।

भीष्म पितामह से अपने अपमान का बदला लेने के लिये काशीराज की एक कन्या ने राजा द्रुपद के इसी यज्ञ में स्थूनाकरण नाम के देवता से पुरुषत्व का दान प्राप्त किया था जिससे वह शिखण्डिनी नाम से प्रसिद्ध हुई थी और राजा द्रुपद की पुत्री कहलाई।

तदनन्तर हस्तिनापुर के सब लोगों ने मिलकर विचार-विमर्श किया कि धृतराष्ट्र जन्मान्ध होने के कारण राजकार्य सम्भालने में असमर्थ है। भीष्म अपनी कठिन प्रतिज्ञा के कारण राज्य भोगना ही नहीं चाहते। युधिष्ठिर धर्मात्मा भी हैं और कौरव तथा पाण्डवों में सबसे बड़े भी हैं एवं राजा पाण्डु के उत्तराधिकारी भी हैं। इसलिये धर्मराज युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का राजा बनाया जाये।

यह सूचना जब दुर्योधनादि कौरवों को मिली तो वे बहुत तिलमिलाए। दुर्योधन तो बहुत ही दुःखी हुआ। तब वह अपने पिता धृतराष्ट्र के पास गया। उसे उलटा-सीधा बहुत कुछ समझाया। उलटी-सीधी पट्टी पढ़ाई। अपने डूब मरने का भय दिखाया और हिचकी भरकर रोने लगा। धृतराष्ट्र का मंत्री कणिक बहुत कुटिल और अतिक्रूर था। उसने भी दुर्योधन का समर्थन किया और राजा को बहुत कुछ ऊँच-नीच समझाकर पाण्डवों को जान से मार डालने का परामर्श देने लगा। यह अन्याययुक्त बात सुनकर धर्म-भीरु धृतराष्ट्र का हृदय काँप उठा। तब उसने इस अधर्म मार्ग पर पद धरने से इंकार कर दिया।

तब फिर मंत्री कणिक ने दुर्योधन के परामर्श से पाण्डवों को कुन्ती सहित मार डालने की एक गुप्त योजना तैयार की और धृतराष्ट्र से कहकर उनको वारणावत में महोत्सव देखने के लिये भेज दिया गया। मार्ग में जाते हुए पाण्डवों को भी इस सारी योजना की सूचना मिल गई।

दुर्योधन ने अपनी चण्डाल चौकड़ी की सम्मति से पहले ही मंत्री पुरोचन को वारणावत में भेज रखा था। जिसने वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर भवन निर्माण करवाया। जो देखने में तो चूने, मिट्टी, लोहे और ईंटों से बना हुआ मालूम होता था परन्तु वास्तव में सारे का सारा लाख आदि ऐसी सामग्री से बना हुआ था जो दीपक की जलती हुई बत्ती के किंचित्मात्र स्पर्श से भी तत्काल भस्म हो सकता था और भीतर के किसी व्यक्ति का जलने से बच निकलना असम्भव था।

जब पाँचों पाण्डव कुन्ती सहित वारणावत में पहुँचे तब कौरव राज्य के कर्मचारियों ने उनका अत्यन्त आदर-सत्कार और स्वागत किया तथा उस नवनिर्मित सुन्दर भवन में ले जाकर ठहराया। उनके वहाँ प्रविष्ट होने का समय प्रातःकाल था। पाण्डवों ने दिन भर के श्रम से उस भवन के भीतर से एक सुरङ्ग खोदकर वन की ओर निकलने के लिये मार्ग बना लिया। यह कार्य अत्यन्त गुप्त रूप से किया गया। रात के दस बजे के लगभग पाण्डव लोग भवन को आग लगाकर माता कुन्ती सहित बाहर निकल गए। दुष्ट मंत्री पुरोचन भीतर सोया हुआ ही जलकर भस्म हो गया। उस पापी को अपने पाप का फल तत्काल ही मिल गया। उस भवन के बाहर के बरामदे में पाँच पथिक और एक स्त्री रात काटने के लिये सोए हुए थे। वे भी साथ ही जल गए।

जब प्रातःकाल हुआ तो वारणावत के सकल निवासी उस जले हुए भवन को देखने लगे। जब उन्होंने जले हुए छः शव देखे तो उन्होंने अनुमान किया कि पाँचों पाण्डव अपनी माता कुन्ती सहित जलकर मर गये हैं जिससे समस्त नगर निवासी सिसकियाँ भरने और फूट-फूटकर रोने लगे। जब यह सूचना हस्तिनापुर पहुँची तो शत्रुओं के नाश से दुर्योधन आदि कौरवों को अत्यन्त उल्लास और हर्ष हुआ। परन्तु राजा धृतराष्ट्र ने शोक मनाया तथा पाण्डवों का क्रिया-कर्म सब कुछ विधिपूर्वक करवाया गया।

पाण्डवों ने वन में जाकर ब्राह्मणों का रूप धारण कर लिया और वे दक्षिण की ओर जाने लगे। मार्ग में चलते-चलते भीम ने महाप्रतापी हिडिम्ब नाम के एक राक्षस का वध किया। उसकी भगिनी हिडिम्बा भीम की शूरता और सुन्दरता को देखकर उस पर आसक्त और अत्यन्त अनुरक्त हो गई। इसलिये

भीम ने उसके साथ गन्धर्वविवाह कर लिया जिसने भीम के प्रसिद्ध वीर पुत्र घटोत्कच को जन्म दिया ।

कुछ समय के अनन्तर पाण्डवों को सूचना मिली कि राजा द्रुपद की सुन्दर सुपुत्री द्रौपदी का स्वयंवर शीघ्र ही होने वाला है उसमें अनेक शूरवीर योद्धा एकत्रित होंगे । अतः हमें भी वहाँ जाना चाहिए, यह सोचकर ब्राह्मणवेषधारी पाण्डव पाँचाल में चले गये और यथासमय स्वयंवर भूमि में प्रविष्ट हुए । उस समय सुन्दर वेशभूषा से सजे हुए अनेक राजा लोग देश देशान्तरों से आकर वहाँ विराजमान थे । रंगभूमि खूब सजी हुई थी । उस पर अति रंग बरस रहा था । द्रौपदी हाथ में जयमाला लिये एक चमकीले और सुन्दर ऊँचे स्थान पर स्थित थी, जिसकी वेशभूषा, रूप और लावण्य को देखकर देव, दानव और मनुष्य सब मोहित हो रहे थे तथा उसके पाने की लालसा और आकांक्षा रखते थे ।

एक अत्युच्च स्तम्भ पर एक कृत्रिम मछली बनी हुई थी जिसके नीचे तीव्र वेग से अरों से युक्त एक चक्र घूम रहा था । शर्त यह थी कि जो योद्धा धनुष द्वारा चलाए गए एक ही तीर से मछली के नेत्र को बींधेगा वही द्रौपदी को प्राप्त करेगा ।

जब बारी-बारी से सब योद्धा विफल होकर लज्जा से सिर झुकाकर स्वस्थानों पर जाकर बैठ गए तब कर्ण धनुष उठाने के लिए उठा । परन्तु द्रौपदी ने एक सूत-पुत्र के गले में जयमाला डालना अस्वीकार कर दिया । तब कर्ण भी लज्जित होकर स्वस्थान पर बैठ गया ।

तब ब्राह्मणों की पंक्ति से ब्राह्मणवेषधारी अर्जुन उठा । उसने धनुष बाण उठाया और अति लाघवता और कौशल से तीर द्वारा मछली की आँख को बींध दिया । यह देखकर द्रौपदी ने अर्जुन के गले में जयमाला डाल दी । यह देखकर वीर क्षत्रिय योद्धा भड़क उठे और उन सबके क्रोध का पारा सौ अंश सैंटीग्रेड तक ऊँचा हो गया । उस स्वयंवर-सभा में भगवान् कृष्णचन्द्र भी विद्यमान थे । यह गड़बड़ देखकर वे बोले—इस ब्राह्मणकुमार ने द्रौपदी को अपने पराक्रम से प्राप्त किया है और द्रौपदी ने भी अपनी इच्छा से इस ब्राह्मण-कुमार के गले में जयमाला डाली है । 'जब मियां बीवी राजी, तब क्या करेगा काजी' । आप सब अपनी-अपनी प्रतिष्ठा लेकर अपने घरों को लौट जाओ, कहीं ऐसा न हो कि युद्ध में हार हो जाने पर रही सही नाक भी जड़ से कट जाए ।

इस प्रकार भगवान् के संकेत-युक्त वचनों को सुनकर सारी सभा शान्ति से समाप्त हो गई अर्थात् सब लोग उठकर अपने-अपने स्थानों को चले गये ।

सायंकाल का समय था। माता कुन्ती प्रभु के चरणों में ध्यान लगाए बैठी थीं। उस समय पाँचों पुत्र सहर्ष उसके पास पहुँचकर बोले माता जी! हमें आज एक अतिसुन्दर वस्तु प्राप्त हुई है। यह सुनकर नेत्र बन्द किए हुए ही बिना सोचे-समझे कुन्ती ने उत्तर दिया—हे पुत्रो! जो कुछ मिला है उसे सब भाई मिलकर भोगो।

यह सुनकर पाँचों भाई बहुत विस्मित और व्याकुल हुए परन्तु अब हो ही क्या सकता था। माता की आज्ञा सदा ही अटल थी। विवश होकर पाँचों को द्रौपदी से विवाह करना पड़ा।

उस समय ही कौरवों को पता लग गया कि कुन्ती सहित पाँचों पाण्डव जीवित हैं। इससे उन्हें अत्यन्त विस्मय और दुःख हुआ। दुर्योधन तो उनको जीवित देखकर अत्यन्त जल-भुन गया मानो उसकी छाती पर सांप लोट गया हो। वह बोला—कि राजा द्रुपद पर तत्काल आक्रमण करके पाँचों पाण्डवों को मृत्यु के घाट उतार देना चाहिए परन्तु भीष्म, द्रोण और विदुर की सम्मति न पाकर धृतराष्ट्र ने ऐसा न होने दिया और विदुर को पाण्डवों के बुलाने के लिये पाँचाल में भेज दिया जो सत्कारपूर्वक पाण्डवों को हस्तिनापुर में ले आए। तब भीष्म और धृतराष्ट्र ने कौरवों और पाण्डवों में आधा-आधा राज्य बाँट दिया।

पाण्डवों ने अपनी राजधानी इन्द्रप्रस्थ (वर्तमान दिल्ली) में बनाई और कौरव लोग हस्तिनापुर में ही रहे।

अर्जुन के दो विवाह और हुए। पहला मणिपुर के राजा की पुत्री चित्रांगदा से और दूसरा भगवान् कृष्णचन्द्र की भगिनी सुभद्रा से। वीरवर अभिमन्यु का जन्म इसी सुभद्रा से हुआ। द्रौपदी के पाँच पुत्र थे। युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीम से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुल से शतानीक और सहदेव से श्रुतसेन।

पाण्डवों ने खाण्डव वन को जला दिया, जिससे कृषि-योग्य भूमि निकल आई और वहाँ पर बहुत सी धरती ठीक करके सुन्दर नगर और ग्राम बसाए गये जिससे देश की बहुत उन्नति और अति धन-समृद्धि हुई। प्रजा प्रेमपूर्वक सुख और शान्ति से रहने लगी।

एक दिन भगवान् कृष्ण और अर्जुन यमुना तट पर बैठे थे। तब भगवान् की आज्ञा से अर्जुन ने अग्नि देवता की आराधना की, जिससे तत्काल अग्निदेव प्रकट हुए और अर्जुन से वर मांगने के लिये कहा। तब अर्जुन ने उपयुक्त युद्ध सामग्री की प्रार्थना की जिसे अग्नि ने स्वीकार किया और जल देवता वरुण

को बुलाया और दोनों ने मिलकर अर्जुन को एक तो तीरों से सदा भरा रहने वाला तरकश या मेगज़ीन दिया और उसके साथ ही गाण्डीव नाम का एक धनुष दिया, दूसरे इन्द्र से लाया हुआ एक रथ दिया जो मजबूत फौलाद का बना हुआ था जिसमें चार श्वेत घोड़े जुते हुए थे अर्थात् घोड़ों के समान मुखों वाले चार श्वेत इंजन लगे हुए थे जिन्हें जल और अग्नि दोनों देवता मिलकर चलाते थे। यह रथ बहुत विशाल और अत्यन्त शीघ्रगामी था तथा वायु, पृथ्वी और जल में एक समान चल सकता था। उसके दो भाग थे। पिछले में युद्ध-सामग्री, तीर, बम और गोला-बारूद आदि रखा जाता था और अगले भाग में सारथी और रथी दोनों योद्धा छिपकर बैठते थे जो आप तो सबको देखते थे परन्तु आप किसी को दिखाई नहीं देते थे। उस रथ की ऊँची सुन्दर ध्वजा पर कपिराज हनुमान् का एक ऐसा सुन्दर चित्र बना हुआ था जिसमें बैठे हुए साक्षात् स्वयं हनुमान् विराजमान दिखाई देते थे। अर्जुन इस युद्ध-सामग्री को पाकर अतीव प्रसन्न हुआ।

थोड़े समय के अनन्तर अर्जुन ने इन्द्र के साथ युद्ध किया। तब पुत्र अर्जुन की वीरता से इन्द्र अति प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे आग्नेय और वायव्य आदि अनेक दिव्यास्त्र दिए। कहने का भाव यह है कि अर्जुन को उस समय अत्यन्त कठोर और भयानक ऐटम और उदजन बम इन्द्र ने दिए थे या शाही खर्च करके उसने बना लिए।

मयदानव नामक कुशल और निपुण शिल्पी द्वारा इन्द्रप्रस्थ में एक विशाल और मनोहर सभा भवन बनवाया गया।

तदनन्तर मगध देश पर चढ़ाई करके जरासन्ध राजा को मारा गया और उसके द्वारा बन्दी बनाए गये अनेक राजाओं को मुक्त कराया गया।

तब फिर युधिष्ठिर ने महाराजाधिराज होने के लिये राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया। अनेक ब्राह्मणों, देश-देशान्तर के राजाओं तथा कौरवों को उसमें निमंत्रित किया गया।

व्यास जी ब्रह्मा बने, सुसामा ऋषि ने उद्गाता का पद संभाला। महर्षि याज्ञवल्क्य को अध्वर्यु बनाया गया और महर्षि पैल और महर्षि धौम्य दोनों 'होता' हुए।

आए हुए पाहुनों का यथायोग्य स्वागत, आदर और सत्कार किया गया तथा यज्ञ सम्बन्धी सेवाएँ सबको यथायोग्य सौंप दी गई।

पहली अर्घ्य-पूजा आनन्दकन्द भगवान् श्री कृष्णचन्द्र की की गई। इस पर चेदिराज शिशुपाल ने बहुत बुरा मनाया और क्रुद्ध होकर यज्ञ विध्वंस

करने के लिये उद्यत हो गया। तब सारा कार्य बिगड़ता देखकर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने उसका सिर सुदर्शनचक्र से उड़ा दिया। इस प्रकार यज्ञ की रक्षा कर ली गई। इस प्रकार जब यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया तो अन्त में धर्मराज सम्राट् युधिष्ठिर के सार्वभौम महाराजाधिराज होने की घोषणा कर दी गई।

इस प्रकार इस मंगलकार्य के समाप्त हो जाने पर सब राजा और ब्राह्मण लोग स्व स्व स्थानों को वापस चले गये। केवल दुर्योधन और उसका मातुल शकुनि ही शेष रह गये।

अगले दिन वे दोनों चल-फिरकर विचित्र तथा अद्भुत सभा भवन की शोभा देखने लगे। उस समय ईर्ष्या से दुर्योधन की मति भ्रमित और विचलित हो गई। स्फटिक के फर्श को उसने जल समझा और उसमें उतरने के लिये कमर से निचला वस्त्र ऊँचा कर लिया और जब उस पर पाँव रखा तो पता चला कि यह जलाशय नहीं है। आगे चलकर उसने निर्मल जल युक्त जलाशय स्फटिक मणि का फर्श समझा और जब उस पर चलने के लिये पांव रखा तो धड़ाम से उसमें गिर गया और सारे वस्त्र पानी से भीग गए। वहाँ से निकलकर जब बाहर धूप में जाने लगा तो स्फटिक से बनी हुई भित्ति को द्वार समझकर टकरा गया जिससे मस्तक पर बहुत चोट लगी। जिसे उसने बन्द किया हुआ द्वार समझकर खोलने की चेष्टा की वह तो खाली स्थान ही निकला जिससे द्वार का सहारा न मिलने से वह एक बार फिर लड़खड़ाकर गिर पड़ा। यह सब कुछ देखकर पाण्डव लोग और उनकी रानियाँ हँस रही थीं। महल की खिड़की में बैठी हुई बड़ी भाभी द्रौपदी ने व्यंग करते हुए यह फबती कसी बहनों! तुम आश्चर्य न करो। "अन्धों के पूत अन्धे ही होते हैं।" इस व्यंग और पाण्डवों की हँसी ने दुर्योधन के हृदय में गहरा घाव कर दिया। मानो उस समय उसका हृदय राख में पड़े हुए कोयले की भाँति शक्तिहीन हुआ सुलग रहा था। वह तो पाण्डवों के वैभव और सम्पत्ति को देखकर पहले ही जल-भुनकर कबाब हो रहा था। आज के इस उपहास ने जलते हुए पर पेट्रोल गिराने का काम किया। उसका क्षण-क्षण महाकष्ट से कटने लगा तथा उसके तन-मन को उस समय द्वेषाग्नि की ज्वाला की लपटों ने घेर रखा था। सम्भव था कि उस समय उसके हृदय की गति रुक जाती परन्तु मामा शकुनि ने उसे धैर्य और आश्वासन देकर बचा लिया और उसे पाण्डवों से प्रतिकारशोध की अचूक युक्ति कही जिससे उसे अपने शोक के अपनय होने और शत्रुनाशरूपी मनोरथ पूर्ति की एक किरण दिखाई देने लगी। तब वह उसी दिन मामा शकुनि सहित हस्तिनापुर को लौट आया।

दुर्योधन ने अपने पिता धृतराष्ट्र से निज मन की महाव्यथा वर्णित की तथा पाण्डवों के वैभव और प्रचुर सम्पत्ति का ब्योरा कहा और पिता को इस बात के लिये तैयार कर लिया कि वह पाण्डवों को हस्तिनापुर बुलाए और उनसे जूआ खेला जाए।

तब विदुर को बुलाया गया तथा धृतराष्ट्र ने उससे इस सम्बन्ध में सम्मति जानने की इच्छा प्रकट की तब विदुर ने उत्तर दिया—हे राजन्! आपकी इस नियोजित द्यूतक्रीड़ा योजना से सम्पूर्ण वंश का सर्वनाश हो जायेगा। इसलिये अब आप सोई हुए कलह को न जगाइए। बड़ी कठिनता से पहली बार शान्ति स्थापित हुई है परन्तु भाग्यहीन धृतराष्ट्र महानीतिज्ञ विदुर की इस हितकारक सम्मति को न माना क्योंकि उसे भय और पूर्ण विश्वास था कि ऐसा न करने से दुर्योधन अपने प्राणों से हाथ धो बैठेगा जिससे मुझ अन्धे की लाठी का सहारा जाता रहेगा।

तब फिर विदुर को ही इन्द्रप्रस्थ से पाण्डवों को लाने के लिये कहा गया। विदुर वहाँ न जाना चाहता हुआ भी ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा का उल्लंघन न कर सका और छाती पर पत्थर बाँधकर पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ में पहुँचा और धृतराष्ट्र का सन्देश पाण्डवों से कहा।

विदुर के जाने के बाद हस्तिनापुर में एक हजार खम्भों वाला, सौ द्वारों से सुसज्जित स्वर्णरत्न-खचित एक अत्यन्त सुन्दर क्रीड़ा-भवन निर्माण कराया गया और इस द्यूत महोत्सव की बड़ी सजधज के साथ तैयारियां की गईं। यद्यपि पाण्डव हस्तिनापुर में आना न चाहते थे परन्तु अपने ताऊ धृतराष्ट्र के आग्रह और आज्ञा का उल्लंघन न कर सके और विदुर के साथ ही हस्तिनापुर पहुँच गए।

दूसरे दिन द्यूतक्रीड़ा का आयोजन किया गया। द्यूतक्रीड़ा-भवन का फर्श संगमरमर का बना हुआ था। उस पर दरियां, जाजम, मखमल और रेशम से निर्मित गुदगुदे सोने-चाँदी के तिल्ले से फूल-पत्र कढ़े हुए बहुमूल्य वस्त्र बिछे हुए थे। चारों ओर पौर दर्शकों के बैठने के लिए सीढ़ियों की भाँति क्रमशः ऊँची होती गई गैलरियां बनी हुई थीं। गैलरियों के नीचे फर्श पर चारों ओर मखमल के गद्दों वाली स्वर्ण और मणियों से जड़ी हुई चन्दन की लकड़ी से बनी हुई कुर्सियां रखी गई थीं जिन पर धनी-मानी और दूर देशान्तरों से आए हुए राजा लोग बैठे। धृतराष्ट्र का सिंहासन पूर्व के भाग में था जिसका मुख पश्चिम की ओर था। सिंहासन वाले विशाल मंच पर दाहिनी ओर भीष्म पितामह जी एक बहुमूल्य पीठिका पर विराजमान थे और बाईं ओर इसी प्रकार की पीठिका पर गुरु द्रोणाचार्य जी सुशोभित थे। भीष्म की दाहिनी ओर विदुर जी और

द्रोणाचार्य की बाईं ओर कृपाचार्य जी अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठे थे। फिर उनके बाद मंत्री और दूसरे गुरुजन बैठे थे। द्यूतक्रीड़ा प्रारम्भ होने से पूर्व सारे राजकुमार शकुनि और कर्ण आदि दो वर्गों में विभाजित होकर क्रीड़ा-भवन के मध्य में द्यूतक्रीड़ा करने के लिये उद्यत होकर बैठ गए। पाण्डवों की टोली का मुख पूर्व की ओर था और कौरव लोग पश्चिम को मुख किए हुए बैठे थे।

बिगुल बजा और नगाड़े पर चोट पड़ी। साथ ही जूए का खेल प्रारम्भ हो गया। मामा शकुनि के छल और धोखा देने के कारण महाराजा युधिष्ठिर एक भी दाँव न जीत सके। धन-सम्पत्ति हारी, राजपाट हार दिया, चारों भाई हार दिए, अपने आप को हार दिया और अन्त में द्रौपदी को दाँव पर लगा दिया और उसे भी हार गये। अब पास क्या था जो दाँव पर लगाते। बगलें झांकने लगे। यह देखकर शत्रु लोग खिलखिलाकर हँसने लगे। इस प्रकार शकुनि की योजना और सहायता से दुर्योधन ने इन्द्रप्रस्थ में हुए अपने अपमान और तिरस्कार का बदला ले लिया। मूल और ब्याज सहित सारा ऋण चुका लिया। इतने पर ही समाप्ति हो जाती तो फिर भी अच्छा होता परन्तु विधाता को तो कुछ और ही मंजूर था। कौरव वंश के सिर पर महाकाल की छाया दिन-दिन अधिक से अधिकतर घनी होती जा रही थी। उनके परिवार का बेड़ा जल्दी-जल्दी पापरूपी पत्थरों से भरकर अधिक से अधिक बोझिल होता जा रहा था। यह देखकर भारत माता आठ-आठ आँसू रो रही थी और संसार भर की मानवता चीख और चिल्ला रही थी।

दुर्योधन ने अपने छोटे भाई दु:शासन को आज्ञा दी कि वह द्रौपदी को बालों से पकड़कर सभा में लाए। यह आज्ञा पाते ही दु:शासन तत्काल उठा और चीखती चिल्लाती रजस्वला द्रौपदी को बालों से पकड़कर सभा में घसीट लाया। उस समय वह अर्धनग्नावस्था में थी, केवल एक ही साड़ी उसके तन पर थी जिससे वह अपने शरीर और सिर को ढकने का व्यर्थ प्रयास कर रही थी तथा दु:शासन मुँह आई बकवास कर रहा था। तब भीम अति क्रोध से भरा हुआ बोला—हे दु:शासन ! तू कान खोलकर सुन ले, आज मैं इस भरी सभा में प्रतिज्ञा करता हूँ कि रणभूमि में तेरा यह कठोर हृदय फाड़कर उससे उबल रहे खून को पान करके मैं अपने मन को तृप्त और शान्त करूँगा और तेरे द्वारा द्रौपदी के जिन बालों का अपमान किया गया है उनको तेरे रुधिर से रंगकर सम्मानित करूँगा।

भीम की इस प्रतिज्ञा को सुनकर दुर्योधन हंसने लगा और द्रौपदी को सम्बोधित करके कहने लगा कि हे द्रुपदपुत्री ! तुम इस भीम की बातों पर विश्वास न करो, ये बेचारे तो अब हमारे दास हो चुके हैं। इसलिये अब ये तेरा

कुछ भी बना या संवार नहीं सकते। अरी दासी ! आओ, नंगी होकर इस अन्धे के पुत्र दुर्योधन की रान (जंघा) पर बैठो। जब द्रौपदी ने दुर्योधन की बकवास का कुछ उत्तर न दिया तो दुर्योधन ने फिर दु:शासन को आज्ञा देते हुए कहा—हे भाई दु:शासन ! द्रौपदी लज्जा के मारे स्वयं नग्न न होगी। तुम इसे नंगा कर दो ताकि यह सहर्ष इस अंधे के पुत्र की जाँघ पर बैठ सके। यह आज्ञा पाते ही तुरन्त दु:शासन द्रौपदी की साड़ी खींचने लगा। उस समय उस दीन अबला ने अपने हृदय में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र को स्मरण किया और कहा—मेरे पाँचों पति इस समय पराधीन हो चुके हैं। भीष्म, द्रोण आदि धर्मात्मा लोग सभा में तो बैठे हैं परन्तु किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं। अब मेरी लाज केवल एकमात्र तेरे हाथ है मेरा हठ कोई नहीं है। अपनी प्रतिष्ठा और महानता की ओर देखो।

द्रौपदी की ऐसी पुकार सुनकर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र अनन्त साड़ियों का रूप धारण करके द्रौपदी के शरीर पर लिपट गए जिससे साड़ी खींचते-खींचते दु:शासन की भुजाएं थक गईं। सभा में रंग-बिरंगी साड़ियों के ढेर लग गए परन्तु द्रौपदी नग्न न हुई।

एक कवि ने उस समय का वर्णन इस कविता में कितने अच्छे ढंग से किया है :—

पाइकैऽनुशासन दु:शासन कै कोप धायो,
द्रुपद-सुता को चीर गहे भीर भारी है।
भीष्म करण द्रोण बैठे व्रतधारी तहाँ
कामिनी की ओर काहु नेकु न निहारी है॥
सुनि के पुकार धायो द्वारिका ते यदुराई,
बाढ़त दुकूल खैंचे भुजबल हारी है।
सारी बीच नारी है, कै नारी बीच सारी है
सारी ही की नारी है कै नारी ही की सारी है॥

इस प्रकार भगवान् की कृपा से दु:शासन द्रौपदी को नग्न न कर सका।

तब फिर भीम ने अपनी दाहिनी भुजा उठाकर गरजते हुए कहा—हे दुर्योधन ! तुम कान खोलकर ध्यानपूर्वक सुन लो। यदि मैं रणभूमि में तेरी इस जांघ को गदा मारकर चूर-चूर न करूँ तो देवता लोग मुझे बेशक स्वर्ग-प्राप्ति से वंचित कर दें।

इतने में धृतराष्ट्र की अग्निहोत्रशाला में बहुत से गीदड़ घुस गये और ऊँचे स्वर से चिल्लाने लगे, चारों ओर गधों के हींगने का शब्द सुनाई देने लगा, कौए कांव-कांव करते हुए इधर-उधर उड़ने लगे, गीध और चील उड़ते हुए दिखाई देने लगे, आंधी चलने लगी, वृक्ष उखड़-उखड़कर गिरने लगे, आकाश का रंग लाल और पीला हो गया, पृथ्वी कांपने लगी तथा मकान हिलने लगे, आकाश से रोने-पीटने के शब्द सुनाई देने लगे। सब लोग कांप उठे। धृतराष्ट्र का दिल दहल गया और वह द्रौपदी से बोले—हे पुत्री! मैं बहुत लज्जित हूँ। तुम मनचाहा वर मांगो। तब द्रौपदी ने कहा—यदि आप प्रसन्न हैं तो पाण्डवों को दासत्व से छुड़ाने की आज्ञा दीजिए। यह सुनकर धृतराष्ट्र ने तत्काल पाण्डवों को दासत्व से मुक्त कर दिया और हारी हुई सब धन-सम्पत्ति वापस लौटा दी। तब पाण्डव महाराजा धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर अपनी राजधानी इन्द्रप्रस्थ को वापस लौट गये।

दुर्योधन और उसकी चाण्डाल चौकड़ी यह निर्णय देखकर आगबबूला हो गई। तब दुर्योधन ने अपने पिता धृतराष्ट्र को धमकी दी कि या तो मेरे वचनों को मानो नहीं तो मेरे प्राणों से हाथ धो लो। आपने जो निर्णय किया है वह मुझे और मेरे साथियों को बिलकुल स्वीकार नहीं है। अब इसका एक ही इलाज है कि पाण्डवों को हस्तिनापुर में वापस बुलवाओ ताकि एक बार वे लोग फिर हमसे जूआ खेलें। उसमें शर्त यह रखी जाए कि जो हारे वह बारह वर्ष बनवास करे तथा तेरहवां वर्ष अज्ञातवास करे। यदि विपक्षी अज्ञातवास के दिनों में ढूंढ लें तो फिर पुनः ऐसा ही किया जाए।

पुत्र-स्नेहवश हुए धृतराष्ट्र ने इस बात को स्वीकार कर लिया परन्तु भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर और गान्धारी आदि सब लोग इस प्रस्ताव को सुनकर कांप उठे और महाराजा धृतराष्ट्र को नाना प्रकार से समझाने लगे।

गान्धारी ने दुःखी होकर राजा से कहा—

हे स्वामी! मेरी बात मानिए। इस कुल-कलंक दुर्योधन को घर से निकाल दीजिए। मरता है तो मरने दीजिए, नहीं तो यह सारे वंश का विध्वंस कर देगा। परन्तु धृतराष्ट्र पुत्र-स्नेह से अन्धा हो रहा था इसलिये उस पर किसी के समझाने का कोई प्रभाव न हुआ। सच तो यह है कि उसके कान पर एक जूं तक न रेंगी। आंखों से अन्धा तो जन्म से ही था, अब अक्ल का भी अन्धा हो गया। "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" वाली उक्ति मानो किसी ने उसके लिये ही कही थी। राजा धृतराष्ट्र ने सब हितचिन्तकों के वचनों की अवहेलना

करके हठपूर्वक पाण्डवों को हस्तिनापुर बुलवा लिया और अपने पुत्रों के साथ जूआ खेलने के लिये विवश या मजबूर कर दिया। परिणाम तो पहले ही सबको ज्ञात था। दाहिने हाथ से छोड़ा हुआ राज्य वाम हाथ से वापस लेना था। पाण्डव हार गये और कौरव जीत गए। शर्त के अनुसार उनको बारह वर्ष का वनवास और तेरहवें वर्ष का अज्ञातवास दिया गया।

तब पाण्डवों ने अपने राजवस्त्र त्याग दिए तथा वनवासोचित वल्कलचीर और मृग-चर्म धारण कर लिये। युधिष्ठिर मुँह ढाँके हुए सिर झुकाकर सबसे आगे चले। उनके पीछे अपनी दोनों भुजाओं को बार-बार देखते हुए भीम चलने लगे। भीम के पीछे अर्जुन अपने पाँवों से धूलिकण उड़ाते हुए चल रहे थे। पीछे चलते हुए नकुल ने अपने सारे शरीर पर धूलि मली हुई थी तथा सहदेव ने अपना मुँह काला किया हुआ था। द्रौपदी अपने बिखरे हुए सिर के बालों में मुँह छिपाए रोती हुई जा रही थी। सबसे पीछे पुरोहित धौम्य थे जो शवयात्रा समय के साम-मन्त्र पढ़ रहे थे।

जब यह समाचार राजा धृतराष्ट्र को मिला तो उसने परम नीतिज्ञ महात्मा विदुर से इस ड्रामे का तात्पर्य पूछा। इस पर विदुर ने उत्तर दिया कि हे राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर ने अपनी दृष्टि के प्रताप से कौरव राज्य को जलने से बचाने के लिये अपना मुँह ढाँपकर सिर नीचा किया हुआ था और भीम भुजाओं को देखकर उनसे कह रहा था कि हे भुजाओ! वह समय तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त होने वाला है जब तुम अपने समस्त शत्रुओं का नाश कर सकोगी। अर्जुन अपने असंख्य अमोघ बाणों के द्वारा शत्रुओं को धूलिकणों के समान उड़ाने और मार देने की प्रतिज्ञा कर रहा था। नकुल का स्वशरीर को धूलिधूसरित करने से तात्पर्य यह था कि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कौरवों को मार-मारकर उनके शवों को धूलिधूसरित कर दूंगा। सहदेव ने अपना मुँह काला करके यह भाव दर्शाया था कि मैं कौरवों के लिये श्याम-वदन महाकाल का रूप हूँ और सम्भावित युद्ध में शत्रुओं को मारकर उनके मुखों को आभारहित और कालिमायुक्त कर दूंगा। द्रौपदी के रोने का तात्पर्य यह था कि कौरवों की स्त्रियां युद्ध में मृतक बने हुए अपने पतियों के शवों के पीछे बिखरे हुए बालों में मुँह छिपाए श्मशानों की ओर जायेंगी। पुरोहित धौम्य दुर्योधन, कर्ण आदि शत्रुओं के शव पाण्डवों के कन्धों पर रखे हुए श्मशान में ले जाए जा रहे देख रहा था। इसी से वह उनकी उत्तरक्रिया के निमित्त साम-मन्त्र पढ़ रहा था।

यह सुनकर अन्धे धृतराष्ट्र को अपने वंश का भावी विनाश भली-भाँति स्पष्टतया दिखाई देने लगा। अब इस अन्धे को अन्धेरे में दूर की सूझने लगी

जिसे सोचकर वह अत्यन्त व्याकुल होकर अचेत सा होने लगा। उसकी इस अवस्था को देखकर वृद्ध मंत्री संजय ने कहा हे राजन्! अब आपका इस प्रकार चिन्ता करना व्यर्थ है और शोक करने से कोई लाभ नही है। महाराज अब अपने अपराध को स्वीकार करें और उसका फल भोगने के लिये उद्यत रहें क्योंकि विष का बीज बोकर अमृत की प्राप्ति असम्भव है। अब तो आपके इस कुरु वंश का विनाश अवश्य ही होगा। अब तो इस अवश्यंभावी विनाश को कोई रोक नहीं सकता।

पाण्डव बड़े दानी और अतिथि-सेवा करने वाले थे। युधिष्ठिर को चिन्ता हुई कि वन में मैं अतिथि-सत्कार कैसे किया करूँगा? जब धर्मराज युधिष्ठिर ने अपनी यह चिन्ता पुरोहित धौम्य से कही तो धौम्य ने सुझाव दिया कि आप लोग विधिपूर्वक सूर्य देवता की उपासना करो।

यह आज्ञा पाकर पाण्डवों ने नारायण सूर्य देवता की उपासना की। वह सब विधि प्रयोग में लाई गई जिसका धौम्य ने निर्देश किया था। सारा अन्न सूर्य की ऊर्जा से ही उत्पन्न होता है और सूर्य की धूप के द्वारा अन्न पकाया भी जा सकता है। ये दोनों कार्य सम्पन्न करने की विधियाँ महर्षि धौम्य ने खोज निकाली थीं जो पाण्डवों को भी सिखा दी थीं जिससे वन में उनके भोजन का प्रश्न हल हो गया था। इससे सूर्य भगवान् ने उन्हें एक अक्षय स्थाली [भोजन समाप्त न होने वाली हाँडी या पतीली] प्रदान कर दी। साथ ही यह भी कहा कि अन्त में द्रौपदी के भोजन कर लेने पर ही इसमें डाले हुए भोजन की समाप्ति होगी।

एक बार ऋषि दुर्वासा जी अपने सैकड़ों शिष्यों को लेकर पाण्डवों के पास उस समय पहुँचे जब द्रौपदी भी भोजन कर चुकी थी और पाण्डवों के पास अतिथि-सत्कार की कोई भी सामग्री शेष न रही थी।

तब द्रौपदी ने सर्वान्तर्यामी भगवान् कृष्ण को स्मरण किया और सर्व-व्यापक प्रभु दियासलाई रगड़ने से प्रकट हुई अग्नि की तरह तत्काल प्रकट हो गये और सर्वान्तर्यामी भगवान् द्रौपदी के अन्तःकरण की व्यथा जानकर बोले—हे द्रौपदी! अक्षय स्थाली मेरे पास उठा लाओ। तब भगवान् ने उस अक्षय स्थाली के भीतर चावल का एक दाना लगा हुआ देखा और उसको निकालकर अपने मुख में डाल लिया। असीम और अनन्त भगवान् के तृप्त हो जाने से तत्काल सारी सृष्टि तृप्त हो गई। दुर्वासा ऋषि और उसके सब शिष्य भोजन से तृप्त हुओं के समान डकारें लेने लगे और भोजन की अरुचि होने के कारण वापस चले गये। इस प्रकार दुर्वासा की पाण्डवों को अपमानित करने की दुराशा भगवान् कृष्ण ने विफल कर दी।

वन में रहते हुए अर्जुन ने भगवान् शङ्कर की आराधना की तो आशुतोष शिव भगवान् उससे प्रसन्न हो गए और उन्होंने अर्जुन को एक अमोघ अस्त्र दिया जिसका नाम "पाशुपत अस्त्र" था। उसके प्रयोग की विधि भी उसे सिखा दी।

इसके अनन्तर अर्जुन स्वर्ग में चला गया और अपने असली पिता इन्द्र से वज्र प्राप्त किया और अन्य सब दिव्य (ऐटमी) अस्त्र-शस्त्रों को प्रयोग करना सीख लिया।

जब कौरवों ने पाण्डवों को वनवास दिया था तो उसके साथ ही दुर्योधन और उसकी चाण्डाल चौकड़ी ने वन में गये हुए पाण्डवों को मार डालने की योजनाएं बनाना भी प्रारम्भ कर दिया था परन्तु किसी समय भी उनका बाल बांका न कर सके।

अपनी निर्धारित योजना के अधीन होकर एक बार कौरव पाण्डवों को मारने के लिये वन को जा रहे थे कि मार्ग में जाते हुए चित्रसेन गन्धर्व से उलझ पड़े। गन्धर्वों की मार खाकर कर्ण तो भाग गया परन्तु दुर्योधन और उसके सब भाई गन्धर्वों के चंगुल में फँस गये। जब यह सूचना वन में पाण्डवों को मिली तो युधिष्ठिर ने अर्जुन को वहाँ भेजा जिसने जाकर कौरवों को गन्धर्वों से मुक्ति दिलाई।

अङ्ग देश का राजा कर्ण बड़ा दानवीर था। अर्जुन का कट्टर शत्रु भी था। राजा इन्द्र ने सोचा कि महाभारत के भावी युद्ध में पुत्र अर्जुन को बचाना उस समय तक कठिन है जब तक कर्ण के पास सूर्य द्वारा प्रदान किए हुए कुण्डल और कवच विद्यमान हैं। तब इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके कर्ण के पास गया और दान रूप में उससे कुण्डल और कवच दोनों वस्तुएँ प्राप्त कर लीं और प्रसन्न होकर कर्ण को अपनी अमोघ शक्ति प्रदान कर दी। साथ ही कह दिया कि प्राणों पर संकट आ पड़ने पर यह एक बार ही चलाई जा सकती है तत्पश्चात् यह हमारे पास वापस लौट आयेगी।

राजा धृतराष्ट्र की दुःशला नाम की एक कन्या थी जो सिन्ध के राजा जयद्रथ से विवाही हुई थी। जयद्रथ भी अपने साले दुर्योधन की तरह पाण्डवों का शत्रु बना हुआ था। वह एक दिन पाण्डवों की अनुपस्थिति में वन में आया और द्रौपदी को अकेली पाकर बलात्कार करने की चेष्टा करने लगा तो उसी समय पाण्डव आश्रम में लौट आए। उन्होंने जयद्रथ की सेना को मार-मारकर भगा दिया तथा जयद्रथ को बन्दी बना लिया परन्तु युधिष्ठिर को उसकी इस दुर्दशा पर बहुत दया आई। इसलिये उसने उसे जीवन-दान

देकर कारागार से मुक्त कर दिया। इस प्रकार उनके वनवास के बारह वर्ष पूरे हो गये।

अज्ञातवास का तेरहवां वर्ष प्रारम्भ होने से पूर्व ही पांचों पाण्डवों और द्रौपदी ने अपने वेष परिवर्तित कर लिये और विराट नगरी में प्रविष्ट हो गये। नगरी में प्रवेश करने से पहले उन्होंने अपने सब अस्त्र-शस्त्र वन में एक स्थान पर जाकर छिपा दिए थे।

सबसे पहले ब्राह्मणरूपधारी युधिष्ठिर राजभवन में पहुँचा और उसने राजा विराट से कहा—महाराज ! मैं एक ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम 'कंक' है। मैं राजा युधिष्ठिर का प्रिय मित्र हूँ। मैं सदा उनको राजकाज में परामर्श दिया करता था। उनका राज्य नष्ट हो जाने से मैं आपके पास वेतनार्थी होकर आया हूँ। तब राजा विराट ने उसको योग्य ब्राह्मण जानकर अपना मंत्री बना लिया।

तदनन्तर भीम ने राजभवन में प्रवेश किया तथा राजा विराट से नम्रता-पूर्वक निवेदन किया। महाराज ! मैं एक ब्राह्मण हूँ और मेरा नाम बल्लभ शर्मा है। मैं रसोई बनाने में अत्यन्त कुशल और कुश्ती लड़ने में परम प्रवीण हूँ। अपनी दोनों कलाओं से महाराजा युधिष्ठिर को बार-बार प्रसन्न करके कई बार पारितोषिक प्राप्त कर चुका हूँ। राजा विराट ने उसकी परीक्षा करके उसे अपना प्रधान रसोइया बना लिया। तब द्रौपदी विराट महिषी सुदेष्णा के पास जाकर बोली—हे महारानी ! मैं सैरिन्ध्री (अंतःपुर में काम करने वाली दासी) हूँ। रानियों के श्रृंगार करने की कला में अत्यन्त दक्ष और कुशल हूँ। महारानी द्रौपदी का श्रृंगार मैं ही किया करती थी। पाँच प्रसिद्ध गन्धर्व गुप्त रूप से मेरे सतित्व की रक्षा करते हैं इसलिये मेरे रूप को देखकर आपको किसी प्रकार की शंका न करनी चाहिए। मैं आपसे सुन्दर वचन कहकर आपका दिल-बहलाव भी भली-भाँति किया करूँगी। यह सुनकर रानी बहुत प्रसन्न हुई और उसने उसे अपने पास नौकर रख लिया।

अर्जुन ने सुन्दर स्त्री का वेश धारण किया हुआ था। उसने भी राजभवन में जाकर राजा से निवेदन किया। हे राजन् ! मैं क्लीव (नपुंसक) हूँ। मेरा नाम 'बृहन्नला' है। मैं गाने और नाचने की कला में बहुत प्रवीण हूँ। मैंने कई वर्ष तक राजा युधिष्ठिर के अन्तःपुर में नाच-गाकर रानियों का मन बहलाया है और राज-कन्याओं को नाचना-गाना सिखाकर इस कला में प्रवीण किया है। इस समय मैं माता-पिता रहित हूँ। अब आप ही मेरे माता-पिता हैं। इसलिए

मुझे अपना लड़का या लड़की समझकर अपने गृह में स्थान दीजिए। यह सुनकर राजा ने अर्जुन (बृहन्नला) को अपनी पुत्री उत्तरा और अन्तःपुर की अन्य स्त्रियों को नाच-गायन सिखाने के लिये नौकर रूप में रख लिया और अन्तःपुर में भेज दिया।

फिर नकुल राजा विराट के पास गया और कहने लगा—मैं सलोतरी (अश्वत्री) के काम में अति निपुण हूँ। घोड़ों का लालन-पालन और चिकित्सा अच्छी तरह से जानता हूँ। मेरा नाम ग्रन्थिक है। इससे पूर्व चिरकाल तक मैं महाराजा युधिष्ठिर के पास नौकरी कर चुका हूँ। तब राजा ने उसको अश्व-विद्या में निपुण देखकर अपना मुख्य अश्वपाल नियुक्त कर दिया।

तदनन्तर सहदेव भी विराट-राजभवन में गया और बोला—मैं 'तन्त्रिपाल' नामक वैश्य हूँ। इससे पूर्व महाराजा युधिष्ठिर की गौओं का पालन किया करता था। पाण्डवों का राज्य भंग हो जाने के कारण अब आपकी शरण में आया हूँ। जब राजा ने परीक्षा की तो उसे गौओं के सम्बन्ध में बहुत कुशल और अति निपुण देखा। "सारे राज्य की सब गौओं का निरीक्षण और चिकित्सा उसी की देखरेख में हो," राज्य भर में ऐसी आज्ञा प्रसारित कर दी गई।

जब अज्ञातवास के साढ़े ग्यारह मास बड़े सुख और शान्ति से व्यतीत हो गए, तब एक दिन सहसा राजा विराट के साले कीचक की दृष्टि सैरिन्ध्री (द्रौपदी) पर पड़ी जिससे उसका मन उसे पाने के लिये लालायित हो गया। तब वह उस पर प्रेम के डोरे डालने लगा और दिनरात उसके आगे-पीछे दुम हिलाते कुत्ते की तरह फिरने लगा। उसका धैर्य फूटकर बह निकला तो वह

टिप्पणी—गी० २।३।। में भगवान् ने अर्जुन से कहा है :—

"क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप !।।" अर्थात् हे शूरसेन की पुत्री वीरमाता पृथा के पुत्र अर्जुन ! इस समय तू क्लीवता को मत प्राप्त हो। यह राजा विराट का राजभवन नहीं है जहाँ तुम शत्रु कौरवों से अज्ञातवास के समय की भाँति "क्लीव" बनकर छिप जाओगे। यह तो कुरुक्षेत्र की रणभूमि है जिसमें अठारह अक्षौहिणी सेना परस्पर लड़कर मरने के लिये एकत्रित होकर उद्यत खड़ी है। कुछ होश करो। कुछ समझ करो। जरा अक्ल के नाखून उतारो। विराट घर में तो तुम में क्लीवता का होना गुणकारी हो सकता था क्योंकि वह समय और था और यह समरभूमि में स्थिति का समय और है। हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्थात् अनेक शत्रुओं को मार भगाने वाले अर्जुन ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को (अर्थात् तेरे विशाल हृदय में जो थोड़ी सी कमजोरी आ गई है उसको) छोड़कर उठ खड़ा हो अर्थात् युद्ध करने के लिये गाण्डीव धनुष उठाकर उद्यत हो जा।।

सैरिन्ध्री के साथ छेड़छाड़ और बलात्कार का भी प्रयास करने लगा। जब द्रौपदी उससे तंग आ गई तो उसने सारा वृत्तान्त भीम से कहा। यह सुनकर भीम ने द्रौपदी से कहा कि तू कोई चिन्ता न कर। अब जाकर उस नीच कीचक से कह देना कि तेरी इच्छा की पूर्ति के लिये राजभवन के पिछवाड़े के एकान्त स्थान में आधी रात के अन्धकार में मैं चारपाई पर सोऊँगी। उस समय तू वहाँ पर आ जाना।

तब द्रौपदी ने तत्काल जाकर यह उक्त योजना कीचक को समझा दी जिसे सुनकर कीचक अत्यन्त खुश हुआ और दिन भर स्वर्गसुख के स्वप्न देखता रहा तथा वह दिन उसे बड़ी कठिनता और अति उत्सुकता से व्यतीत हुआ। सूर्य अस्त होते ही उसने सुगन्धित वस्तुओं को जल में मिलाकर स्नान किया। सारे शरीर को इतर फुलेल आदि से सुवासित किया। बहुमूल्य श्वेत कोमल चमकीले रेशमी वस्त्र धारण किए। मुख सुवास के लिये लौंग, इलायची आदि सुगन्धित पदार्थों से मिश्रित पान का चर्वण किया, बार-बार दर्पण देखा। इसी टीप-टाप में आधी रात का समय हो गया। चलने के समय थोड़ा सा मदिरापान भी किया गया। इतने में सप्तर्षि ध्रुव तारे के शिखर पर आ चुके थे। भीमसेन अपने रसोईघर के काम से निवृत्त होकर निर्दिष्ट स्थान पर नियत समय से पूर्व ही चारपाई पर जाकर लेट चुका था। उसने अपने शरीर को अच्छी तरह से श्वेत चादर से ढाँपा हुआ था।

कीचक ने चलते-चलते एक बार फिर मद्यपान किया और बहुत शीघ्र सैरिन्ध्री के संकेत-स्थान पर पहुँच गया। चारपाई के समीप पहुँचकर देखा कि प्राणप्रिय सैरिन्ध्री घोर निद्रावस्था में पड़ी हुई निद्रा-सुख लूट रही है। उसकी निद्रा भंग होने के भय से बहुत धीरे-धीरे उसके संग लेट गया और चादर उठाकर उसमें प्रविष्ट हो गया। तब भीमसेन ने उसे झट अपनी मोटी और बलिष्ठ बाहों में जकड़ लिया जिससे कीचक के प्राणपखेरू उसके शरीर को छोड़कर तत्काल उड़ गये। तब भीम ने उसकी दोनों भुजाएं, दोनों टाँगें और पाँचवाँ सिर उसके धड़ में इस प्रकार घुसेड़ दिए जिससे उसके शव ने एक चौरस पार्सल का रूप धारण कर लिया। प्रातःकाल होने पर लोगों ने इस मांसपिण्ड को देखा तो वे बहुत विस्मित और चकित हुए। किसी की समझ में कुछ न आ रहा था कि यह क्या माजरा है। बहुत छान-बीन के अनन्तर पता चला कि यह राजा विराट के साले कीचक का शव है और इसकी यह दुर्दशा सैरिन्ध्री की रक्षा करने वाले गन्धर्वों द्वारा की गई है।

उसी दिन मत्सदेश के राजा सुशर्मा ने विराट नगर पर आक्रमण करके राजा विराट को पकड़ लिया परन्तु युधिष्ठिर की आज्ञा से भीम, सुशर्मा को हराकर विराट को छुड़ा लाए।

थोड़े दिनों के अनन्तर कौरवों ने भी विराट नगर पर आक्रमण कर दिया। तब अर्जुन ने विराट पुत्र 'उत्तर' का सारथी बनकर इस आक्रमण को रोका और दुर्योधन, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा तथा भीष्म आदि सबको मार कर भगा दिया। तब इन कौरवों ने हस्तिनापुर में जाकर ही दम लिया। इस युद्ध के तीसरे दिन पाण्डवों के अज्ञातवास का समय समाप्त हो गया तो पाण्डव अपने असली रूप में विराट के सामने प्रकट हो गये जिससे राजा विराट अत्यन्त विस्मित और बहुत प्रसन्न हुए तथा उनके द्वारा राज्य की रक्षा और सहायता किए जाने के लिये उनका बहुत धन्यवाद किया गया। कृतज्ञता प्रकट करने के लिए अर्जुन की शिष्या और अपनी पुत्री उत्तरा की सगाई अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से कर दी।

तब भगवान् कृष्ण, बलराम, सात्यकि, सुभद्रा आदि यादव पक्ष के लोग अभिमन्यु को द्वारका से साथ लेकर विराट नगर में पधारे। द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्र, काशीराज, राजा शिवि, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी आदि सम्बन्धी, हितैषी तथा मित्रगण सब इस विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए और बड़ी धूमधाम से विवाह सम्पन्न हुआ।

तदनन्तर भगवान् कृष्ण और उनके संग आए हुए द्वारका निवासी सुभद्रा सहित अभिमन्यु और उत्तरा को साथ लेकर द्वारका को वापस चले गये। शेष बराती और राजा लोग थोड़े दिनों के लिए विराट नगर में ठहर गये।

एक दिन इन सब लोगों ने महाराजा विराट की अध्यक्षता में एक विराट सभा की जिसमें इस बात पर विचार-विमर्श किया गया कि कौरवों से अपना इन्द्रप्रस्थ का राज्य वापस लेने के लिए अब पाण्डवों को क्या उपाय करना चाहिए क्योंकि बिना यत्न किए कौरव पाण्डवों को राज्य कभी वापस न देंगे। अब केवल एक युद्ध करना ही ऐसा उपाय है जिससे उन कौरव अत्याचारियों से पाण्डवों का राज्य वापस लिया जा सकता है। इसलिये अब युद्ध की पूरी तैयारी करनी चाहिये।

तब यह निश्चय किया गया कि पहले सब राजाओं के पास दूत भेजकर उनसे सहायता की याचना की जाय। तब अर्जुन भगवान् कृष्ण के पास द्वारका में गया। उसने देखा कि आनन्दकन्द श्रीकृष्ण भगवान् तो सोए हुए हैं और उनके सिर की ओर एक पीठिका पर दुर्योधन बैठा है। अर्जुन ने जाते ही भगवान् कृष्ण के चरणों पर सिर झुका दिया। तब भगवान् ने नेत्र खोलकर अर्जुन को देखा और पूछा—

हे अर्जुन ! कुशलपूर्वक तो हो और किस कारण से यहाँ आए हो ? अर्जुन अभी कुछ उत्तर भी नहीं दे पाया था कि भगवान् ने मुड़कर पीछे की ओर

बैठे दुर्योधन को देखा। तब भगवान् ने उससे भी कुशल-क्षेम पूछने के अनन्तर वैसे ही प्रश्न किया।

तब दोनों से यह जानकर कि दोनों ही होने वाले महाभारत के युद्ध में मुझ भगवान् से सहायता लेने के लिये आए हैं—कोमलचित्त दयालु भगवान् ने कहा—आप दोनों ही मेरे पास सहायता के लिए आए हो, इसलिये एक पक्ष में तो हमारी सम्पूर्ण प्रसिद्ध नारायणी सेना होगी और दूसरे पक्ष में हम स्वयं अकेले होंगे परन्तु न मैं प्रत्यक्ष रूप में शस्त्र उठाऊँगा और न ही युद्ध करूँगा।

अर्जुन ! तुझे मैंने पहले देखा है। इसलिए तू इनमें से एक मांग ले।

तब यह सुनकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण को लेना स्वीकार कर लिया और दुर्योधन नारायणी सेना को पाकर प्रसन्न हो गया। तब अर्जुन ने कहा कि आप भगवान् स्वयं मेरे सारथी बनें। यह सुनकर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने कहा—हे अर्जुन ! कोई चिन्ता न करो। ऐसा ही होगा।

इसके बाद दुर्योधन और अर्जुन दोनों अपने-अपने अभीष्ट फलों की प्राप्ति से प्रसन्न हुए अपने-अपने स्थानों को वापस लौट गए।

पाण्डवों के भेजे हुए बाकी दूत भी अपने-अपने कार्यों की सफलता के अनन्तर विराट नगर में वापस लौट आए। तब कौरव पक्ष की सेनाएँ हस्तिनापुर में और पाण्डव पक्ष की सेनाएँ विराट नगर में एकत्रित होने लगीं। अन्त में जब सेनाओं की गणना की गई तो कौरवों की सेना की संख्या ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवों की सेना की संख्या सात अक्षौहिणी हुई।

प्रत्येक अक्षौहिणी में २१८०० रथ (जंगी गाड़ियां), २१८०० हाथी, ६५६१० घुड़सवार और १०६३५० पैदल सैनिक थे। प्रत्येक रथ पर एक योद्धा और एक सारथी विद्यमान था। प्रत्येक हाथी पर एक योद्धा और एक हथवान् चढ़े हुए थे और प्रत्येक घोड़े पर एक योद्धा सवार था। इस प्रकार दोनों पक्षों की सेनाओं में लगभग अड़तालीस लाख मनुष्य उद्यत होकर लड़ने और मरने के लिये तैयार हो गये। जब महाराजा द्रुपद ने देखा कि अब पाण्डवों के पक्ष में युद्ध की तैयारी में कोई कसर, न्यूनता या त्रुटि नहीं रही है तो उसने अपने राजपुरोहित को बुलाया और कहा कि तुम दूत बनकर हस्तिनापुर की राज-सभा में जाओ और कौरवों से कहो कि वे पाण्डवों का राज्य उन्हें वापस दे दें ताकि भयंकर युद्ध से बचा जा सके।

यह सुनकर महाराजा विराट का राजपुरोहित हस्तिनापुर में गया और धृतराष्ट्र, भीष्म आदि से राजा विराट का सन्देश कहा तथा विविध प्रकार से धर्मपूर्वक राजनीति के वचन कहे। दूत के वचनों को धृतराष्ट्र और भीष्म ने

बहुत पसन्द किया और बड़े आदर-सम्मान सहित उसे वापस विराट नगर भेज दिया।

तब फिर कौरवों की ओर से वृद्ध और राजनीतिज्ञ मंत्री संजय को पाण्डवों के पास भेजा गया।

उसने वहाँ जाकर कहा कि महाराजा धृतराष्ट्र अपने शुद्ध और सरल हृदय से कौरवों और पाण्डवों में सन्धि कराना चाहते हैं। आप लोग भी इस बात को स्वीकार कर लें और मेरे पुत्रों द्वारा किए गये समस्त अपराधों को क्षमा कर दें और लाखों मनुष्यों को मृत्यु के मुँह में जाने से बचा लें तथा कोई ऐसा उपाय करें जिससे दोनों पक्षों में स्थायी सन्धि हो सके।

संजय के वचन सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे संजय ! हम कदापि युद्ध करना नहीं चाहते। युद्ध से बचने के लिये ही हमने अनेक दुःख और अपमान सहन किए हैं और हमने पर्याप्त काल तक कौरवों की सद्भावना की प्रतीक्षा की है। यदि अब भी हमारा राज्य हमें लौटा दिया जाए तो हम वैरभाव भूलकर आप सबके गले मिलने के लिए तैयार हैं। यदि कौरव ऐसा करने के लिये तैयार न हों तो हमें केवल पांच ग्राम ही दे दिए जाएं जिन्हें पाकर हम सन्तुष्ट हो जायेंगे और अपने आधे राज्य का स्वत्व छोड़ देंगे।

हे संजय ! पितामह भीष्म के चरण छूकर हमारी ओर से कहना कि आप कोई ऐसा उपाय करें जिससे आपके पौत्र युद्ध की भयंकर अग्नि द्वारा जलाये जाने से बच जायें। महाराज धृतराष्ट्र के चरणों पर हमारी ओर से शीश झुकाकर निवेदन करना कि आपने ही हमें आधा राज्य दिया था। आपने ही उसे अनुचित ढंग से वापस लौटा लिया था। हमने आपकी सब बातें भी पूरी कर दी हैं तो फिर अब आप उसे क्यों दबाए बैठे हो तथा विदुर जी को भी हमारा प्रणाम निवेदन कर देना।

तदनन्तर संजय हस्तिनापुर को वापस लौट गया और विराट नगर में युधिष्ठिर से की हुई सारी बात कौरव-सभा में विस्तारपूर्वक निवेदन कर दी जिसे सुनकर धृतराष्ट्र का मन भर आया और उसने भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और विदुर आदि की उपस्थिति में दुर्योधन से कहा—

हे पुत्र ! पाण्डव बड़े धर्मात्मा और बहुत बलवान् हैं, उनके पास अनेक प्रकार के दिव्य (अलौकिक ऐटमी) अस्त्र-शस्त्र हैं। उनके पक्ष में अनेक अति बलवान् महाशूरवीर योद्धा हैं। उनके पास सुसंगठित एक बहुत बड़ी सेना एकत्रित हो गई है। अब उनको जीतना खाला जी का घर नहीं है। वे लोहे के चने हैं जो तुमसे चबाए न जा सकेंगे। उन्होंने हमारे लिये संजय के पास जो धर्मसंगत

संदेश दिया है पुत्र ! तुम उसे मान जाओ और उनका आधा राज्य उन्हें दे दो और इस कुरुवंश को नाश होने से बचा लो।

यह सुनकर दुर्योधन ने उत्तर दिया, पिताजी ! आप व्यर्थ ही पाण्डवों के बल से डर रहे हैं। यदि उन्हें हारने का भय न होता तो वे आधा राज्य छोड़कर कदापि पाँच ग्राम लेने की गिड़गिड़ाकर याचना न करते।

तब पुत्र के इस तर्क को सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—हे पुत्र ! तुम्हें मतिभ्रम हो गया है जिससे तुम शूरवीर पाण्डवों की नम्रता का अर्थ कायरता समझ रहे हो। यदि वे कायर होते तो तुम्हें गन्धर्वराज चित्रसेन से कैसे बचाते ? तथा युद्ध द्वारा तुम सबको भगाकर विराट राजा की रक्षा कैसे करते ? पुत्र ! मान जाओ। पाण्डवों को उनका स्वत्व देकर कुरुवंश की रक्षा करो।

तब दुर्योधन ने कहा—हे पिताजी ! अन्य सामग्री और सहायता की बात तो एक ओर रही, हम अकेले कर्ण को साथ लेकर ही पाण्डवों का सर्व-नाश कर सकते हैं। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें।

दुर्योधन के ऐसा कहने पर कर्ण बोल उठा—मैंने दिव्य-अस्त्र विद्या के पूर्ण ज्ञाता और धनी श्री परशुराम जी से दिव्य (ऐटमी) अस्त्र-शस्त्र विद्या की शिक्षा प्राप्त की है। उसके बल से सब पाण्डवों के मारने का बीड़ा मैं ही उठाता हूँ।

यह सुनकर भीष्म ने कर्ण को फटकारा और कहा—हे कर्ण ! तुम स्वयं क्यों अपने मुँह मियां मिट्ठु बनते हो। अर्जुन ने विराट नगर में तेरे देखते हुए ही जब तेरे कनिष्ठ भ्राता का वध किया था तो तुम जैसे शूरवीर अपनी जान बचाकर वहाँ से उलटे पाँव क्यों भाग आए थे ? वहाँ पर परशुराम से सीखे हुए ऐटमी आयुध चलाकर क्यों न देख लिये ? और फिर जब वन में तेरे मित्र दुर्योधन सहित सब कौरवों को गन्धर्वों ने पकड़कर बन्दी बना लिया था तो उस समय भी भयभीत होकर तुम हस्तिनापुर को भाग आए थे। क्या उस समय तुमने अपनी शूरवीरता किसी के पास गिरवी रखी हुई थी जो उससे छुड़ाने के लिए वापस आ गए थे ? यदि वे पाण्डव आकर कौरवों को मुक्ति न दिलाते तो सब कौरव आज तक गन्धर्वों के बन्दी बने होते। इसलिए इस समय सभा में तुम छोटा मुँह बड़ी बात मत कहो। इस दुर्योधन को व्यर्थ भड़काकर यह मत कहो—बच्चा चढ़ जा सूली पर तेरा राम भला करेंगे। मैं अच्छी तरह से यह जानता हूँ कि तेरे और तेरे सरीखे दुर्योधन के अन्य मित्रों के दोष से ही कौरववंश का सर्वनाश होने वाला है। यह भी तुम्हें अच्छी तरह से विदित है कि परशुराम जी के शाप से उनसे सीखी हुई तुम्हारी परमाणु अस्त्र विद्या विफल और व्यर्थ हो चुकी है तो अब फिर व्यर्थ डींगें मारने से क्या

लाभ है। कुछ लज्जा तो करो, नहीं तो चुल्लू भर पानी में नाक डुबोकर डूब मरो।

इस प्रकार भीष्म की कठोर भर्त्सना से कर्ण के तन मन को आग लग गई, उसका हृदय जलकर भस्म हो गया। वह आगबबूला होकर क्रोध से काँपता हुआ कहने लगा—हे पितामह ! आपके द्वारा किए गये घोर अपमान के कारण मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक आप जीवित रहेंगे, मैं किसी अस्त्र-शस्त्र को धारण नहीं करूँगा। युद्ध में आपके मारे जाने पर अथवा घायल और असमर्थ होकर गिर जाने पर ही मैं शत्रुओं को मारकर कौरवों की रक्षा करूँगा। यह कहकर वह सभा से उठकर अपने घर चला गया।

तदनन्तर सब सभासदों ने बारी-बारी दुर्योधन को समझाने की बहुत चेष्टा की परन्तु उस पत्थर पर अमृत बिन्दु पड़ने पर भी कोई प्रभाव न हुआ। वह अन्त तक मैं न मानूं की ही रट लगाता रहा।

हस्तिनापुर की राजसभा के सब समाचार सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण जी से कहा—हे केशव ! हे मधुसूदन ! हे केशिनिकन्दन ! सन्धि करने के हमारे सब प्रयास विफल हो चुके हैं। अब आप हमारा पथप्रदर्शन कीजिए, क्योंकि हम लोग तो केवल आपकी ही शरण हैं और आप भी शरणागत पालक हैं।

यह सुनकर सर्वान्तर्यामी भगवान् कृष्ण बोले—हे धर्मराज ! हम चाहते हैं कि युद्ध प्रारम्भ होने से पहले एक बार स्वयं हस्तिनापुर में जाएं और एक बार सन्धि के निमित्त अन्तिम चेष्टा करके देख लें। यह कहकर भगवान् सात्यकि को साथ लेकर हस्तिनापुर को चले गये।

जाकर जब उन्होंने कौरव-सभा में प्रवेश किया तो भीष्म पितामह, धृत-राष्ट्र और विदुर आदि ने उनका अत्यन्त आदर और सत्कार किया। कुशल-क्षेम की वार्ता होने के अनन्तर भगवान् कृष्ण बोले—

हे राजन् ! यह बात तो आपको भली-भाँति विदित ही है कि कौरव और पाण्डव दोनों पक्षों में सारे संसार की सेनाएं युद्ध करने के लिए एकत्रित हो रही हैं जिससे कुरुवंश का सर्वनाश होने में तनिक भी संदेह नहीं रहा है। दोनों ओर बड़े-बड़े योद्धा और शूरवीर लड़ने के लिये उद्यत हो रहे हैं। चाहे पाण्डव जीतें, चाहे कौरव जीतें। लाखों मनुष्यों का संहार अवश्य होगा। एक ओर आपके सगे भतीजे हैं और दूसरी ओर आपके पुत्र हैं। दोनों के मरने से आपका ही वंश मरेगा। पाण्डव धर्मात्मा हैं। उन्होंने कौरवों का कोई अपराध नहीं किया है, न आप जैसे गुरुजनों से कोई असद्व्यवहार किया है। उन्होंने आपको सदा पितातुल्य माना है, मानने योग्य अथवा न मानने योग्य

आपकी सब आज्ञाओं का पालन उन्होंने अपना हानि-लाभ का विचार किए बिना सदैव किया है। आपकी अनुचित आज्ञा का परिपालन करते हुए उन्होंने दो बार द्यूतक्रीड़ा भी की थी जिससे आपके लाड़ले प्यारे पुत्रों ने भरी सभा में उनकी स्त्री द्रौपदी का घृणित अपमान किया था। वे फिर भी आपके सम्मान के कारण से चुप रहे थे। आपके पुत्रों ने दो बार विष देकर भीम को मारने का प्रयास किया था। इस दुष्टता को भी वे भूल गये थे। फिर कुन्ती सहित पाँचों भाइयों को वारणावत के लाक्षा-गृह में जलाने का भरपूर प्रयत्न किया गया। वहाँ से भी वे बच निकले और कभी आपके पुत्रों के इस दुष्कर्म का उन्होंने गिला न किया तथा कई बार दुर्योधनादि आपके सपूत उन्हें वन में मारने के लिए गये परन्तु उनका बाल भी बांका न कर सके। इस पर भी पाण्डव लोग धर्म की मूर्ति और शान्ति का अवतार बने रहे। आपकी आज्ञा और हार्दिक इच्छा का परिपालन करते हुए उन्होंने बारह वर्ष पर्यन्त वन के महान् कष्ट सहन किए। फिर एक वर्ष का अज्ञातवास भी किया। इस प्रकार वह आपके द्वारा की गई कठिन परीक्षाओं में पूर्ण अंक प्राप्त करके उत्तीर्ण हुए तथा जलती और दहकते हुए कोयलों वाली कठिनाइयों की भट्टी से शुद्ध सोने की भाँति कुन्दन बनकर निकले। अब वे अपने राज्य को स्वत्व स्वरूप में भी और पारितोषिक के रूप में भी प्राप्त करने के लिये पूर्णतया योग्य हो चुके हैं। आपके ही कथनानुसार अब उनको उनका स्वत्व अवश्य मिलना चाहिए अन्यथा परिणाम अत्यन्त भयंकर निकलने वाला है। किसी ने ठीक ही कहा है—"अति-शय रगर करे जो कोई। अनल-प्रकट चन्दन ते होई॥" अब पाण्डवों को अधिक सताया जाना ठीक नहीं है। उनको बुलाकर सम्मानपूर्वक उनका राज्य उनको लौटा देना चाहिए। ऐसा करने से आपका यश और शक्ति दोनों बढ़ेंगे। कल के शत्रु आज के मित्र बन जाएँगे तथा आपका वंश चिरकाल तक समृद्ध और भाग्यशाली बना रहेगा।

एक और बात भी आपको तथा आपके पुत्रों को स्मरण रखनी चाहिए कि इस संसार के रहने वालों की तो सामर्थ्य ही क्या है सब सुर और असुर मिलकर भी पाण्डवों को जीत नहीं सकते। तेरे पुत्रों और तेरे वंश की कल्याण और भलाई इसी में है कि पाण्डवों को उनका स्वत्व स्वरूप आधा राज्य दे दिया जाए।

भगवान् कृष्ण के इन नीतिमय वचनों को सुनकर सब सभासदों ने उनकी प्रशंसा करते हुए पूरी तरह से उनके सब वचनों का समर्थन और अनुमोदन किया।

तदनन्तर सभा में आए हुए ऋषि-मुनियों ने दुर्योधन को बहुत समझाया परन्तु उस दुराग्रही ने उन सबका अपमान करते हुए अण्ट शण्ट बकना प्रारम्भ कर दिया।

तब पुत्र की इस अविनय और धृष्टता को देखकर धृतराष्ट्र बहुत तिलमिला उठा तथा आँखों में आँसू भरकर दुर्योधन को धिक्कारने लगा। तदनन्तर अभ्यागत महात्माओं से विनय और नम्रतापूर्वक कहने लगा—

हे पूज्य महर्षिगण! आपका उपदेश तो अमृततुल्य है परन्तु उसके पाने के लिये दुर्भाग्य से यह दुर्योधन कुपात्र है। फिर राजा, भगवान् को सम्बोधित करके कहने लगा—हे केशव! आपने जो कुछ कहा है वह सब कुछ ठीक और उचित है। धर्मसंगत और सुखदायक होने से मन्तव्य है। परन्तु मैं पराधीन हूँ और अपनी मनचाही बात अब किसी से मनवा नहीं सकता। इसलिये आप केवल दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न कीजिए क्योंकि यह हमारी तो कोई बात मानता और सुनता ही नहीं है। तब श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से कहा—

हे दुर्योधन! तुम पाण्डवों से मेल कर लो क्योंकि "जहँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना। जहँ कुमति तहँ विपत्ति नदाना॥" अर्थात् जहाँ वंश में मेल-मिलाप होता है वहाँ पर सब प्रकार के ऐश्वर्य, सब प्रकार की सम्पत्ति और सब प्रकार का वैभव तथा स्थायी सुख होता है। जिस वंश में फूट और कलह होती है उस पर नाना प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं और अन्त में वंश का सर्वनाश और सफाया हो जाता है। धर्मानुसार एकत्र किया हुआ धन चिर-स्थायी होता है तथा इहलोक और परलोक में सुखदाता और शान्तिप्रद होता है। अधर्म करने से दोनों लोक बिगड़ जाते हैं। अतः तुम धर्म, न्याय और नीति पर चलने का प्रयास करो। दूसरों का स्वत्व छीनना ठीक नहीं है। अच्छे कर्म करने से संसार में यश होता है और दुष्कर्मों से अपयश की प्राप्ति होती है। सज्जन शुभ कर्म करके यश उपार्जन करते हैं, दुर्जन दुष्कर्मों से पाप के भागी बनते हैं।

हे दुर्योधन! तुम्हारा यह कुरुवंश सारे संसार में बहुत उज्ज्वल और श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें भरत, कुरु, शान्तनु आदि अनेक यशस्वी और विख्यात राजा हुए हैं जिन्होंने अपने उज्ज्वल यश और प्रचण्ड तेज से सारे संसार को आलोकित किया था और अपने कुरुवंश को समृद्ध और उन्नतिशील बना दिया था। तुम युद्ध के द्वारा इस महान् कुरुवंश का विध्वंस न करो। पाण्डव अत्यन्त गम्भीर धीर और अति वीर योद्धा हैं। उनके पास ऐटमी (दिव्य) अस्त्र-शस्त्र हैं। इन्द्र से प्राप्त किया हुआ वज्र है, महादेव से पाया हुआ पाशुपत् अस्त्र है। चाहे तुम कितने भी बड़े योद्धा हो परन्तु उनको कदापि जीत न सकोगे। ये कर्ण आदि तेरे समस्त चापलूस तुम्हें अंधेरे में रखे हुए हैं। तुम्हारा मन उनकी ठकुर सुहाती बातों को बार-बार सुनकर भले बुरे की परख करने के अयोग्य हो गया है। कुछ समझ करो। कुछ होश करो। युद्ध

का मार्ग त्यागकर सन्धि का मार्ग ग्रहण करो। पाण्डवों से हथियाया हुआ राज्य उनको दे दो इसी में तेरा अति भला है। इसी से तेरा कल्याण होगा और इसी से इस कुरुवंश की रक्षा हो सकेगी। तेरे सारे गुरुजनों की भी यही सम्मति है। इस प्रकार तू और तेरे सारे मित्र सकुशल रहेंगे। फिर भीष्म और द्रोण ने भी दुर्योधन को बहुत समझाया तथा विदुर ने भी नाना प्रकार के नीति-वचन कहे तथा कहा कि अपने बूढ़े माता-पिता की दशा पर दया करो, वे तुम लोगों के मारे जाने पर कहीं के भी न रहेंगे।

दुर्योधन ने किसी की बात पर कोई ध्यान न दिया। उलटा श्रीकृष्ण का अनादर करते हुए बोला—हे कृष्ण! ध्यानपूर्वक कान खोलकर सुनो। मैं किसी से भी डरने वाला नहीं हूँ। चाहे सारे वंश का नाश हो जाए अथवा सम्पूर्ण योद्धा लोग मारे जायें परन्तु हम पाण्डवों को सूई की नोक के नाचे ढक सकने वाला भूभाग भी नहीं देंगे।

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—हे दुर्योधन! तेरी लड़कर मरने की जो इच्छा है वह समय आने पर पूरी हो जायेगी। तू तो स्व-कुल के लिये कलंक है। तुमने बहुत अनर्थ किये हैं जिससे तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो चुकी है। अब तुम्हें अपनी हानि लाभ की कुछ भी सूझ-बूझ नहीं रही है। गुरुजनों पर विश्वास नहीं रहा है। याद रखो भीम द्वारा तोड़ी हुई जाँघ वाले होकर तुम धूलि में लोटते फिरोगे।

भगवान् कृष्ण के वचनों से उत्तेजित होकर दुर्योधन सभा से उठकर बाहर चला गया। तब माता गान्धारी उसे सभा में वापस लाकर उससे कहने लगी—बेटा! हठ न करो, मान जाओ। तब वह अपनी माता के वचनों की अवहेलना करता हुआ फिर सभा से बाहर चला गया और कर्ण, शकुनि और दुःशासन के साथ मिलकर श्रीकृष्ण को पकड़ने की योजना बनाने लगा।

तब सात्यकि ने बाहर से आकर श्रीकृष्ण जी के कान में यह बात कह दी। यह सुनकर कृष्ण जी खिलखिलाकर हंसने लगे और फिर सभा में गम्भीर और उच्च स्वर से बोले—देखो! मूर्ख दुर्योधन सभा से बाहर जाकर हमें पकड़कर बन्दी बनाने का षड़यन्त्र रच रहा है। परन्तु दूत होने के कारण यहाँ हम उसका वध नहीं करेंगे।

तब धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को बुलाकर खूब डांट-डपट की और कहा—अरे मूर्ख! ऐसे निन्दित कर्म से तुम बाज रहो। क्यों समय आने से पूर्व ही सर्वनाश की अभिलाषा कर रहे हो। इन्द्रसहित सारे देवता भी श्रीकृष्ण जी को पकड़ने के लिये असमर्थ हैं, तुझ तुच्छ व्यक्ति की तो मजाल ही क्या है?

तब श्रीकृष्ण जी जोर से हँसे जिससे एक दिव्य तेज उनके चारों ओर फैल गया तथा उनके दाईं ओर अर्जुन, बाईं ओर बलराम तथा पीछे शेष

पाण्डव खड़े दिखाई देने लगे जिससे सब सभासद चकित और भयभीत हो गए। तदनन्तर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने सब सभासदों की ओर देखा और कहा—

हे सभासदो ! हम यहाँ सन्धि कराने के लिये आए थे परन्तु सफल न हो सके क्योंकि राजा धृतराष्ट्र स्वाधीन नहीं है जिससे उसका कुछ वश नहीं चल सका। अब युद्ध का होना निश्चित ही है क्योंकि उसके अतिरिक्त अब और कोई मार्ग शेष नहीं रहा है।

यह कहकर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी अपनी बूआ कुन्ती से मिलने के लिये उसके घर में चले गये और उसको उस अपनी सारी बातचीत से अवगत कराया जो उन्होंने कौरवों की सभा में की थी और फिर युद्ध का होना निश्चित कहा।

तब कुन्ती ने कहा—हे कृष्ण ! मेरे पुत्रों को मेरी ओर से यह कहना कि हे प्रिय पुत्रो ! तुम सब क्षत्रिय के धर्म का भली-भाँति पालन करो। कायर और दीन बनना क्षत्रिय के लिये कलङ्क है। मेरे आशीर्वाद से तुम लोग युद्ध में विजयी होगे। हे कृष्ण ! सुखपूर्वक जाओ, आपके मार्ग कल्याणकारी हों। इसके बाद श्रीकृष्ण जी कुन्ती के चरण छूकर उनसे विदा हुए।

वापस लौटने से पहले फिर सभा में गए और अकेले में कर्ण से कहने लगे कि तुम तो कुन्ती के पुत्र और पाण्डवों के बड़े भाई हो इसलिये दुष्ट दुर्योधन का साथ छोड़ दो। यह सुनकर कर्ण को बहुत आश्चर्य और पाण्डवों के प्रति किये गये दुर्व्यवहार से पश्चात्ताप हुआ। फिर वह सोचकर बोला—अब मेरे लिये कौरवों के विपरीत आचरण करना कृतघ्नता होगी। तब फिर भगवान् ने भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा विदुर आदि सबसे कहा कि जो हरि की इच्छा है वह अटल है। आप सबने शुद्ध हृदय से युद्ध रोकने का प्रयत्न किया परन्तु किसी प्रकार भी यह भावी भयंकर युद्ध रोका न जा सका। इसलिये अब आने वाली अमावस्या को कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध का आरम्भ हो जायेगा आज जिसमें केवल आठ दिन शेष रहते हैं। यह सुनकर भीष्मादि सारे कौरव अवाक् रह गये। सारी सभा में सन्नाटा छा गया। सब एक दूसरे का मुँह ताकने लगे।

तब श्रीकृष्ण जी कौरवों की सभा से विराट नगर को चले गये और हस्तिनापुर का सारा वृत्तान्त पाण्डवों से कहा।

इसके बाद दोनों पक्षों की सेनाएं कुरुक्षेत्र के विशाल मैदान में एक दूसरे के सम्मुख मोर्चाबन्द होकर एकत्रित हो गईं। पाण्डवों की सेना का मुख पूर्व की ओर और कौरवों की सेना का मुख पश्चिम की ओर था। इसका कारण यह था कि विराट नगर पाण्डवों की पीठ के पीछे था और हस्तिनापुर कौरवों की पीठ के पीछे था जिससे दोनों सेनाओं को सामग्री की सप्लाई सुलभ

थी और कुरुक्षेत्र का मैदान दोनों राजधानियों के ठीक मध्य में स्थित था। दो विपक्षी सेनाओं को कुरुक्षेत्र में आने के लिये एक समान मार्ग चलना पड़ा था।

पाण्डव-सेना में द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और भीम, ये सात योद्धा सात अक्षौहिणी सेनाओं के सेनापति थे। इनमें से धृष्टद्युम्न को प्रधान सेनापति का पद भी दिया गया था।

कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणियों के सेनापति कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य, जयद्रथ, सुदक्षिण, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, शकुनि और वाह्लीक थे। उनके प्रधान सेनापति उत्तरोत्तर भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य बने।

युद्ध प्रारम्भ होने से पहले महर्षि वेदव्यास राजा धृतराष्ट्र के पास आए और बोले—हे राजन् ! शूरवीर राजाओं के मरने और भारत के ह्रास का समय आ गया है। घोर दिव्य ऐटमी अस्त्रों से युद्ध होगा जिसमें संसार का सर्व-श्रेष्ठ विज्ञान और कला-कौशल नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा, सब प्रकार की प्रगति रुक जाएगी। हर प्रकार के जीवन-सुलभ साधनों के लोप होने से जगत् की प्रारम्भिक अवस्था हो जायेगी। समय पाकर अनेक झूठे मत मतान्तर फैल जाएँगे जिनमें त्रयकाल न होने वाली बातों का प्रचार होगा, धर्म का भीतरी उदर खाली होगा केवल बाह्य चिह्नों की महानता होगी। अपना झूठा धर्म भी दूसरों को डण्डे के बल से मनवाने की चेष्टा की जाएगी। रोने और शोक करने के लिये अनाथ बच्चे और विधवाएं ही रह जायेंगी प्रभु की यही इच्छा है, काल की ऐसी ही गति है। कभी जन बढ़ते हैं, कभी वन बढ़ते हैं। इसमें न किसी का वश चलता है तथा न किसी का कोई दोष है। अठारह दिन के भीतर ही कुरुक्षेत्र की पवित्र भूमि अच्छी तरह से रक्तरंजित हो जायेगी। हे राजन् ! प्रभुराज्ञा समझ कर तुम्हें शोक न करना चाहिए। यदि कुरुक्षेत्र में लड़कर मर रहे योद्धाओं को देखने की आपकी इच्छा हो तो मैं तुम्हें दृष्टि देता हूँ जिससे आप सब कुछ देख सकोगे। अर्थात् मैं तेरी आँखों के गोलक (डेले) शल्य-क्रिया द्वारा बदल देता हूँ।

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया कि मैं जन्मान्ध हूँ। सुख-सम्पत्ति काल में भी मैंने आँखों से कुछ नहीं देखा है। अतः अब मैं दृष्टि प्राप्त करके अपनी आँखों से अपने वंश को मरता हुआ देखना नहीं चाहता परन्तु मैं युद्ध के समाचार अवश्य सुनना चाहता हूँ।

तब महर्षि वेदव्यास ने कहा—हे राजन् ! वृद्ध मंत्री संजय तुम्हें युद्ध के विषय में सब कुछ बता दिया करेगा। गुप्त, प्रकट, दिन में, रात में जो कुछ

भी रणक्षेत्र में होगा वह सब कुछ संजय जान लेगा और जो कुछ किसी के मन में होगा उसे भी समझ लेगा। यदि संजय युद्धक्षेत्र में भी जायेगा तो उसको कोई अस्त्र-शस्त्र आहत न कर सकेगा और किसी प्रकार का श्रम भी उसके ज्ञान में बाधा न बन सकेगा। ऐसा कहकर महर्षि ने संजय को दिव्य-दृष्टि नाम का यन्त्र प्रदान कर दिया और आप उसी समय अन्तर्धान हो गये। युद्ध के प्रारम्भ होने के अनन्तर दस दिन तक धृतराष्ट्र संजय से इधर-उधर की ही बातें सुनता रहा परन्तु दसवें दिन जब पितामह जी रथ से गिरा दिये गये तीरों की शय्या पर लेट गए और सदा के लिये युद्ध करने के अयोग्य हो गये तो इस समाचार को सुनते ही धृतराष्ट्र व्याकुल हो गये मानो उनकी कमर टूट गई। अब उन्हें कौरवों के जीतने की कोई आशा न रही तो उसके मुंह से गीता का पहला श्लोक सहसा निकल गया जो वास्तव में धृतराष्ट्र सरीखे शोकविह्वल पुरुष के हृदय की व्याकुलता का सूचक था। राजा का जानबूझकर किया हुआ प्रश्न नहीं था। परन्तु संजय ने जानबूझकर संसार के हित के लिये उसे संजय द्वारा पूछा हुआ प्रश्न बना लिया जिसको नींव बनाकर फिर सारी गीता का अत्यन्त सुन्दर प्रासाद उस पर खड़ा कर दिया है।

राजा धृतराष्ट्र को तो स्वप्न में भी यह आशा न थी कि गंगा-पुत्र भीष्म, जो अत्यन्त शूरवीर योद्धा है, कभी पाण्डवों के द्वारा मारा जायेगा परन्तु अन-होनी बात का हो जाना सुनकर उसके शोक का पारावार न रहा। जसके वशीभूत होकर वह गीता के अन्तिम श्लोक तक गीता सुनने में मन न दे सका। वह आलसी भैंसे की तरह आँखें बन्द किए बैठा रहा। उसने न कहीं हां की न हूँ कहा, न ही कहीं कोई प्रश्न पूछा।

टीका में प्रयुक्त संकेत चिह्नों का विवरण

√—यह धातु का चिह्न है।
अदा०=अदादिगण की धातु।
अक०=अकर्मक धातु।
अव्य०=अव्यय शब्द।
आत्म०=आत्मनेपदी।
उभ०=उभयपदी।
ए० व०=एकवचन।
कर्म० स०=कर्मधारय समास।
चतु०=चतुर्थी विभक्ति।
चुरा०=चुरादिगण की धातु।
जुहो०=जुहोत्यादिगण की धातु।
तत्पु०=तत्पुरुष समास।
तना०=तनादिगण की धातु।

तुदा० = तुदादिगण की धातु ।
दिवा० = दिवादिगण की धातु ।
द्वन्द्व० = द्वन्द्व समास ।
द्विगु० = द्विगु समास ।
द्वि० व० = द्विवचन ।
नपुं० = नपुंसकलिङ्ग ।
निपा० = निपातनात् ।
पर० = परस्मैपदी ।
पुं० = पुंल्लिङ्ग ।
पंच० = पंचमी विभक्ति ।
ब० व० = बहुवचन ।
बहुव्री० = बहुव्रीहि समास ।
भ्वा० = भ्वादिगण की धातु ।
रुधा० = रुधादिगण की धातु ।
सक० = सकर्मक ।
स्त्री० = स्त्रीलिङ्ग ।
स्वा० = स्वादिगण की धातु ।

प्रत्यय और आदेश

डैश (—) चिह्न के आगम वाले आदेश हैं और शेष (=) प्रत्यय हैं ।

टाप् = } आ
डाप् = }

ङीष् = } ई
ङीप् = }

ऊङ् = ऊ

फक् — } आयन्
ष्फ् — }
फिञ् — }

ढक् — } एय्
ढञ् — }

ख — ईन्

छ — ईय्

घ — इय्

ष्यञ् = } य
यक् = }
यत् = }
यञ् = }
ण्य = }
ण्यत् = }
क्यप् = }

कन् = } क
कप् = }

ठन् — } इक
ठक् — }
ठञ् — }

क्त = त

क्तवतु = तवत्

क्त्वा = त्वा

क्तिन् = } ति
क्तिच् = }

णमुल् = अम्

क्वुन् — } अक
ण्वुच् — }
ण्वुल् — }
वुञ् — }
ष्वुन् — }
वुन् — }

ल्यु — } अन
ल्युट् — }
युच् — }

णिङ् = } इ
णिच् = }

अच् = } अ
अण् = }
अप् = }
क = }
खच् = }
खश् = }
खल् = }
घञ् = }
ट = }
ठक् = }
ड = }
ण = }
श = }

षाकन् = आक

इनि = } इन्
घिनुण् = }
णिनि = }

इष्णुच् = } इष्णु
खिष्णुच् = }

उण् = } उ
डु = }

उकञ् = उक

नङ् = } न
नन् = }

क्वनिप् = वन्

क्वरप् = वर

झच् — } अन्त्
झिच् — }

तसिल् = तस्, तः

क्विप् = } इन तीनों का कोई भाग शेष नहीं रहता।
क्विन् = }
ण्वि = }

शतृ = अत्।

शानच् = आन, मान।

विशेष ज्ञातव्य

अमावस्या का दिन था, जबकि कुरुक्षेत्र के विशाल विस्तीर्ण मैदान में पाण्डवों और कौरवों की प्रतिद्वन्द्वी सेनाएं युद्ध करने के लिए उद्यत होकर खड़ी थीं तो अर्जुन के मन में सम्बन्धियों को देखकर मोह उत्पन्न हो गया था। तब उस मोह का नाश करने के लिए जो ज्ञान-उपदेश करके अर्जुन का मोहनाश किया था उसका नाम "गीता" है।

जब युद्ध के दसवें दिन भीष्म पितामह घायल होकर रथ से गिर गये तब उस दिन वृद्ध मंत्री संजय ने कृष्ण-अर्जुन का यह गीतारूपी संवाद धृतराष्ट्र से कहा था जिसे बाद में महर्षि वेदव्यास ने छन्दबद्ध करके महाभारत के भीष्मपर्व में अध्याय २५ से ४२ तक लिखा था और फिर उन्होंने महाभारत का ग्रन्थ अपने शिष्य वैशंपायन को पढ़ाया और फिर वैशंपायन ने जन्मेजय को सुनाया। गीता का पहला श्लोक वैशंपायन का वचन राजा जन्मेजय के प्रति है ॥

महाविज्ञान या ब्रह्मविद्या

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीता

(अमृतवर्षिणी टीका सहित)

ॐ श्री परमात्मने नमः

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृत-राष्ट्रः+उवाच—

धर्म-क्षेत्रे कुरु-क्षेत्रे समवेताः+युयुत्सवः। मामकाः पाण्डवाः+च+एव किम् +अकुर्वत संजय ! ॥

धृत-राष्ट्रः=(पुं०) धृतं राष्ट्रं येन सः (प्र०ए०व० बहुव्री०)। महाराजा शान्तनु का पौत्र। विचित्रवीर्य का पुत्र। जन्मान्ध।

जब दस दिन युद्ध करने के अनन्तर महायोद्धा भीष्म को पाण्डवों ने आहत करके रथ से नीचे गिरा दिया तो वे सदा के लिए उठने और युद्ध करने में असमर्थ हो गये। तब वे अर्जुन द्वारा तैयार की गई तीरों की शय्या पर लेट गये और अपनी मृत्यु के लिये उत्तरायण में सूर्य के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

जब यह सूचना राजा धृतराष्ट्र को मिली तो वे हक्के-बक्के रह गये। उनकी कमर टूट गई और होश ठिकाने न रहे। यह बात उनके लिए एक अनहोनी और असम्भव थी। क्योंकि राजा धृतराष्ट्र को तो स्वप्न में भी यह आशा न थी कि महाशूरवीर जगद्विख्यात योद्धा भीष्म युद्ध में इस प्रकार मारा जाएगा। उसी के बलबूते पर तो वह अपना राज्य स्थिर समझता था। दुर्योधनादि अपने पुत्रों और उनके अन्य मित्रों तथा साथियों को तो वह सदा छोकर-खेल और मूर्खमण्डली ही मानता रहा। जब उसने देखा कि मेरे पुत्रों के सिर से साया (छाया)

उठ गया है और अब ये शीघ्र ही मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाएँगे तो उसका हृदय शोकातुर हो गया, अन्धे की आशा की लाठी टूट गई। तब उसने अत्यन्त घबराकर और अशान्त चित्त होकर गीता का पहला श्लोक बोल दिया, जो उसके हृदय की अन्तर्वेदना का सूचक है।

उवाच=√ब्रू (अदा० उभ० अक०=कहना)+लिट्० प्र० पु०, ए० व०=बोला—

धर्म-क्षेत्रे=(नपुं०) धर्मस्य क्षेत्रे (षष्ठी तत्पु०)। सप्त० ए० व०=धर्म-भूमि में।

(इन्द्र देवता ने राजा कुरु के तप से प्रसन्न होकर उसे यह वरदान दिया। जो लोग तेरे इस क्षेत्र में तप करते हुए अथवा युद्ध करते हुए मृत्यु को प्राप्त होंगे, उन्हें इन्द्रपुरी अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति होगी। इन्द्र के इस वरदान के कारण ही "कुरु-क्षेत्र" धर्मक्षेत्र या कुरुक्षेत्र कहलाने लगा।)

कुरु-क्षेत्रे=(नपुं०) कुरोः क्षेत्रे (षष्ठी० तत्पु०)। सप्त० ए०व०=कुरु राजा के क्षेत्र में।

[√कृ+कु, उकारादेश=कुरु (पुं०)। √क्षि+त्रन्=क्षेत्र (नपुं०) =स्थान।]

थानेसर नगर (हरियाणा) के दक्षिण में दिल्ली तक की सारी भूमि महाभारत काल में कुरुक्षेत्र कहलाती थी। वर्तमान कुरुक्षेत्र (तीर्थ) इस क्षेत्र के उत्तर सिरे पर थानेसर से चार मील दक्षिण में है।

समवेताः=(वि०) सम्-अव √इ (भ्वा० पर० अक०=उपस्थित होना)+क्त (कर्तरि)=समवेत+(पुं०) प्र० ब० व०=एकत्रित हुए।

युयुत्सवः=(वि०) √युध् (दिवा० आत्म० अक०=युद्ध करना)+सन्+उ =युयुत्सु+(पुं०) प्र० ब० व०=युद्ध करने के अभिलाषी, लड़ने की इच्छा वाले।

मामकाः=(वि०) अस्मद्+अण्, 'ममक' आदेश=मामक+(पुं०) प्र० ब० व०=मेरे (पुत्रों) ने।

पाण्डवाः=(पुं०) पाण्डोः अपत्यम्, पाण्डु+अण्=पाण्डव+प्र० ब० व०= पाण्डु के पुत्रों ने।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) √इ+वन्=एव (यहाँ 'एव' शब्द समुच्चयार्थ है, इसलिए शब्दार्थ में इसका कुछ भी अर्थ नहीं दिया गया है।)

किम्=(सर्व०) किम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्या।

अकुर्वत=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लङ्० (आत्म०) प्र० पु०, ए० व०=किया।

संजय !=(पुं०, सम्बो० ए०व०)। सम्√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना) +अच्=सञ्जय !। हे संजय !

अर्थ—हे सञ्जय ! धर्म-भूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित हुए युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया। (अर्थात् यह महाभारत का युद्ध प्रारम्भ करके अच्छा न किया) ॥१॥

(यहाँ काकूक्ति अलङ्कार है। यथा—जहाँ कण्ठध्वनि भिन्न से आशय जुदा लखाय। ताको काकु कहत हैं सकल कवन के राय ॥)

प्रसिद्ध अर्थ—हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ? ॥१॥

व्याख्या—उर्दू के एक कवि ने कहा है—"जब बुतों ने रञ्ज दिया तब यादे खुदा आई" अर्थात् जब धृतराष्ट्र के प्यारे लाड़ले पुत्र दुर्योधन के हठ के कारण प्रारम्भ हुए युद्ध में जगद्विख्यात योद्धा भीष्म पितामह जी घावों की ताब न सहन करके रथ से गिर पड़े और बाणों की मृत्यु-शय्या पर लेट गये, तब इस हृदयविदारक सूचना को पाते ही महाराजा धृतराष्ट्र व्याकुल हो उठा और उसको इस बात का अनुभव होने लगा कि मैंने बड़ा अनर्थ किया जो दुर्योधन को नियंत्रण में न रखा और उसके कुत्सित प्यार के कारण जान-बूझकर मैंने अपनी अन्धी आँखों पर भी पट्टी बाँध ली जो अपनी धर्मपत्नी गान्धारी के रोकने पर भी दूसरी बार पाण्डवों को विवश करके द्यूतक्रीड़ा कराई। हाय ! महाशोक है !! मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने यह युद्ध आरम्भ करके क्या किया ? युद्ध होता भी क्यों न, जब कि वे दोनों ही युद्ध करने की इच्छा वाले थे।

धृतराष्ट्र के इस कथन में कितना द्वैतभाव या दुर्भाव दिखाई देता है जो अपने सगे भतीजों को पराये या बेगाने समझकर उन्हें पाण्डु के पुत्र कह रहा है। "हमारे वंश वाले युवकों ने" नहीं कहता। दूसरा अन्याय उसके कथन में यह है कि वह अपने पुत्रों और पाण्डु के पुत्रों को एक ही तुला में तोलता है अर्थात् दोनों को "युद्ध करने की इच्छा वाले" कहता है जो केवल उसकी धक्काशाही है क्योंकि उसके दुर्योधनादि पुत्र तो जन्मकाल से ही पाण्डवों को मारने और उनसे युद्ध करने की इच्छा करते चले आ रहे थे। परन्तु धर्मात्मा पाण्डवों ने तो एक दिन भी कौरवों से लड़ने की इच्छा न की थी। बेशक उन्होंने घोर अपमान और वन के नाना कष्ट भी सहन किये थे। वे लोग तो युद्ध से बचने के लिये अपना समृद्ध राज्य छोड़कर केवल पाँच

ग्राम लेकर भी सन्धि करने के लिए उद्यत हो गये थे। परन्तु उसके जड्डबाज पुत्र तो सूई की नोक जितनी भूमि भी उन्हें देना न चाहते थे। इससे विदित होता है कि पाण्डव कदापि युद्ध की इच्छा वाले न थे। यह युद्ध तो बरबस उनके गले मढ़ा गया था। इसलिये धृतराष्ट्र का अपने पुत्रों सहित पाण्डवों को भी युद्ध की इच्छा वाले कहना पक्षपातपूर्ण कथन है।

कुरुक्षेत्र की भूमि को "धर्मक्षेत्र" कहने से उसका विशेष अभिप्राय यह है कि ऐसी पवित्र पुण्य-भूमि में जाकर भी दोनों पक्षों के योद्धाओं की बुद्धि युद्ध से विरत और शान्त क्यों न हुई ?

S S S

'धर्म-क्षे' में 'ध' अक्षर पर जोर पड़ने से वह दीर्घ माना जायेगा। इसलिए गीता के आरम्भ में 'मगण' है जो अत्यन्त शुभ और पवित्र माना जाता है ॥१॥

संजय उवाच—(संजयः+उवाच)

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

दृष्ट्वा तु पाण्डव+अनीकम्+व्यूढम्+दुर्योधनः+तदा। आचार्यम्+उपसंगम्य राजा वचनम्+अब्रवीत् ॥

दृष्ट्वा=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+क्त्वा=देखकर।

तु=(अव्यय) और।

पाण्डव+अनीकम्=[पुं०, नपुं०, अनिति अनेन इति √अन् (अदा० पर० अक०=जीना, प्राण धारण करना)+ईकन्=अनीक=सेना]।
पाण्डवानाम् अनीकम् (षष्ठी तत्पु०) द्विती० ए० व०=पाण्डवों की सेना को।

व्यूढम्=(वि०) वि√वह् (भ्वा० उभ० सक०=अधिकार में करना, रखवाली करना)+क्त (कर्मणि)+अच्+(पुं०, नपुं०) द्विती० ए० व०=व्यूहरचनायुक्त को। मोर्चाबन्द हुई को।

दुर्योधनः=(पुं०) दुःखेन युध्यते असौ, √युध्+युच् (खल्) प्र० ए० व०। जिसके साथ युद्ध करना कठिन है। भीषण युद्ध में डटकर लड़ने वाला। सुयोधन। दुर्योधन।

तदा=(अव्यय) तस्मिन् काले, तद्+दा=तब। उस समय।

आचार्यम्=(पुं०) आ √चर् (भ्वा० पर० सक०=आचरण करना)+ण्यत् =आचार्य+द्विती० ए० व०=आचार्य को। गुरु को। शिक्षक को। द्रोणाचार्य को।

उपसङ्गम्य=उप-सम् √गम् (भ्वा० पर० सक०=जाना)+ल्यप्=समीप जाकर। पास जाकर।

राजा=(पुं) राजते शोभते, √राज्+कनिन्=राजन्+प्र० ए० व०= लाड़ला पुत्र (दुर्योधन)। लोग प्रायः पुत्र को लाड़ला समझकर 'राजा' कहकर ही बुलाते हैं।

यद्यपि कौरवों की सेना के प्रधान सेनापति भीष्म पितामह जी थे। परन्तु सब सेनाओं का संचालन तो दुर्योधन की ही आज्ञा से होता था जो महाराजा धृतराष्ट्र का उत्तराधिकारी था। इसलिये भी उसके लिए यहाँ 'राजा' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(द्रोणाचार्य के पास जाकर उसने गुरु की चापलूसी करके उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न किया है ताकि कहीं आचार्य जी अर्जुन और मुझ को सम समझकर पाण्डवों को मारने में ढील न करें।)

वचनम्=(नपुं०) √वच् (अदा० पर० सक०=बोलना। कहना)+ल्युट्= वचन+द्विती० ए० व०=वचन को। वचन।

अब्रवीत्=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=बोलना)+लङ् प्र० पु०, ए० व०= बोला॥

अर्थ—सञ्जय बोला—उस समय (आपका) लाड़ला पुत्र (राजा दुर्योधन) व्यूहरचनायुक्त (अर्थात् मोर्चेबन्द हुई) पाण्डवों की सेना को देखकर द्रोणाचार्य के पास जाकर (यह) वचन बोला—॥२॥

व्याख्या—यहाँ विचार करने योग्य बात यह है कि कौरव सेना का प्रधान सेनापति तो भीष्म था परन्तु दुर्योधन उसके पास नहीं गया क्योंकि उस पर तो उसे पूर्ण विश्वास और भरोसा था कि पितामह हमारे साथ कभी धोखा नहीं करेंगे, क्योंकि हमारा जन्म उनके वंश में हुआ है और पाँचों पाण्डव हमारे वंश के नहीं हैं। वे तो सब धर्मराज, पवन, इन्द्र और अश्विनीकुमार नाम वाले पाँच देवताओं के पुत्र हैं। पितामह जी को हमारे जैसा प्यार पाण्डवों के साथ कभी नहीं हो सकता। उस पर उन्हें किसी प्रकार का क्रोध भी नहीं था क्योंकि उसने पाण्डवों को कभी कोई लाभ नहीं पहुँचाया था। वे तो द्रौपदी को नग्न करने के समय भी चुपचाप बैठे रहे थे। उसने जूआ खेलने के प्रस्ताव से भी धृतराष्ट्र को रोका नहीं था और द्यूतक्रीड़ा वाले महोत्सव में बड़ी सजधज से बैठे रहे थे। उनकी सब प्रतिज्ञाएं अटल होती थीं। दुर्योधन को यह भी मालूम था कि भीष्म ने प्रतिज्ञा की हुई है कि मैं पाँचों

पाण्डवों में से किसी को भी न मारूँगा। केवल उनकी सेना का ही अधिक से अधिक संहार करूँगा।

यद्यपि राजा द्रुपद द्रोण का गुरुभाई था परन्तु उन दोनों में भारी मन-मुटाव था। द्रोण ने द्रुपद का आधा राज्य भी छीना हुआ था। इसलिए राजा द्रुपद ने यक्ष द्वारा अपने पुत्र धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति केवल द्रोणाचार्य को मारने के लिये ही की थी। दूसरे राजकुमारों की भाँति धृष्टद्युम्न को भी अस्त्र-शस्त्र चलाने की शिक्षा द्रोणाचार्य जी ने ही दी थी। वही धृष्टद्युम्न पाण्डवों का सेनापति बना और उसी ने उनकी सेना की व्यूहरचना की थी।

दुर्योधन पाण्डव-सेना की व्यूहरचना और चुस्ती को देखकर दंग रह गया और वह अत्यन्त भयभीत हो गया। इसका मूल कारण द्रोणाचार्य को जानकर उसे उस पर क्रोध आया और शंका भी उत्पन्न हुई कि कहीं अर्जुन और धृष्टद्युम्न के मोह से उन पर दया न करने लगें। इसलिए स्वयं राजा होते हुए भी उसके पास गया। उसे अपने पास इसलिए नहीं बुलाया कि कदाचित् ऐसा करने से वह अपना अपमान समझे और उसके क्रोध के भड़क उठने से बना बनाया सारा खेल ही न बिगड़ जाए। प्रकट में उसे अपना गुरु समझकर उसके पास गया था ताकि उसे उलाहना दे सके और शत्रुओं के विरुद्ध उसे उत्तेजित भी कर सके, जिससे वह अर्जुन आदि के प्यार से उनके प्रति ढील न दिखाए तथा कहीं उनका पक्षपात ही न करे।

वह द्रोणाचार्य जी को यह भी दर्शाना चाहता था कि आपके इन मूढ़ शिष्यों ने इस बात का भी विचार नहीं किया कि हम अपने शिक्षा प्रदान करने वाले गुरु के विरुद्ध होकर न लड़ें। अपने महान् गुरु के प्रति इनकी यह कितनी बड़ी धृष्टता है ॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

पश्य+एताम्+पाण्डु-पुत्राणाम्+आचार्य! महतीम्+चमूम्। व्यूढाम्+द्रुपद-पुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥

पश्य=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) देख। देखिए।

एताम्=(सर्व०) एतद्+(स्त्री०) द्विती० ए० व०=इसको।

पाण्डु-पुत्राणाम्=(पुं०) षष्ठी० ब० व०। पाण्डोः पुत्राणाम्=राजा पाण्डु के पुत्रों की। पाण्डवों की।

(राजा पाण्डु का स्वास्थ्य बहुत अच्छा न था। उनके शरीर में रक्त की कमी होने से उनका रंग पीला था। यहाँ "पाण्डवों की" कहने के स्थान पर दुर्योधन ने "पाण्डु पुत्रों की" कहा है जिससे विशेष अभिप्राय यह है कि ये लोग उसी पाण्डु के पुत्र हैं जो मेढक की भाँति पीतवर्ण था, जिसमें रक्त की एक बूँद भी न थी, जो सब प्रकार से असमर्थ था। इस कारण से अपना राज्य हमारे पिता को देकर आप वन को चला गया था। उस बेचारे अशक्त और असमर्थ पिता के ये पुत्र भला हमसे कैसे लड़ सकेंगे चाहे कितनी भी व्यूहरचनाएं क्यों न करवा लें।)

आचार्य !=(पुं० सम्बो० ए० व०) हे गुरु द्रोणाचार्य जी !

महतीम्=(वि०, स्त्री० द्वितीo ए० व०) महत्+ई। बड़ी को।

चमूम्=(स्त्री०) चमयति विनाशयति रिपून्, √चम् (भ्वा० पर० सक०। स्वा० पर० सक०। खाना। नाश करना) +ऊ=चमू+द्वितीo ए० व०=सेना को।

व्यूढाम्=(वि०) वि √वह्+क्त+आ (स्त्री०)+द्वितीo ए० व०=व्यूहाकार स्थित की हुई को। मोर्चाबन्द की हुई को। मोर्चों में स्थित की हुई को।

द्रुपद-पुत्रेण=(पुं०, तृती० ए० व०) द्रुपदस्य पुत्रेण (षष्ठी तत्पु०)। द्रुपद के पुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा।

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितर सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा॥

पुतः=त्रायते, पुत √त्रै+क। अथवा पुनाति पित्रादीन्, √पू+क्त्र, ह्रस्वता=पुत्र।

तव=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी० ए० व०=तेरे। (आपके)। (अपने)। तेरे अपने।

शिष्येण=(पुं०) शिष्यतेऽसौ, √शास्+क्यप्=शिष्य+तृती० ए० व०=शिष्य द्वारा।

धीमता=(वि० पुं०) धी (स्त्री० ध्यै+क्विप्, सम्प्रसारण=बुद्धि)+मतुप्=धीमत्+तृती० ए० व०=बुद्धिमान् द्वारा।

अर्थ—हे गुरु द्रोणाचार्य जी ! तेरे (अपने) बुद्धिमान् शिष्य राजा द्रुपद (तेरे शत्रु) के पुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा व्यूहाकार में स्थित की हुई पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी सेना को देखिये ॥३॥

व्याख्या—दुर्योधन के कहने का भाव यह है कि आचार्य जी ! ये सब काँटे आपके द्वारा ही बोए हुए हैं। यदि आप धृष्टद्युम्न को अस्त्र-शस्त्र विद्या

सिखाकर सुयोग्य न बनाते तो वह हमारे शत्रुओं की इतनी भयानक व्यूहरचना कदापि न कर सकता। आपने तो इतना भी न सोचा कि यह मेरे शत्रु द्रुपद का पुत्र है जिसकी उत्पत्ति केवल आपके मारने के लिये की गई है। आप तो ऐसे बुद्धू हो, जिन्होंने साँपों को दूध पिलाकर उनमें विष-वर्धन कर दिया है जो हमें मारने के लिये अब फुंकार रहे हैं। नहीं तो पीतवर्ण अशक्त पाण्डु के पुत्रों की क्या मजाल थी कि वे हमारे साथ लड़ने के लिए उद्यत होते। आप आयु भर नमक तो हमारा खाते रहे और युद्ध करने तथा अस्त्र-शस्त्र चलाने की शिक्षा हमारे साथ ही हमारे कट्टर शत्रु पाण्डवों को भी देते रहे। अर्जुन को तो आपने अति सुयोग्य अत्यन्त निपुण बना दिया है। अब अपने हाथों लगाई हुई इन विषबेलों के फल आप स्वयं भी खाओ और हमें भी खाने के लिए मजबूर करो। यहाँ दुर्योधन द्वारा, 'द्रुपद-पुत्र', 'पाण्डु-पुत्र', और 'आचार्य' ये तीनों शब्द एक विशेष अभिप्राय को लक्ष्य करके कहे गये हैं। यदि ऐसा न होता तो इनके स्थान पर "धृष्टद्युम्न", "पाण्डव" और 'गुरु' इन तीन शब्दों का ही प्रयोग किया जाता जिनमें कुटिल दुर्योधन के व्यंग-कथन के स्थान पर सरलता होती ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

अत्र शूराः + महा + इष्वासाः + भीम + अर्जुन-समाः + युधि। युयुधानः + विराटः + च द्रुपदः + च महा-रथः ॥

धृष्टकेतुः + चेकितानः काशिराजः + च वीर्यवान्। पुरुजित् + कुन्तिभोजः + च शैब्यः + च नर-पुङ्गवः ॥

युधामन्युः + च विक्रान्तः + उत्तमौजाः + च वीर्यवान्। सौभद्रः + द्रौपदेयाः + च सर्वे + एव महा-रथाः ॥

अत्र = (अव्यय) यहाँ। इस (सेना) में।

शूराः = (वि०) √शूर् (दिवा० आत्म० सक० = मारना। रोकना। चुरा० उभ० सक० = बहादुरी दिखाना। वीरता प्रदर्शित करना। जी खोलकर उद्योग करना) + अच् = शूर + (पुं०) प्र० ब० व० = शूर। शूरवीर। बहुत से शूरवीर।

महा+इष्वासाः=(वि०) महान्तः इष्वासाः धनुर्धारिणः ये ते (बहुव्री०)= बड़े-बड़े धनुषों को धारण करने वाले।
[महा=(वि०) महत् (√मह्+अति) शब्द का समास में आत्व हो जाने से "महा" रूप हो जाता है। इषु+आस=(पुं०) इषवः अस्यन्तेऽनेन, √अस् (दिवा० पर० सक०=फेंकना)+घञ्=आस। जिसके द्वारा तीर (राकेट) फेंके जाते हैं उसका नाम "इष्वास" है। धनुष। महेष्वास+(मतुप् अर्थ में) अ+(पुं०) प्र० ब० व०]

भीम+अर्जुन-समाः=(वि०) भीमः च अर्जुनः च (द्वन्द्व०) तेषां समाः ये (बहुव्री०)=भीम और अर्जुन के समान। [(पुं०) प्र० ब० व०]

युधि=(स्त्री०) √युध् (दिवा० आत्म० अक०=युद्ध करना)+क्विप्= युध्+सप्त० ए० व०=युद्ध में।

युयुधानः=यु √युध्+आन=युयुधान+(पुं०) प्र० ए० व०=अत्यन्त युद्ध करने वाला। यह वृष्णि वंश में उत्पन्न हुए "सात्यक" का पुत्र था इसलिये सात्यकि नाम से प्रसिद्ध था। वह अर्जुन का चेला और भगवान् कृष्ण का सारथी था। व्यूह में घुसकर अकेला ही युद्ध कर सकता था। जब भगवान् श्रीकृष्ण जी दूत बनकर हस्तिनापुर में गये थे तो उनके साथ सात्यकि भी गए थे। वे अत्यन्त युद्ध करने वाला होने से युयुधान भी कहलाते थे॥

विराटः=(पुं०) विशेषो राटो यत्र। एक देश का नाम और वहाँ के राजा का नाम। अज्ञातवास काल में पाण्डव वहीं रहे थे। अर्जुन तथा सुभद्रा का पौत्र महाराजा परीक्षित इसी राजा की पुत्री उत्तरा से उत्पन्न हुआ था। इसकी राजधानी जयपुर से चालीस मील उत्तर की ओर थी।

च=(प्र० ए० व०) (अव्यय) और।

द्रुपदः=(पुं०) द्रु=वृक्ष, पद=चिह्न। जिसकी ध्वजा में वृक्ष का चिह्न है उसे द्रुपद कहते हैं। यह पाँचाल देश का राजा और पाण्डवों की धर्मपत्नी द्रौपदी का पिता था। यह पहले तो द्रोणाचार्य का गुरुभाई था परन्तु बाद में शत्रु था। इसका दूसरा नाम यज्ञसेन था॥

च=और।

महा-रथः=(पुं० वि०, प्र० ए० व०)। बहुत बड़े रथ (टैंक) वाला। बहुत बड़ा जरनैल। लाखों से अकेला ही लड़ने में समर्थ। अथवा लाखों सैनिकों की सेना का सेनापति॥ (४)

धृष्टकेतुः=(पुं०) √धृष् (स्वा० पर० अक०=प्रगल्भ होना। चुरा० पर० सक०=दबाना)+क्त=धृष्ट=शत्रुओं को भय देते हुए। केतुः=ध्वज वाला। शत्रुओं को भयभीत करती हुई ध्वजा वाला (बहुव्री० प्र०ए०व०) चेदी (चन्देरी) के राजा शिशुपाल का पुत्र (शिशुपाल का वध श्री कृष्णचन्द्र जी ने राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में कर दिया था और चेदी का राजा धृष्टकेतु को बना दिया था)।

चेकितानः—(पुं०) प्र० ए० व०। वृष्णिवंश के एक राजा चिकितान का पुत्र।
[√कित् (जुहो० पर० सक०=जानना)+यङ्-लुक्+शानच्=बहुत बड़ा ज्ञानी—चिकितान]।

काशिराजः=(पुं० प्र० ए० व०) काशी का राजा। महाराजा धृतराष्ट्र की माता अम्बा और राजा पाण्डु की माता अम्बालिका दोनों का जन्म इसी वंश में हुआ था। [काशी=(स्त्री०) √काश्+अच्-ङीष। वाराणसी]

च=और।

वीर्यवान्=(वि०) [वीर्य=(नपुं०) वीरे साधु, वीर+यत्; अथवा वीर्यते अनेन √वीर्+यत्] वीर्य+मतुप्, मस्य वः=वीर्यवत्+(पुं०) प्र० ए० व० (यह शब्द काशिराज का विशेषण है) पराक्रमी। बल वाला। शक्तिशाली। बलवान्।

पुरुजित्=(पुं०) प्र० ए० व०। √पॄ (जुहो०, क्र्या० पर० सक०=परिपूर्ण करना)+कु, उत्व, रपर=पुरु=बहुत। विपुल। बहुतों को जित् =जीतने वाला। बहुत शूरवीर शत्रुओं को जीतने वाला। पुरुजित् पाण्डवों की माता कुन्ती की दाई के पति का नाम है।

कुन्तिभोजः=[(पुं०) प्र० ए० व०।√कम् (भ्वा० आत्म० सक०=चाहना) +झिच्=कुन्ति] 'कुन्तिभोज' पाण्डवों की माता कुन्ती का धर्मपिता था। भगवान् कृष्ण के दादा का नाम शूरसेन था। कुन्तिभोज उसका परम मित्र था। उसकी कोई अपनी सन्तान न थी। इसलिये शूरसेन ने अपनी पुत्री पृथा उसे पुत्री बनाने के लिये दे दी थी जिससे उसका नाम "कुन्ती" प्रसिद्ध हुआ।

च=और।

शैब्यः=(पुं०) शिवि+(अपत्यार्थ) अण्, यञ् वा=शैब्य+प्र० ए० व०= शिवि राजा का पुत्र।

च=और।

नर-पुंगवः=(वि०) [√नृ+अच्=नर] नराणां पुङ्गवः=मनुष्यों में श्रेष्ठ। (पुं०) प्र० ए० व० [पुङ्गव=पुमान् गौः (साँड, बैल) उत्तरपद होने पर इसका अर्थ श्रेष्ठ होता है।] ॥५॥

युधामन्युः=(पुं०) युधा=युद्ध+मन्यु=क्रोध, युद्ध में जिसका क्रोध अति बढ़ा हुआ हो उसका नाम युधामन्यु है। (बहुव्री०) प्र० ए० व०। यह पाँचाल का महापराक्रमी राजा था।

च=और।

विक्रान्तः=(वि० पुं० प्र० ए० व०) वि √क्रम् (भ्वा० पर० अक० सक० =निकल जाना)+क्त=विशेष बलवान्। विशेष पराक्रमी।

उत्तमौजाः=(वि० पुं०) उत्तम=श्रेष्ठ। ओजस्=बल, तेज। अति बलवान्। बहुत तेजस्वी। उत्तमौजस्+प्र० ए० व०।

च=और।

वीर्यवान्=(वि० पुं० प्र० ए० व०) पराक्रमी। बलवान्।

सौभद्रः=(वि० पुं० प्र० ए० व०, बहुव्री०) (सुभद्रायाः अपत्यम्) सुभद्रा+अण्=सुभद्रा का पुत्र (अभिमन्यु)।

द्रौपदेयाः=(वि० पुं०) द्रुपदस्यापत्यं स्त्री=द्रौपदी। द्रौपद्याः अपत्यम्=द्रौपदेयः। द्रौपदी+ढक्-एय=द्रौपदेय+प्र० ब० व०=द्रौपदेयाः=द्रौपदी के पाँचों पुत्र। (इनके नाम भूमिका में पहले दिये गए हैं।)

च=और।

सर्वे=(सर्व०) सर्व+(पुं०) प्र० ब० व०=सर्वे=सब। सारे।

एव=(अव्यय) ही।

महा-रथाः=(पुं०, वि०, प्र० ब० व०) बहुत बड़े रथों (टैंकों) वाले। बहुत बड़े जरनैल। लाखों से अकेले ही लड़ने में समर्थ। हजारों सैनिकों वाली सेना के सेनापति ॥६॥

अर्थ—इस (पाण्डवों की सेना में तो) बड़े-बड़े धनुषों को धारण करने वाले, युद्ध में (विजय प्राप्त करने वाले) भीम और अर्जुन के समान शूरवीर (ये हैं)—

युयुधान (सात्यकि), विराट, महारथी द्रुपद (चेदिराज), धृष्टकेतु, (वृष्णि-वंशीय) चेकितान, महाबलवान् काशिराज, (कुन्ती की दाई का पति) पुरुजित्, (कुन्ती का धर्मपिता) कुन्तिभोज, मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, विशेष पराक्रमी (पाँचाल देशवासी) युधामन्यु, बहुबलवान् तेजस्वी उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र

(वीर अभिमन्यु), और द्रौपदी के पाँचों पुत्र ये सब ही महारथी (बड़े टैंकों में बैठे हुए जरनैल) हैं ॥ ४, ५, ६॥

व्याख्या—जिनके पास बड़े रथ अर्थात् जंगी टैंक होते हैं उन जरनैलों का नाम महारथी होता है। महारथी अपने टैंक की सहायता से अकेला ही टैंकरहित लाखों सैनिकों वाली सेना से युद्ध कर सकता है। ये रथ या टैंक बहुत मजबूत फौलाद के बने हुए होते हैं जिनको तोप के गोले भी आसानी से तोड़ नहीं सकते। एक महारथी के अधीन एक लाख से अधिक सैनिक होते हैं। उनसे आधे सैनिकों का नेता "अतिरथी" कहलाता है। शेष टैंकों पर चढ़कर लड़ने वाले योद्धा "रथी" कहे जाते हैं।

'द्रौपदाश्च' में जो 'च' अव्यय है, इससे पांड्य राजा और भीम पुत्र घटोत्कच आदि पाण्डव-सेना के अन्य योद्धाओं के नाम भी ग्रहण किए जाने चाहिएँ।

दुर्योधन ने पाण्डव-सेना के केवल सतरह योद्धाओं का ही नामोच्चारण किया है। पाँचों पाण्डवों का नाम लेना भी भूल गया है। यह उसकी विस्मृति उसकी घबराहट को प्रकट करती है अथवा इन सब योद्धाओं को "भीमार्जुन-समा युधि" कहकर यह भाव जान-बूझकर प्रकट करने की चेष्टा की है कि आचार्य महाराज जी! इस सेना में इन सतरह योद्धाओं को जीतना ही अति कठिन है फिर पाँचों पाण्डव तो महाबलवान् योद्धा हैं, उनको हम कैसे जीत सकेंगे? इसलिए इस महाशूरवीरों वाली पाण्डवों की सेना को जाहु काहु अर्थात् साधारण नहीं समझना चाहिए। इस व्यूहबद्ध-महती-पाण्डव-चमू को जीतने के लिए आपको असाधारण चुस्ती और उद्यम करना होगा।

इस प्रकार युयुधान आदि पाण्डव सेना के शूरवीर योद्धाओं का नाम-कीर्तन करके दुर्योधन ने अपने आन्तरिक भय का प्रदर्शन किया है। फारसी भाषा में कहा गया है :—

"मुश्क आनस्त कि खुद बगोयद, न कि अत्तार बगोयद।" अच्छी सुगन्धि तो वही होती है जिसकी प्रशंसा शत्रु भी करते हैं और जादू वह जो सिर चढ़कर बोले। यही दशा उस समय दुर्योधन की थी ॥४, ५, ६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

अस्माकम्+तु विशिष्टाः+ये तान्+निबोध द्विज+उत्तम!। नायकाः +मम सैन्यस्य संज्ञार्थम् तान्+ब्रवीमि ते ॥

अस्माकम्=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ब० व०=हमारी।

तु०=(अव्यय) और। अब। तो (सेना के)।
विशिष्टाः=(वि०) वि√शिष्+क्त=विशिष्ट+(पुं०) प्र० ब० व०=प्रधान। विशिष्ट। ख़ास। उत्तम।
ये=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ब० व०=जो।
तान्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्वितीο ब० व०=उनको।
निबोध=नि √बुध् (भ्वा०, दिवा०, उभ० सक० जानना, पहचानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) जान। तू जान ले।
द्विज+उत्तम !=द्विजानाम् उत्तमः यः स द्विजोत्तमः। (पुं०) सम्बो० ए० व० (बहुव्री०)। (द्वाभ्यां जन्म-संस्काराभ्यां जायते—द्वि+√जन्+ड=द्विज। ब्राह्मण) हे द्विजों (ब्राह्मणों) में श्रेष्ठ !
नायकाः=(पुं०) √नी (भ्वा० उभ० सक०=ले जाना)+ण्वुल्=नै+अक=नायक+प्र० ब० व०=ले जाने या चलाने वाले। प्रभावशाली योद्धा लोग। सेनापति।
मम=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी ए० व०=मेरी।
सैन्यस्य=(नपुं०) सेनानां समूहः=सैन्यः, सेना+ष्य=सैन्य+षष्ठी० ए० व०=बहुत बड़ी सेना के।
संज्ञा+अर्थम्=संज्ञायाः अर्थम्=नाम (मात्र जानने) के लिये।
तान्=(सर्व०) तद्+द्विती० ब० व०=उनको।
ब्रवीमि=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) कहता हूँ।
ते=(सर्व०) युष्मद्+चतु० और षष्ठी०, ए० वचन-तव, ते और तुभ्यम्-ते=तेरे प्रति; तेरे लिये (तुझको)।

अर्थ—हे द्विजों (ब्राह्मणों) में उत्तम (गुरुदेव) ! हमारी सेना में तो जो विशिष्ट (अत्युत्तम सेनानायक) हैं उनको भी (आप) जान लो। मेरी बहुत बड़ी सेना के जो नायक (सेनापति) हैं, (मैं) आपके प्रति (उनके) नाम-मात्र कहता हूँ ॥७॥

व्याख्या—यह ठीक है कि द्रोणाचार्य को तो पहले ही सब कौरव-सेनापतियों के नाम ज्ञात थे परन्तु दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को सावधान करने के लिये यह बात कही थी। 'द्विज' का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों जातियां हो सकता है क्योंकि इनका जन्म पहले किसी मनुष्य-माता से होता है और फिर ये संस्कारों के द्वारा प्रभु-पुत्र बन जाते हैं जो इन जातियों के

लोगों का दूसरा जन्म माना जाता है। इससे ये लोग 'द्विज' या 'द्विजन्मा' कहलाते हैं।

शब्द तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि। 'द्विज' शब्द जो पहले योगरूढ़ि था अब केवल रूढ़ि सा बन चुका है जिसे केवल ब्राह्मण के लिए ही बरता जाता है। जैसे चारपाई और अमन-जा दोनों शब्द अब केवल साधारण 'खाट' के लिये ही प्रयुक्त किये जाते हैं यद्यपि उसका अर्थ चार पाँवों वाली कोई भी वस्तु अथवा चार पाँवों वाला स्त्री, पशु, जीव भी हो सकता था।

दुर्योधन ने भी यहाँ द्विज का अर्थ ब्राह्मण ही लिया है। उसके कहने का भाव यह है कि हे गुरुदेव! आप केवल ब्राह्मणों में ही श्रेष्ठ हैं। क्षत्रिय वीरों में श्रेष्ठ नहीं हैं। ब्राह्मणों में श्रेष्ठ लोग केवल वही होते हैं जो अत्यन्त शान्ति-प्रिय या शान्ति के पुञ्ज हों। परन्तु द्विजोत्तम लोग युद्धप्रिय कदापि नहीं हो सकते और न ही वीर माने जा सकते हैं। इसलिये यदि आप पाण्डवों के प्यार के कारण अथवा किसी अन्य कारण से युद्ध में ढील भी करेंगे तो इससे हमारा कुछ भी बिगाड़ न होगा। आपको हमारी इस सेना के योद्धाओं के नाम और गुण तो पहले ही विदित हैं। परन्तु प्रायः बूढ़ों की स्मरणशक्ति नष्ट हो जाया करती है। इसलिये मैं आपके केवल स्मरणमात्र के लिये ही अपनी सेना के नायकों के नाम मात्र ही कहता हूँ ॥७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

भवान्+भीष्मः+च कर्णः+च कृपः+च समितिम्+जयः। अश्वत्थामा विकर्णः+च सोमदत्तिः+तथा+एव च ॥

अन्ये च बहवः शूराः+मत्+अर्थे त्यक्त-जीविताः। नाना-शस्त्र-प्रहरणाः सर्वे युद्ध-विशारदाः ॥

भवान्=(सर्व० वि०) भाति विद्यते, √भा+डवतु=भवत्+(पुं०) प्र० ए० व०=आप। आप स्वयं (गुरु द्रोणाचार्य जी)।

भीष्मः=(पुं०) प्र० ए० व० =भीष्म जी। भीष्म पितामह।

च=और।

कर्णः=(पुं०) प्र० ए० व०=कर्ण।

च=और।

कृपः=(पुं०) प्र० ए० व०=कृपाचार्य।

च=और।

समितिम्+जयः=(वि०) सम √ इ+क्तिन+(पुं०) द्विती० ए० व०= युद्ध को।

√जि+खच् (अच्)+क्विप्+प्र० ए० व०=जीतने वाला।

युद्ध को जीतने वाला।

अश्वत्थामा=(पुं०) अश्वस्य इव स्थाम बलम् अस्य पृषो० स०=अश्वत्थामन् +प्र० ए० व०=अश्वत्थामा=(आपका पुत्र) अश्वत्थामा।

विकर्णः=(पुं०) प्र० ए० व०=(मेरा छोटा भाई) विकर्ण।

च=और।

सौमदत्तिः=(पुं०) सोमदत्तस्याऽपत्यम्, सोमदत्त+इञ्=सोमदत्त का पुत्र (भूरिश्रवा)।

(नोट—किसी-किसी पुस्तक में "सोमदत्तिस्तथैव च" के स्थान पर "सौमदत्तिर्जयद्रथः" पाठान्तर है। 'जयद्रथ' दुर्योधन की इकलौती बहन दुःशला का पति सिन्ध देश का राजा था)।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्=तथा। वैसे।

एव=(अव्यय) √इ+वनु=एव=ही।

च=और। (८)

अन्ये=(वि० सर्व०) √अन्+य+(पुं०) प्र० ब० व०=दूसरे।

च=और। भी।

बहवः=(वि०) √बह्+कु=बहु+(पुं०) प्र० ब० व०=बहुत से।

शूराः=(वि०) √शूर् (दिवा० आत्म० सक०=मारना। रोकना। चुरा० उभ० सक०=वीरता या बहादुरी दिखाना)+अच्=शूर+(पुं०) प्र० ब० व०=शूरवीर (हैं)।

मत्+अर्थे=अस्मद् (सर्व०)+पंच० ए० व०=मत्। √अर्थ+अच्+ (पुं०) सप्त०, ए० व०=मेरे लिये।

त्यक्त-जीविताः=(वि०) √त्यज् (भ्वा० पर० सक० अक०=छोड़ना। त्यागना)+क्त=त्यक्त।

जीविताः=√जीव् (भ्वा० पर० अक०=जीवित रहना)+क्त=जीवित+ (पुं०) प्र० ब० व०=जीविताः।

त्यक्ताः जीविताः ये ते=जीवन (प्राणों) को त्यागे हुए। (बहुव्री०)।

नाना-शस्त्र-प्रहरणाः=(वि०) नाना शस्त्राणि प्रहरणानि येषां ते (बहुव्री०)।
(पुं०) प्र० ब० व०। अनेक भाँति के शस्त्रों से प्रहार (आघात, वार, चोट) करने वाले।
[प्र √हृ (भ्वा० उभ० सक०=प्रहार करना)+ल्युट्=प्रहरण]।

सर्वे=(वि० सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=सब। सारे।

युद्ध-विशारदाः=(वि०) युद्धेषु विशारदाः (तत्पु०)=युद्ध करने में प्रवीण। युद्ध करने की विद्या में माहिर (कुशल)।
[विशारदाः=(वि०) विशाल √दा+क, लस्य रः=विशारद+(पुं०) प्र० ब० व०।]

अर्थ—(गुरु द्रोणाचार्य जी स्वयं) आप, (पितामह) भीष्म, (प्रिय मित्र) कर्ण, युद्ध को जीतने वाले कृपाचार्य, (अंग देश के राजा) (आपके सुपुत्र) अश्वत्थामा, (मेरे छोटे भ्राता) विकर्ण, और वैसे ही सोमदत्त के सुपुत्र (भूरिश्रवा) हैं ॥८॥

(नोट—इस श्लोक में "समितिजयः" पद अश्वत्थामा से पूर्व कहा गया है। अतः यह अश्वत्थामा का विशेषण भी माना जा सकता है। इस प्रकार मामे, भामने दोनों पर ही देहरी दीपक की भाँति यह प्रकाश डालता है।)

(इनके अतिरिक्त) और भी दूसरे बहुत से शूरवीर नाना प्रकार के शस्त्रों से प्रहार करने वाले मेरे लिए जीवन को त्यागने वाले, सारे (ही) युद्ध करने में निपुण हैं ॥९॥

व्याख्या—दुर्योधन बहुत हठी और कुटिल नीतिज्ञ था तथा व्यंग से बातें करने में बहुत कुशल था। पूर्व श्लोकों में पाण्डवों और धृष्टद्युम्न आदि की शिक्षित करने के लिए द्रोणाचार्य को झाड़ भी डाल दी, पाण्डवों और उनके प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न को छोड़कर पाण्डव-सेना के सतरह योद्धाओं की प्रशंसा भी कर दी परन्तु अपनी सेना के केवल सात (या आठ) योद्धाओं का ही नामोच्चारण किया जबकि ग्यारह तो अक्षौहिणी नायक या सेनापति ही थे। बाद में द्रोणाचार्य को खुश करने के लिये सबसे पहले विशिष्ट योद्धाओं में उसकी गणना करके प्रधान सेनापति भीष्म को दूसरे नम्बर पर डाल दिया और "समिति-जयः" शब्द उसके साले कृपाचार्य और पुत्र अश्वत्थामा के मध्य में कहकर यह सूचित किया कि इस सेना में युद्ध को जीतने वाले केवल दो ही व्यक्ति हैं जिनमें से एक तो आपका साला कृपाचार्य है और दूसरा आपका सुपुत्र अश्वत्थामा है और आपके परिवार के अलावा शेष सब योद्धा तो ऐसे वैसे ही हैं। परन्तु फिर यह सोचकर कि मेरे इन शब्दों से कहीं द्रोणाचार्य का हौसला ही टूट न जाए जिससे वह दत्तचित्त होकर युद्ध

करने में ही कहीं असमर्थ न हो जाए। इसलिये अगले श्लोक में उसने बात पलटकर झट यह कहा कि मेरे कहने का यह आशय कदापि नहीं है कि हम युद्ध को जीतेंगे नहीं। जबकि आप सब और अन्य सब शूरवीर योद्धा लोग तो मेरी विजय के लिये अपने प्रिय प्राणों को भी त्यागने के लिये तैयार बैठे हैं। यह भी नहीं कि कायरों की भाँति मरना चाहते हैं अपितु नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से युक्त हैं और उनको प्रयुक्त करने में भी अत्यन्त प्रवीण हैं। इस प्रकार दुर्योधन ने आचार्य के उत्साह को ऊँचा करने और उसको भड़काने का भरसक प्रयत्न किया है ॥८, ९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अपर्याप्तम्+तत्+अस्माकम्+बलम्+भीष्म+अभिरक्षितम् । पर्याप्तम्+तु+इदम्+एतेषाम्+बलम्+भीम+अभिरक्षितम् ॥

अपर्याप्तम्=(वि०) न, परि√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=प्राप्त करना, पाना, पहुँचना, आगे बढ़कर पकड़ लेना)+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व० (नञ् तत्पु०)=जो (जीतने में) पर्याप्त (काफी या समर्थ) नहीं है। तुच्छ। असमर्थ। अयोग्य। अथवा—
जिस तक शत्रु की पहुँच न हो सके। असीम। न जीती जा सकने वाली।

तत्=(सर्व० वि०) तद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।

अस्माकम्=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ब० व०=हमारा। हम लोगों का।

बलम्=(नपुं०)√बल+अच्+प्र० ए० व०=सैन्यदल।

भीष्म+अभिरक्षितम्=(वि०) भीष्मेण अभिरक्षितम् (तृती० तत्पु०)=भीष्म द्वारा अभिरक्षित।

[भीष्म=(वि० पुं०) भवेति अस्मात्, √भी+मक्+षुक्=भयंकर। ("डरा हुआ" या "डरपोक" भी)।

अभिरक्षितम्=(वि०) अभि √रक्ष् (भ्वा० पर० सक०=रक्षा करना)+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=अच्छी तरह से रक्षा किया हुआ।]

पर्याप्तम्= (वि०) परि√आप्+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=पर्याप्त। काफी। यथेष्ठ। सुयोग्य। अथवा—
पहुँचने योग्य। जीतने योग्य।

तु=(अव्यय) किन्तु। अथवा। और।

इदम्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह ।

एतेषाम्=(सर्व०) एतद्+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=इनका । इन पाण्डवों का । इन शत्रुओं का ।

बलम्=(नपुं०) सैन्यदल ।

भीम+अभिरक्षितम्=(वि०) भीमेन अभिरक्षितम् (तृती० तत्पु०)=भीम द्वारा अभिरक्षित । [भीम=(पुं०) √भी+मक् । भवेति अस्मात् । डरावना । डराने वाला । अथवा—
√भी+मन=भीम=कमजोर दिल] ।

पहला अर्थ—

भीष्म (अति भयङ्कर योद्धा) द्वारा अच्छी तरह से रक्षा किया हुआ हमारा यह सैन्यदल (शत्रु पाण्डवों द्वारा) न जीता जाने वाला तथा असीम है और इन (शत्रु-पाण्डवों) का यह सैन्यदल (डरपोक) भीम द्वारा अभिरक्षित जीतने योग्य है ॥१०॥

नोट—भीम को डरपोक कहने से दुर्योधन का यह अभिप्राय है कि यह 'भीम' वही है जिसको हमने बार-बार अर्थात् अनेक बार अपमानित किया है । उसके सामने द्रौपदी को नग्न करते हुए अपमानित किया गया परन्तु यह बेगैरत डरपोक भीम हमारा कुछ भी बिगाड़ न कर सका । अब भी कुछ न कर सकेगा ।

भीष्म शत्रुओं को पराजित करने वाला महाभयंकर योद्धा है । अपनी मृत्यु उसके अपने वशीभूत है तथा हमारा यह सेनापति दृढ़प्रतिज्ञ, दूरदर्शी और अति-चतुर है ।

हमारा सैन्यदल ग्यारह अक्षौहिणी होने से अजेय है और पाण्डवों की सेना केवल सात अक्षौहिणी होने से हमारे द्वारा सुगमता से जीती जाने योग्य है ।

दुर्योधन अड़ियल और अभिमानी तो था ही इसलिये ऐसी डींगें मारना उसके लिये योग्य ही था ।

दूसरा अर्थ—

हमारा यह सैन्यदल (बूढ़े) भीष्म द्वारा अभिरक्षित तुच्छ या असमर्थ है और इन पाण्डवों का यह सैन्यदल (भयङ्कर) भीम द्वारा अच्छी तरह से रक्षा किया हुआ काफी पूर्ण और जीतने के अयोग्य है ॥१०॥

व्याख्या—दुर्योधन पाण्डव-सेना को उत्तम ढंग से वज्र व्यूहाकार मोर्चा-बन्द देखकर बहुत घबराया जिससे तीसरे श्लोक में उसने उसे "महती चमू" (बहुत बड़ी सेना) कहा है। युद्धारम्भ में पाण्डवों ने भीष्म के नम्रतापूर्वक चरण छूकर उनसे युद्ध करने की आज्ञा माँगी थी और उसके मारने की विधि पूछी थी। तब भीष्म ने प्रसन्न होकर पाण्डवों को आशीर्वाद दिया था "तुम्हारी जय हो और तुम बढ़ो, फलो, फूलो।" तथा उन्हें अपनी मृत्यु के कारण से भी अवगत करवा दिया था। इससे दुर्योधन को बहुत चिन्ता और घबराहट हो गई थी और उसका भीष्म पर से विश्वास उठ गया था क्योंकि वह समझने लगा था कि दृढ़प्रतिज्ञ भीष्म अपने द्वारा पाण्डवों को दिए गये आशीर्वाद को अवश्य सफल करने का प्रयत्न करेगा।

इसलिये भी वह भीष्म का युद्ध में मारा जाना निश्चित समझता था कि कर्ण ने भरी सभा में यह प्रतिज्ञा की हुई थी कि "मैं भीष्म के मर जाने के अनन्तर ही अस्त्र-शस्त्र धारण करके पाण्डवों से युद्ध करूँगा"। कर्ण की इस प्रतिज्ञा से भी दुर्योधन अपनी सेना को कमजोर समझता था।

भीष्म की यह भी प्रतिज्ञा थी कि "मैं पाण्डवों को न मारूँगा, केवल उनकी सेना का ही संहार करूँगा। इससे भी दुर्योधन अति सशंकित था।

विचित्र बात यह थी कि भीष्म कौरव-सेना का प्रधान सेनापति है परन्तु वह दुर्योधन के विचार से विश्वासपात्र नहीं है। उसे प्रधान सेनापति तो केवल पिता धृतराष्ट्र के कहने से ही बनाया गया है, नहीं तो दुर्योधन के विचार में इस महान् भार को अपने बूढ़े और अशक्त कन्धों पर उठाने के लिये भीष्म अयोग्य था।

यद्यपि पाण्डव-सेना का प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न था तो भी भीमसेन आगे बढ़कर उस सेना की पूरी तरह से रक्षा करता हुआ उसे दिखाई दे रहा था। इसलिये उसको यह अनुभव हो रहा था कि युद्ध तो बाद में किया जा सकता है, पहले तो प्रधान सेनापति भीष्म की ही रक्षा या निगहबानी की जानी चाहिए।

इसलिये चतुर कूटनीतिज्ञ दुर्योधन ने पहला अर्थ तो केवल भीष्म के प्रति ही निबोधित किया था और दूसरा अर्थ केवल गुरु द्रोणाचार्य को सूचित करने के लिये था। वह भीष्म को नाराज भी करना नहीं चाहता था और उस पर भरोसा करके हारना भी नहीं चाहता था। अतः द्रोणाचार्य को अपने मन के भावों से अवश्य अवगत कराना चाहता था। सो उसने सुचारु रूप से उसे अवगत कराने का भरसक प्रयत्न किया।

अगले श्लोक में भीष्म को प्रसन्न करने के लिए उसकी रक्षा के प्रबन्ध की ताकीद की गई है। परन्तु वास्तव में उस पर कड़ी दृष्टि रखने का प्रबन्ध किया जा रहा है। ऐसा मालूम होता है कि सारे सेनापति अपने-अपने कार्य-स्थानों पर स्थित रहते हुए ही एक दूसरे की बात को अच्छी तरह से सुन सकते थे और सुना सकते थे तथा सबके कामों को देख सकते थे क्योंकि उन सबके पास ऐसा करने के विशेष सूक्ष्म यन्त्र अवश्य ही विद्यमान थे। उस समय भीष्म जी भी दुर्योधन के अन्तःकरण के सम्पूर्ण भाव को समझ गये थे जिससे उन्होंने दुर्योधन को खुश करने के लिये सिंहनाद से गरजकर भयानक शंखध्वनि की थी।

श्री तिलक महाराज को इस श्लोक का केवल पहला ही अर्थ मान्य है क्योंकि उन्होंने दूसरे अर्थ का एक विस्तृत टिप्पणी द्वारा भरपूर खण्डन किया है परन्तु श्री नारायण स्वामी जैसे विद्वान् टीकाकारों ने इसका भरपूर मण्डन किया है। हमें उन सबको पढ़कर यही जँचा है कि ये दोनों अर्थ ही युक्तियुक्त और यथार्थ हैं ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अयनेषु च सर्वेषु यथा-भागम्+अवस्थिताः। भीष्मम्+एव+अभि-रक्षन्तु भवन्तः सर्वे+एव हि ॥

अयनेषु=(नपुं०)√अय् (भ्वादि० उभ० सक०=जाना)+ल्युट्=अयन+सप्त० ब० व०=मार्गों में। (व्यूह) के मार्गों में। व्यूह के द्वारों में।

च=(अव्यय) और।

सर्वेषु=(सर्व० वि०) सर्व+सप्त० ब० व०=सब में।

यथा-भागम्=(अव्यय) भागस्य अनुरूपम् (अव्ययीभाव समास) भाग के अनुसार। अपने-अपने स्थानों में।

अवस्थिताः=(वि०) अव√स्था (भ्वा० पर० सक० अक०=रहना। स्थित होना)+क्त+प्र० ब० व०=सावधानी से स्थित हुए।

भीष्मम्=(पुं०) द्वि० ए० व०=भीष्म को। [भीष्म की]।

एव=(अव्यय) ही।

अभिरक्षन्तु=अभि√रक्ष् (भ्वा० पर० सक०=बचाना। रक्षा करना। निगहबानी करना)+लोट्० प्र० पु०, ब० व० ['भवत्' (आप) के योग में प्रथम पुरुष की क्रिया होती है।] सब ओर से रक्षा करें।

भवन्तः=(सर्व०) भाति विद्यते√भा+डवतु=भवत्+(पुं०) प्र० ब० व० =आप।

सर्वे=(सर्व०) सर्व+(पुं०) प्र० ब० व०=सब लोग।

हि=(अव्यय) ही। निःसन्देह ॥

अर्थ—आप सब लोग अपने-अपने स्थानों में स्थित (रहते) हुए सब ओर से निःसन्देह भीष्म की ही रक्षा करें। (अथवा निगरानी करें) ॥११॥

व्याख्या—भीष्म को खुश करने के लिये उसकी रक्षा करने के लिये कहा जा रहा है। वैसे भी प्रधान-सेनापति की रक्षा होने से सम्पूर्ण सेना का जमाव बना रहता है और उसके मारे जाने से सेना में भगदड़ पड़ जाने का भय होता है। इसलिये द्रोणाचार्य को दुर्योधन की ओर से ताकीद की जा रही है कि सब ओर से ही पूर्णतया भीष्म की रक्षा करो और साथ ही अपने-अपने नियत कर्तव्यों का भी पालन करो। भीष्म पर आप सब लोग इसलिए भी दृष्टि रखो कि वह हमें धोखा देकर कहीं पाण्डवों से न मिल जाए। कुटिल नीतिज्ञ दुर्योधन भीष्म का पाण्डवों से मिल जाना संभव समझता है ॥११॥

श्री तिलक महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है—

सेनापति भीष्म स्वयं पराक्रमी और किसी से भी हार जाने वाले न थे। 'सभी ओर से सबको उनकी रक्षा करनी चाहिए', कथन का कारण दुर्योधन ने दूसरे स्थान पर (महाभारत भीष्म० १५, १५-२०, १६, ४०, ४१) यह बतलाया है कि भीष्म का निश्चय था कि हम शिखण्डी पर शस्त्र न चलायेंगे इसलिये शिखण्डी की ओर से भीष्म के अन्त होने की संभावना थी। अतएव सब ओर से सावधानी रखनी चाहिए—

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम्।
मा सिंहं जम्बुकेनेव घातयेथाः शिखण्डिना॥

"महाबलवान् सिंह की रक्षा न करें तो भेड़िया उसे मार डालेगा। इस जम्बुक सदृश शिखण्डी से सिंह का घात न होने दो।"

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तस्य सञ्जनयन्+हर्षम्+कुरु-वृद्धः पितामहः। सिंह-नादम्+विनद्य +उच्चैः शङ्खम्+दध्मौ प्रतापवान् ॥

तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी ए० व०=उसके।

सञ्जनयन्=(वि०) सम√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+

णिच्+शतृ=सञ्जनयत्+(पुं०) प्र० ए० व०=सञ्जनयन्=उत्पन्न करते हुए ने।

हर्षम्=√हृष्+घञ्+(पुं०) द्विती० ए० व०=हर्ष को।

कुरु-वृद्धः=(वि०) कुरूणां वृद्धः यः सः (बहुव्री०) (पुं०) प्र० ए० व०= कौरवों के बूढ़े ने। कौरवों में वृद्ध ने।

पितामहः=(पुं०) पितृ+डामहच्=पितामह+प्र० ए० व०=पितामह ने। भीष्म पितामह ने। दादा भीष्म ने।

सिंह-नादम्=सिंहस्य नादम् इव=सिंह की गरज के समान।
[नाद=(पुं०)√नद् (भ्वा० पर० अक०=दहाड़ना। गरजना)+घञ् =गरज।]

विनद्य=वि√नद्+ल्यप्=गरजकर।

उच्चैः=(अव्यय) ऊँचा। उच्च स्वर से।

शङ्खम्=(नपुं०, पुं०)√शम्+ख+द्विती० ए० व०=शङ्ख को।

दध्मौ=√ध्मा (भ्वा० पर० सक० अक०=फूँकना)+लिट्० प्र० पु०, ए० व०=फूँका। बजाया।

प्रतापवान्=(वि०) [प्रताप=(पुं०) प्र√तप्+घञ्।] प्रताप+मतुप्—वत्=प्रतापवत्+(पुं०) प्र० ए० व०=प्रतापी ने। प्रतापवान् ने॥

अर्थ—कौरवों के बूढ़े, प्रतापी, पितामह (भीष्म) ने उस (दुर्योधन) के (अन्तःकरण में) हर्ष को उत्पन्न करते हुए सिंह की गरज के समान ऊँचा गरजकर शङ्ख को बजाया॥१२॥

व्याख्या—संजय ने सोचा कि शायद मरने वाले भीष्म के सम्बन्ध में धृतराष्ट्र के मन पर भी कुप्रभाव पड़ गया हो क्योंकि उसका पुत्र दुर्योधन भीष्म के सम्बन्ध में सन्देह कर रहा था। इसलिये उसने भीष्म के व्यक्तित्व को ठीक ढंग से व्यक्त करने के लिये उनके तीन विशेषण कहे। १—वे कौरवों में सब से बूढ़े थे। २—वे कौरवों के दादा थे। ३—वे प्रतापवान् भी थे। इसलिये उनको सारे वंश के साथ या किसी एक व्यक्ति के साथ धोखा करने की कोई आवश्यकता न थी। सबके साथ समान प्यार था, वे प्रतापी वीर थे, उनको शत्रु के साथ मिलने की भी कोई आवश्यकता न थी। जब उनको अपने विशेष यन्त्र के द्वारा दुर्योधन के हृदय का अपने सम्बन्ध में दुर्भाव ज्ञात हुआ तो वे दुर्योधन के हृदय में हर्ष भरते हुए सिंह की भाँति गरजे और भयंकर शब्द करने वाले अपने शंख को बजाने लगे॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

ततः शङ्खाः+च भेर्यः+च पणव+आनक—गोमुखाः। सहसा+एव+अभ्यहन्यन्त सः+शब्दः+तुमुलः+अभवत् ॥

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस् (ततः)=तब। फिर। इसके बाद। पश्चात्।

शङ्खाः=(नपुं०, पुं०)√शम्+ख+(पुं०) प्र० ब० व०=शङ्ख। शम् (शान्ति) का नाश करने वाले बाजे। युद्ध प्रारम्भ करने की सूचना देने वाले बिगुल (बाजे)।

च=(अव्यय) और।

भेर्यः=(स्त्री०) बिभेति अस्मात्,√भी+रन्, गुण=भेर+ङीष्=भेरी। अथवा√भी+रन्+क्रिन्=भेरि। प्र० ब० व०=भेर्यः=बहुत सी भेरियां। टम्मक या नगाड़े (नक्कारे)।

च=और

पणव+आनक—गोमुखाः=पणवाः च आनकाः च गोमुखाः च (इतरेतर द्वन्द्व०) पणव=(पुं०) पणं स्तुतिं वाति, पण√वा+क=पणव=बड़ा ढोल।

आनक=(पुं०)√अन्+णिच्+ण्वुल=दुन्दुभि। बहुत बड़ा मृदङ्ग।

गोमुखाः=(पुं०) गोरिव मुखम् अस्य (बहुव्री०)=नरसिंहे जैसा बाजा जिसका मुख गाय के मुख जैसा होता है।

सहसा=(अव्यय) सह√सो (दिवा० पर० सक०=पूर्ण करना। समाप्त करना)+डा=एकाएक। एक साथ।

एव=(अव्यय) ही।

अभ्यहन्यन्त=अभि √हन् (अदा० पर० सक०=ताड़ना करना)+यक्+लङ्० प्र० पु०, ब० व०=(दूसरों द्वारा) बज उठे। बजे।

सः=(सर्व) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

शब्दः=(पुं०)√शब्द+घञ्+प्र० ए० व०=शब्द।

तुमुलः=(वि०)√तु+मुलक्+(पुं०) प्र० ए० व०=भयानक शोरगुल। भयंकर कोलाहल। ऐसा शब्द जिसमें शोरगुल के अलावा और कुछ सुनाई न दे।

अभवत्=√भू (भ्वा० पर० अक०=होना)+लङ्० प्र० पु०, ए० व०= हुआ ।

अर्थ—तदनन्तर बहुत से शङ्ख, बहुत से नगाड़े (टम्मक), बड़े-बड़े ढोल, बड़े-बड़े मृदङ्ग और गोमुख (नरसिंहे) एक साथ ही (दोनों सैन्यदलों में) बज उठे। (उनका मिला-जुला) वह शब्द महान् शोरगुल (का रूप) हो गया ॥१३॥

व्याख्या—कौरव-सेना के प्रधान सेनापति भीष्म पितामह ने शंख बजाकर दोनों सेनाओं के सारे सैनिकों को सूचित कर दिया कि मेरे द्वारा की गई इस शंखध्वनि के साथ ही इस युद्ध का प्रारम्भ होता है। उसको सुनकर दोनों दलों के लोगों ने इस आज्ञा को स्वीकार करते हुए अनेक प्रकार के भयानक शब्दों वाले शंख, जंगी बिगुल, घनघोर शब्दों वाले बड़े-बड़े नगाड़े, दीर्घाकार ढोल, विशाल दुंदुभियाँ, मृदंग, गोमुख और नरसिंहे बजाने प्रारम्भ कर दिए जिनके शब्दों के मिल जाने से एक ऐसा महान् शब्द उत्पन्न हुआ जिससे पृथ्वी और आकाश दोनों गूँजने लगे और दसों दिशाएँ तुमुलनाद से परिपूर्ण हो गईं। इतना शोरगुल होने लगा कि किसी की आवाज कानपड़ी सुनाई न देती थी। कानों के परदे फटे जाते थे। इस युद्ध में लगभग सैंतालीस लाख सैनिक सम्मिलित हुए थे जिसमें ऐटमी आयुध तीरों की नोकों से बाँधकर शत्रुओं पर फेंके जाते थे। इतने लोगों द्वारा बजाए गये जंगी बाजों के मिले हुए शब्द का अनुमान कैसे लगाया जा सकता है? ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

ततः श्वेतैः+हयैः+युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ। माधवः पाण्डवः+च +एव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥

ततः=(अव्यय) फिर। तदनन्तर। उसके बाद।

श्वेतैः=(वि०)√श्वित् (भ्वा० आत्म० अक०=सफेद होना)+अच् या घञ् =श्वेत+(पुं०) तृती० ब० व०=श्वेतों से।

हयैः=√हय् (भ्वा० पर० सक०=जाना) अथवा√हि (भ्वा० पर० सक० =चलाना)+अच=हय+(पुं०) तृती० ब० व०=घोड़ों से। इञ्जनों से।

[आजकल भी इञ्जनों को हौर्सपावर या घोड़ों की शक्ति वाले कहा जाता है परन्तु प्राचीन काल में तो इञ्जन का नाम भी घोड़ा ही था]।

युक्ते=(वि०)√युज् (रुधा० उभ० सक०=जोड़ना)+क्त=युक्त+(पुं०) सप्त० ए० व०=जुड़े हुए। लगे हुए।

महति=(वि०)√मह्+अति=महत्+सप्त० ए० व०=बहुत बड़े में।

स्यन्दने=(पुं०)√स्यन्द् (भ्वा० आत्म० अक०=दौड़ना)+ल्यु=स्यन्दन+सप्त० ए० व०=तेजी से दौड़ने वाले में। रथ में। टैंक में।

[प्राचीन काल में टैंक भी रथ कहलाते थे।]

स्थितौ=(वि०)√स्था+क्त+(पुं०) प्र० द्वि० व०=(दोनों) बैठे हुए।

माधवः=(पुं०) मधु+अण्+प्र० ए० व०=शहद की तरह मीठा (प्यारा कृष्ण)। अथवा 'मा' लक्ष्मी तस्याः धवः (पतिः) वा माया (विद्यायाः) धवः। विष्णुरूप भगवान् कृष्ण।

पाण्डवः=(पुं०) पाण्डोः अपत्यम्, पाण्डु+अण्+प्र० ए० व०=पाण्डु का पुत्र=अर्जुन।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ही। भी।

दिव्यौ=(वि०)√दिव्+यत्=दिव्य+द्विती० द्वि० व०=(दो) अलौकिकों को। (दो) दैवी।

शङ्खौ=(पुं०) द्विती० द्वि० व०=(दो) शङ्खों को।

प्रदध्मतुः=प्र√ध्मा+लिट्० प्र० द्वि० व०=(दो) बजाए। (दोनों ने) बजाए।

अर्थ—फिर श्वेत घोड़े जुड़े हुए (अर्थात् श्वेत इञ्जनों से युक्त) बहुत बड़े रथ (टैंक) में बैठे हुए श्री कृष्णचन्द्र और अर्जुन दोनों ने ही (या भी) (अपने-अपने) शङ्खों को बजाया ॥१४॥

व्याख्या—महाभारत का युद्ध उस समय का विश्व युद्ध था जिसमें लगभग चालीस पैंतालीस लाख सैनिकों ने भाग लिया था। इस युद्ध में घोर और भयानक नरसंहार हुआ था। यह युद्ध भी आजकल के युद्धों की भाँति मशीनी और ऐटमी युद्ध था। उस समय के योद्धा तीरों के सिरों पर बम और राकेट जोड़कर चलाते थे। राम के समय त्रेतायुग में ही अत्युत्तम अस्त्र-शस्त्र बन चुके थे जिनसे सहस्रों योद्धा थोड़े समय में ही मारे जाते थे और राकेट मारकर सैकड़ों मीलों पर दूर फेंक दिए जाते थे। अत्युत्तम दूरदर्शी यन्त्र बने हुए थे। प्रत्येक सेनापति के पास ऐसे यन्त्र विद्यमान थे जिनके द्वारा वे बहुत दूर के सैनिकों के शब्द भी सुन सकते थे और उन्हें अपनी बात सुना भी सकते थे। उड़ने वाले ऐटमी साधन बने हुए थे जिनको कमर से बाँधकर

अल्प काल में ही सैकड़ों मील आकाश मार्ग से आया जाया जाता था। वे लोग असली अंगों जैसे ही सब प्रकार के कृत्रिम अंग बनाकर अपने शरीरों में जोड़ और तोड़ लेते थे। उनके पास ऊपर चढ़कर युद्ध में काम आने वाले जंगी टैंक मौजूद थे। सन्तानोत्पत्ति के अनेक ढंगों से वे परिचित थे। मटकों में भी वे बच्चे उत्पन्न कर लेते थे। दूसरों के खून को दूसरों में डाल सकते थे। वह कौन सा काम था जिसे वे लोग नहीं कर सकते थे। उस समय विज्ञान उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ था जो महाभारत के युद्ध के साथ ही सारे का सारा मलियामेट हो गया।

भगवान् कृष्णचन्द्र और अर्जुन भी जिस रथ पर चढ़े हुए थे वह एक महान् स्यन्दन था। वह अग्नि और वरुण के द्वारा प्राप्त हुआ था अर्थात् पानी और अग्नि के मेल से चलता था। उसमें जो इञ्जन लगे हुए थे वे श्वेत रंग के थे भले ही उनकी आकृति घोड़ों से मिलती-जुलती थी परन्तु वे घास खाने और लीद करने वाले घोड़े कदापि न थे। उस समय उन इञ्जनों की शक्ति का अनुमान भी हौर्सपावर या घोड़ों की शक्ति द्वारा ही किया जाता था।

आजकल के युद्ध और उस समय के युद्ध में एक बड़ा अन्तर यह था कि आजकल तो निहत्थी प्रजा, ग्रामों और नगरों पर भी भयानक बम गिराए जाते हैं परन्तु प्राचीन काल के लोग ऐसा घोर पाप कदापि नहीं करते थे। महाभारत का युद्ध भी उस पचास साठ मील की उजाड़ में ही लड़ा गया था जो कुरुक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध थी और जिसमें कोई भी जनसाधारण नहीं रहने दिया गया था। यह क्षेत्र एक बहुत बड़ा हवनकुण्ड था जिसमें संसार की सभ्यता का नाश करने के लिए संसार के साररूप नरोत्तम नरों की बलियां दी गई थीं। इस समय भी आधुनिक काल के जंगबाज ऐसा ही संसार का सर्वनाश करना चाहते हैं। भगवान् उनको सुमति दें ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

पाञ्चजन्यम्+हृषीकेशः+देवदत्तम्+धनञ्जयः। पौण्ड्रम्+दध्मौ महा-शङ्खम्+भीम-कर्मा वृक-उदरः ॥

पाञ्चजन्यम्=(पुं०) पञ्चजने दैत्य-विशेषे भवः, पञ्चजन+ञ्य+द्विती० ए० व०। 'पञ्चजन' नाम के दैत्य को मारकर श्रीकृष्ण जी ने यह शङ्ख प्राप्त किया था। इससे भगवान् के शङ्ख का यह नाम हुआ। पाञ्चजन्य को।

हृषीकेशः=(पुं०) हृषी+केश [हृषी=आनन्ददायक, केश=किरण] भगवान् अपनी सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा विद्युत् आदि विभूतियों की किरणों से समस्त जगत् को हर्षित करते हैं इसलिए हृषीकेश कहलाते हैं।

अथवा

हृषीकाणाम् ईशः, हृषीक+ ईशः (षष्ठी० तत्पु०) इन्द्रियों का स्वामी (अन्तर्यामी)।

[√हृष् (प्रसन्न होना)+ईकक्=हृषीक (इन्द्रिय) । √ईश् (शासन करना)+क=ईश (स्वामी)। इन्द्रियों का स्वामी या शासक।]

अथवा

हृषी+केशः=आनन्ददायक सुन्दर केशों वाला। (प्र० ए० व०) हृषीकेश (भगवान् कृष्ण) ने।

देवदत्तम्=(पुं०) देवैः दत्तम् (तृती० तत्पु०) देवताओं द्वारा दिया हुआ। यह शंख देवताओं ने अर्जुन को दिया था।

देवदत्त को। देवदत्त नामक शंख को।

धनञ्जयः=(वि० पुं०) धनं जयति (सम्पादयति)=धन√जि+खच्+मुम् +प्र० ए० व०।

धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को जब इन्द्रप्रस्थ का राज्य दे दिया था तो युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिये अर्जुन ने सब दिशाओं के राजाओं को जीतकर अपार धन उपार्जन किया था। इससे अर्जुन का नाम 'धन को जीतने वाला' या 'धनञ्जय' हुआ। धनञ्जय (अर्जुन) ने।

पौण्ड्रम्=(पुं०) पुण्ड्र+अण्+द्वि० ए० व०। पुण्ड्र एक देश का नाम था। वहाँ के राजा को जीतकर भीमसेन ने वह शंख प्राप्त किया था। इससे वह शंख पौण्ड्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। पौण्ड्र को।

दध्मौ=√ध्मा+लिट्० प्र० पु० ए० व०=बजाया।

महा-शङ्खम्=(पुं०) (कर्मधा०) द्वितो० ए० व०=बहुत बड़े शंख को। [यह पौण्ड्र का विशेषण है।]

भीम-कर्मा=(वि०) भीमानि कर्माणि यस्य सः (बहुव्री०) भीम+कर्मन्+ (पुं०) प्र० ए० व०=भयंकर कर्म करने वाले ने।

वृक+उदरः=(वि०) वृकस्य तुल्यम् उदरं यस्य सः (बहुव्री०) (पुं०) प्र० ए० व०। भेड़िये के तुल्य उदर (पेट) वाले ने। वृकोदर (भीमसेन) ने।

अर्थ—पाञ्चजन्य (नामक शंख) को हृषीकेश (भगवान् श्रीकृष्ण) ने, देवदत्त (नामक शंख) को धनञ्जय (अर्जुन) ने, और पौण्ड्र (नामक) महाशंख को भयंकर कर्मों वाले वृकोदर (भीमसेन) ने बजाया ॥१५॥

व्याख्या—संजय ने राजा धृतराष्ट्र को अपने व्यंग भरे वचनों से सूचित किया कि हे राजन् ! जिस भगवान् के वशवर्ती सकल संसार के समस्त जीवों की इन्द्रियां हैं उसको तेरे दुर्योधनादि पुत्र कैसे जीत सकते हैं ? वह भगवान् खुल्लमखुल्ला साक्षात् पाण्डवों का पक्षपाती है तो फिर वे पाण्डव भी कौरवों द्वारा कैसे जीते जा सकते हैं ? उस दैत्यों के नाशक भगवान् ने पाञ्चजन्य शंख को बजाकर मानो यह घोषित किया है कि अन्यायी और पापियों का शीघ्र ही नाश होने वाला है । सब दिशाओं के राजाओं को जीतकर धन उपार्जन करने वाले अर्जुन ने देवताओं से दिए हुए देवदत्त शंख को बजाकर भगवान् द्वारा की हुई घोषणा का समर्थन कर दिया है । तेरे पुत्रों ने तो सिवाये ठगी बगी के न तो अर्जुन जैसा कोई महान् काम किया है और न उनके पास अर्जुन जैसा कोई दिव्य शंख ही है । भीमसेन ने पौण्ड्र नामक अपने महाशंख को बजाकर भगवान् की घोषणा का विशेष रूप में समर्थन कर दिया है । भीम भयंकर कर्मों को करने वाला है । उसका पेट भेड़िए के समान है जो शत्रुओं को मार-मारकर भी तृप्त नहीं होता, सदा अपने शत्रुओं का रुधिर पीता है । उसने भरी कौरव सभा में यह प्रतिज्ञा की थी कि तेरे प्रिय पुत्र दुर्योधन की जांघ तोड़कर उसका रुधिर-पान करूँगा । सो वह दिन अब शीघ्र ही आने वाला है जबकि वह अपने महाशत्रु को मारकर भेड़िये की भाँति उसका लहूपान करेगा ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

अनन्तविजयम् + राजा कुन्ती-पुत्रः + युधिष्ठिरः । नकुलः सहदेवः + च सुघोष-मणिपुष्पकौ ॥

अनन्त-विजयम् = (पुं०) नान्तो विजयानाम् यस्य सः = अनन्तविजयः (बहुव्री०) अथवा नान्तो विजयस्य यस्य सः अर्थात् जिसकी विजय का कभी अन्त या नाश नहीं होता । (द्विती० ए० व०) अनन्तविजय (नामक शंख) को ।

राजा = (पुं०) √राज् (चमकना, सुन्दर दीख पड़ना) + कनिन् = राजन् + प्र० ए० व० = राजा ने ।

कुन्तीपुत्रः = (वि०) कुन्त्याः पुत्रः (षष्ठी तत्पु०) (पुं०) प्र० ए० व० = कुन्ती के पुत्र ने ।

युधिष्ठिरः = (पुं०) युधि स्थिरः (अलुक् तत्पु०) (युद्ध में स्थिर रहने वाले) युधिष्ठिर ने ।

नकुलः=(पुं०) नास्ति कुलं यस्य (नञ्०) प्र० ए० व०=नकुल ने।

सहदेवः=(पुं०) सह दीव्यति, √दिव्+अच्+प्र० ए० व०=सहदेव ने।
(सहन करने वाले देवता ने)

च=(अव्यय) और।

सुघोष-मणिपुष्पकौ=(पुं०) द्विती० द्वि० व०। सुघोषं च मणिपुष्पकं च (इतरेतर द्वन्द्व०) सुघोष और मणिपुष्पक (दोनों शंखों) को [सुघोषः=(पुं०) शोभनो घोषः यस्य सः (बहुव्री०) सुन्दर ऊँची आवाज वाला। √घुष् (शब्द करना)+घञ्=घोष। मणिपुष्पक=(पुं०) मणिजड़ित फूल सदृश शंख।] को।

अर्थ—कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय (शंख) को, तथा नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक (नामक शंखों) को बजाया ॥१६॥

व्याख्या—संजय राजा धृतराष्ट्र को बोधित करता हुआ कहता है कि हे राजन्! जो पुरुष युद्ध में सदा स्थिर रहता है उसका नाम युधिष्ठिर है और वह श्रीकृष्ण की बूआ उस कुन्ती का पुत्र है, धर्मराज, पवन, इन्द्र, अश्विनी-कुमार और सूर्य आदि सब देवता लोग जिसके वशीभूत हैं और फिर वह युधिष्ठिर कोई साधारण या जाहु काहु पुरुष नहीं है। आप सब लोगों द्वारा इन्द्रप्रस्थ का राजा माना हुआ है, उसने उस शंख को बजाया जिसका नाम अनन्तविजय है अर्थात् उसको पास रखने और बजाने से वह विजय प्राप्त होती है जिसका कभी अन्त या नाश नहीं होता। वह युधिष्ठिर कुन्ती द्वारा धर्मराज से प्राप्त किया हुआ पुत्र है जिससे धर्मराज उसका पक्षपाती है। कहा भी है—"यत्र धर्मः ततो जयः" अर्थात् जहाँ धर्म हो वहाँ जीत अवश्य होती है। धर्मराज मृत्यु का अधिनायक देवता है वह अपने पुत्र युधिष्ठिर को युद्ध में कभी मरने न देगा। इससे तेरे पुत्रों की विजय असंभव है। युधिष्ठिर स्वयं राजा है, वह युद्ध से कभी पीछे न हटेगा। उसने अनन्तविजय नाम के शंख को बजाया है जिसके प्रभाव से उसको इस युद्ध में नाशरहित विजय प्राप्त होगी। नकुल ने अत्यन्त गम्भीर और ऊँची आवाज वाले 'सुघोष' नाम के शंख को बजाकर यह सूचित कर दिया है कि हम अवश्य ही डंके की चोट जीतेंगे तथा कभी जीते बिना इस धर्मयुद्ध से पीछे न हटेंगे। सहदेव अर्थात् सहन-शीलता के देवता ने 'मणिपुष्पक' नाम के शंख को बजाकर घोषित किया है कि कौरव राजाओं द्वारा एकत्रित की हुई सम्पूर्ण मणियों, स्वर्ण और ऐश्वर्य को हम जल्दी ही प्राप्त कर लेंगे और शत्रुओं को जीतकर सिंहासनारूढ़ हो जायेंगे।

इस प्रकार श्रीकृष्ण जी और पाँच पाण्डवों ने छः अलौकिक और प्रसिद्ध शंख बजाकर अपनी महत्ता सिद्ध कर दी है परन्तु कौरवों की सेना के पास ऐसा कोई भी दिव्य और प्रसिद्ध शंख नहीं है जिसका घोष उनकी कल्याण की सूचना देता हो। इससे ज्ञात होता है कि आपके पुत्र कदापि विजय प्राप्त न कर सकेंगे।

युधिष्ठिर ने सब राजाओं को जीतकर राजसूय यज्ञ किया था जिससे उसे राजा की पदवी प्राप्त हुई थी। सो ऐसे शत्रुजित् राजा युधिष्ठिर को तेरे पुत्र कदापि जीत न सकेंगे ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

काश्यः+च परम+इष्वासः शिखण्डी च महा-रथः। धृष्टद्युम्नः+विराटः +च सात्यकिः+च+अपराजितः ॥

द्रुपदः+द्रौपदेयाः+च सर्वशः पृथिवीपते !। सौभद्रः+च महा-बाहुः शङ्खान्+दध्मुः पृथक्+पृथक्।

काश्यः=(पुं०) [√काश् (चमकना)+अच्+ङीष्=काशी (वाराणसी नगरी का दूसरा नाम)]। काशी+(सम्बन्धार्थक) छ—ईय=काश्य+ प्र० ए० व०=काश्यः=काशी के राजा ने।

च=और।

परम+इष्वासः=(वि०) परमः इष्वासः धनुः यस्य सः (बहुव्री०) परम (श्रेष्ठ) धनुष वाले ने।

शिखण्डी=(पुं०) [शिखण्ड=खोदापन। दाढ़ी मूँछ से रहित होना।] शिखण्ड+इन्=शिखण्डिन् (दाढ़ी मूँछ से रहित मनुष्य—खोदा आदमी) +प्र० ए० व०=शिखण्डी।
[काशीराज की बड़ी पुत्री का नाम 'अम्बा' था जिसकी दो छोटी बहनें धृतराष्ट्र और पाण्डु की माताएँ थीं। अम्बा ने भीष्म से कुपित होकर आत्मदाह कर लिया था और वह द्रुपद की कन्या शिखण्डिनी होकर जन्मी थी और फिर उसने वन में तप करके स्थूण नामक यक्ष से पुरुषत्व

प्राप्त किया था और फिर अपने भाई धृष्टद्युम्न के साथ ही द्रोणाचार्य से अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या प्राप्त की थी। इन दोनों भाइयों ने ही युद्ध में द्रोणाचार्य और भीष्म को मारा था।]

च=और।

महा-रथः=(वि०) (पुं०) प्र० ए० व०=बहुत बड़े रथ (टैंक) वाले ने। बहुत बड़े जरनैल ने।
[लाखों से अकेला ही लड़ने वाला। दस हजार सेना का सेनापति]।

धृष्टद्युम्नः=(पुं०) प्र० ए० व०=राजा द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने।
[धृष्ट=शत्रुओं को पीड़ित करने वाला। द्युम्न=बल।]

विराटः=(पुं०) प्र० ए० व० (विशेष करके शत्रुओं को रुलाने या भगाने वाला) राजा विराट ने।

च=और।

सात्यकिः=(पुं०) प्र० ए० व०। सात्यकि ने।
[यह सत्यक नाम के राजा का पुत्र और श्री कृष्णचन्द्र का सारथी था।]

च=और।

अपराजितः=(वि०) न पराजितः (नञ् तत्पु०) परा√जि+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=न जीता हुआ। न जीता जाने वाला। (१७)

द्रुपदः=(पुं०) द्रु=वृक्ष, पद=चिह्न। वृक्ष के चिह्न वाली ध्वजा को अपने रथ (टैंक) पर धारण करने वाला।
प्र० ए० व०=राजा द्रुपद।
'द्रुपद' का असली नाम 'यज्ञसेन' था। द्रौपदी, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी इन तीन सन्तानों को कौरवों का नाश करने के लिए इसने उत्पन्न किया था।

द्रौपदेयाः=(पुं०) द्रौपदी+ढक् (एय)+प्र० ब० व०=द्रौपदी के पाँचों पुत्र।
[प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतसेन ये पाँचों पाण्डवों के क्रमशः द्रौपदी के पाँच पुत्र थे।]

सर्वशः=(अव्यय) सर्व+शस्=सर्वशः=पूरी तरह से (इन सबने)।

पृथिवीपते !=(पुं०) पृथिवीपति+सम्बो० ए० व०=हे राजन् !। हे राजा धृतराष्ट्र !।

सौभद्रः=(पुं०) सुभद्रायाः अपत्यम्, सुभद्रा+अण्+प्र० ए० व०=सुभद्रा का पुत्र। अभिमन्यु।

च=और।

महाबाहुः=(वि०) महान्तौ बाहू यस्य सः, (बहुव्री०) (पुं०) प्र० ए० व०= लम्बी भुजाओं वाला। महाशक्तिशाली।

शङ्खान्=(पुं०) द्विती० ब० व०=शंखों को।

दध्मुः=√ध्मा+लिट्० प्र० पु० ए० व०=बजाए। बजाया।

पृथक्+पृथक्=(अव्यय) अलग-अलग। (१८)

अर्थ—हे राजा धृतराष्ट्र! परम (श्रेष्ठ) धनुषधारी काशी के राजा, महारथ (जरनैल) शिखण्डी, (शत्रुओं को पीड़ा देने वाले बल रूप) धृष्टद्युम्न, (शत्रुओं को भगाने और रुलाने वाले) विराट, (किसी से भी) न जीते जाने वाले सात्यकि, (द्रौपदी के पिता) राजा द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्रों और महाबाहु सुभद्रा के पुत्र (अभिमन्यु), पूरी तरह से (इन सबने) अपने पृथक्-पृथक् शंख बजाए॥१७, १८॥

व्याख्या—इन दोनों श्लोकों में संजय ने जिन-जिन योद्धाओं का शंख बजाना वर्णन किया है उनके विशेषणों को कहकर उनकी वीरता का वर्णन भी साथ ही कर दिया है जिससे संजय का भीतरी भाव यही है कि हे राजन्! तेरे पुत्रों की जीत कदापि न होगी॥१७, १८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥१९॥

सः+घोषः+धार्तराष्ट्राणाम्+हृदयानि वि+अदारयत्। नभः+च पृथिवीम्+च+एव तुमुलः+वि+अनुनादयन्॥

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह। उसने।

घोषः=(पुं०)√घुष्+घञ्+प्र० ए० व०=घोष ने। ऊँचे शब्द ने। भयानक शोरगुल ने। भयानक ध्वनि रूप पाण्डवों की ओर से दी गई चेतावनी ने। घोषणा ने।

धार्तराष्ट्राणाम्=(पुं०) धृतराष्ट्र+अण्+षष्ठी० ब० व०=धृतराष्ट्र के पुत्रों के। आपके पुत्रों के। [यहाँ "आपके पुत्रों के" के स्थान पर "धृतराष्ट्र के पुत्रों के" कहना भी व्यंग्यपूर्ण और गम्भीर भाव भरा वचन है।]

हृदयानि=(नपुं०) द्विती० ब० व०=हृदयों को।

वि+अदारयत्=वि√दृ (स्वा० पर० सक०=फाड़ना)+णिच्+लङ्०, प्र० पु०, ए० व०=फाड़ दिया [घोष रूप कर्त्ता 'ए० व०' होने से यहाँ क्रिया भी 'ए० व०' है।]

नभः=(नपुं०)√नम् (भ्वा० आत्म० अक०=न होना। शून्य होना)+अच् =नभस्+द्विती० ए० व०=नभ को। आकाश को।

च=और।

पृथिवीम्=(स्त्री०) प्रथते—विस्तारम् एति, √प्रथ् (भ्वा० आत्म०, चुरा० पर० सक० अक०=धन की वृद्धि करना। कीर्ति फैलाना) षिवन्, संप्रसारण=पृथिवी +द्विती० ए० व०=पृथ्वी को।

च=और।

एव=(अव्यय) ही। भी।

तुमुलः=(वि०)√तु+मुलक्=तुमुल+(पुं०) प्र० ए० व०=भयंकर ने (यह "घोषः" का विशेषण है)।

वि+अनुनादयन्=(वि०) वि—अनु√नद् (भ्वा० पर० अक०=शब्द करना। प्रतिध्वनि करना)+णिच्+शतृ=व्यनुनादयत्+(पुं०) प्र० ए० व०= शब्दायमान करते हुए। प्रतिध्वनित करते हुए।

अर्थ—[हे राजन्!] उस तुमुल घोष (भयानक ध्वनि रूप पाण्डवों द्वारा की गई घोषणा) ने आकाश और पृथ्वी को प्रतिध्वनित करते हुए धृतराष्ट्र के (लाड़ले—अन्यायी) पुत्रों के हृदयों को भी फाड़ दिया [विदीर्ण या भयभीत कर दिया] ॥१९॥

व्याख्या—संजय धृतराष्ट्र से बात कर रहा था; इसलिये उसे "आपके पुत्रों के" ऐसा कहना चाहिए था न कि "धृतराष्ट्र के पुत्रों के"। परन्तु संजय अत्यन्त बुद्धिमान्, सुयोग्य और वाक्पटु पुरुष था जिसकी झलक उसके द्वारा कहे गये प्रत्येक शब्द में मिलती है। संजय के इस कथन से यहाँ अभिप्राय यह है कि हे राजन्! आपके दो रूप हैं एक तो धर्ममूर्ति, न्यायकारी, प्रजापालक राजा का रूप। दूसरे पुत्रों की मोहमाया में फँसा हुआ साधारण व्यक्ति धृतराष्ट्र का रूप। जब आपने अपने पुत्रों की मोहमाया में फंसकर दुर्योधन आदि की कुटिल योजना के अनुसार दो बार पाण्डवों को हस्तिनापुर में बुलवाकर उन्हें जूआ खेलने के लिए मजबूर किया और उनका राज्य धोखे से छीनकर उनको बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास की आज्ञा दी थी उस समय के धृतराष्ट्र आप और हैं जिनके पुत्र दुर्योधन आदि कौरव हैं परन्तु इस समय आप मेरे सामने राजगद्दी पर बैठे हुए धर्ममूर्ति, धर्म-पालक राजा रूपधारी वे व्यक्ति हैं जिसकी सारी प्रजा ही अपनी सन्तान है, जिसे, सदा न्याय-पक्षपाती होने के कारण कौरव और पाण्डवों में कोई भेद नहीं होना चाहिए क्योंकि न्यायप्रिय राजा का कोई अपना पुत्र नहीं होता और

सब ही उसके पुत्र होते हैं। यदि मैं यहाँ "आपके पुत्रों के" कहता तो सिंहासन पर विराजमान न्यायमूर्ति राजा का अयथार्थ बात कहकर अपमान ही करता। इसलिए मैंने उस धृतराष्ट्र के पुत्रों का वर्णन किया है जो पुत्रों के मोह में फँसकर न्याय को तिलांजलि देकर राजगद्दी पर बैठने के अयोग्य हो चुका है। जिसने मोहान्ध होकर वह कर्म किया जो उसे न करना चाहिए था, जिसका बुरा फल वह वंश-वियोग के रूप में शीघ्र ही भोगने वाला है।

फिर स्वामी चिद्घनानन्द जी गिरि महाराज के शब्दों में संजय कहते हैं:—

हे धृतराष्ट्र ! आपके दुर्योधनादि पुत्रों की सेना के शंखों का शब्द यद्यपि महान् था तथापि उनको सुनकर पाण्डवों को किंचिन्मात्र भी क्षोभ न हुआ। परन्तु पाण्डवों की सेना के पाञ्चजन्य, देवदत्त और पौण्ड्र आदि शंखों की ध्वनि से तो पृथ्वी, आकाश, पाताल और दसों दिशाएँ गूँज उठी थीं और उस समय इतना भयानक शोर हुआ कि कुछ न पूछिए। दुर्योधनादि धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदय उस तुमुलघोष को सुनकर भय से विदीर्ण हो गए।

तात्पर्य यह कि शस्त्र द्वारा हृदय के कट जाने से मनुष्य को जितना दुःख और पीड़ा होती है उतना ही दुःख और पीड़ा पाण्डवों द्वारा किए गये इस तुमुलघोष से कौरवों के हृदयों में हुई। अब आप ही अनुमान लगाइए कि क्या वे आपके लाड़ले पुत्र पांण्डवों को जीत सकेंगे ? ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

अथ व्यवस्थितान्+दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्+कपि-ध्वजः। प्रवृत्ते शस्त्र-सम्पाते धनुः+उद्यम्य पाण्डवः ॥

हृषीकेशम्+तदा वाक्यम्+इदम्+आह महीपते।

अर्जुनः+उवाच—

सेनयोः+उभयोः+मध्ये रथम्+स्थापय मे+अच्युत !

अथ=(मंगलसूचक अव्यय)√अर्थ+ड, पृषो० र् लोप=इसके बाद। तदनन्तर। तब

व्यवस्थितान्=(वि०) वि—अव√स्था+(कर्तरि) क्त=व्यवस्थित+(पुं०) (द्वितीo) ब० व०=युद्ध का उद्यम करके स्थितों को।

दृष्ट्वा=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+क्त्वा=देखकर
धार्तराष्ट्रान्=(वि० पुं०) धृतराष्ट्र+अण्+धार्तराष्ट्र+द्विती० ब० व०। धृतराष्ट्र से सम्बन्ध रखने वालों को। कौरव पक्ष वालों को।
कपि-ध्वजः=(वि०) यस्य ध्वजापटमध्ये चित्रिता कपिमूर्त्तिः सः (बहुव्री०)= जिसकी ध्वजा के वस्त्र पर कपि (हनुमान् जी) की मूर्ति बनी हुई है वह (अर्जुन)।
[अर्जुन के रथ की ध्वजा पर हनुमान् जी की मूर्ति बनी हुई थी। कहते हैं कि हनुमान् जी परोक्ष रूप में उस पर स्वयं विराजमान थे। इसलिये अर्जुन को 'कपिध्वज' कहा जाता है। इस स्थान पर अर्जुन को कपिध्वज कहने से संजय का अभिप्राय यह है कि हे राजन्! जिस हनुमान् की सहायता से श्री रामचन्द्र जी ने लंका के सम्पूर्ण राक्षसों को जीत लिया था वही राक्षसों का संहार करने वाला जगद्विख्यात योद्धा हनुमान् अर्जुन के रथ की ध्वजा पर स्थित है। भला उस अर्जुन को किसी स्वपक्षी या विपक्षी योद्धा से क्या भय हो सकता है।]
प्रवृत्ते=(वि०) प्र√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=विद्यमान होना)+(कर्मणि) क्त=प्रवृत्त+(पुं०) सप्त० ए० व०=होने पर। प्रवृत्त होने पर। युद्ध संचालित करने की तैयारी के समय पर।
शस्त्र-सम्पाते=(पुं०) शस्त्राणां सम्पाते (षष्ठी तत्पु०)। [सम्√पत्+घञ् =सम्पात=सहपतन। एक साथ पतन (गिरना)। संघर्ष। मुठभेड़।] सप्त० ए० व०। शस्त्र संचालन होने (की तैयारी) पर।
धनुः=(नपुं०) धनुस्+द्विती० ए० व०=धनुष को।
उद्यम्य=उत्√यम्+घञ्, न वृद्धि=उद्यम्+ल्यप्=उठाकर। उद्यम करके।
पाण्डवः= (वि० पुं०) पाण्डोः अपत्यम्, पाण्डु+अण्+प्र० ए० व०= पाण्डु के पुत्र (अर्जुन) ने।
[यों तो युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव में से प्रत्येक पाण्डु का पुत्र होने से 'पाण्डव' है। परन्तु यहाँ प्रसंगानुसार पाण्डु के पुत्र 'अर्जुन' से ही तात्पर्य है।] (२०)

हृषीकेशम्=(वि० पुं०) हृषीक+ईशः। हृषीकाणाम् (इन्द्रियाणाम्) ईशः =इन्द्रियों के स्वामी (भगवान् कृष्ण) को। (द्विती० ए० व०)।
√हृष् (भ्वा०, दिवा०, पर० अक०=प्रसन्न करना। आनन्द देना)+ ईकक्=हृषीक=खुश करने वाला, आनन्द देने वाला—इन्द्रिय। इन्द्रियां मनुष्य को आनन्द देती हैं इसलिये उनको "हृषीक" कहते हैं।
हृषी+केशम्=(पुं०) हर्ष से खड़े किए हुए या प्रशस्त जिसके केश हैं वह

(बहुव्री०)=श्रीकृष्ण भगवान् को। अथवा केश नाम 'किरण' का भी है। तब अर्थ होगा—आनन्द देने वाली किरणों से युक्त सूर्य चन्द्र आदि विभूतियों से संसार को हर्षित करने वाले भगवान् कृष्ण को। सर्वान्तिर्यामी भगवान् कृष्ण को।

तदा=(अव्यय) तस्मिन् काले, तद्+दा=तदा=तब। फिर। उस समय।

वाक्यम्=(नपुं०)√वच्+ण्यत्+द्वि० ए० व०=वाक्य को। कथन। वाक्य। वचन।

['वाक्य' उस सार्थक-शब्द-समूह का नाम है जिसको लिखकर या बोलकर अपना आशय दूसरों पर प्रकट किया जाता है।]

इदम्=(सर्व०, वि०) इदम्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको। यह।

आह=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना। बोलना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहता है (कहा)।

√ब्रू (बोलना) लट् में

पहला पक्ष			दूसरा पक्ष		
ब्रवीति	ब्रूतः	ब्रुवन्ति	आह	आहतुः	आहुः
ब्रवीषि	ब्रूथः	ब्रूथ	आत्थ	आहथुः	×
ब्रवीमि	ब्रूवः	ब्रूमः	×	×	×

महीपते!=(सम्बो० ए० व०) हे राजा धृतराष्ट्र!। हे पृथ्वी के मालिक!

अर्जुनः=(पुं) प्र० ए० व०=अर्जुन।

उवाच=√वच् (अदा० पर० सक०=बोलना)+लिट्० प्र० पु०, ए० व०= बोला।

[उवाच, ऊचतुः ऊचुः। उवचिथ (उवक्थ), ऊचथुः, ऊचुः। उवाच (उवच), ऊचिव, ऊचिम]।

सेनयोः=(स्त्री०)√सि (स्वा० क्रया० उभ० सक०=बाँधना। जाल में फँसाना)+न—टाप्, अथवा सेन [(सह इनेन, बहुव्री०, सहस्य सः)=वह जिसका कोई प्रभु हो (देह)]+टाप्=सेना+सप्त०, षष्ठी द्वि० व० =सेनाओं के।

उभयोः=(सर्व० वि०) √उ+भक्=उभ+(स्त्री०) सप्त० षष्ठी, द्वि० व०=दोनों के।

मध्ये=(नपुं० पुं०)√मन्+यक्, निपा० ह्रस्य धः=मध्य+सप्त० ए० व० =मध्य में। बीच में।

रथम्=(पुं०) रम्यते अनेन, √रम्+क्थन्=रथ (युद्ध के लिये उपयोगी चार पहियों वाली एक सवारी—जंगी टैंक)+द्विती०ए०व०=रथ को। टैंक को।

स्थापय=√स्था+णिच्+लोट्० म० पु० ए० व०=खड़ा कीजिए। स्थित कीजिए।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी ए० व०=मम, मे=मेरा।

अच्युत !=(वि०) न च्युत ! (नञ् तत्पु०)√च्यु (चूना। फिसलना)+क्त =च्युत।

हे अपनी पदवी या प्रतिज्ञा से न फिसलने वाले (कृष्ण) ! । हे सदा एकरस रहने वाले प्रभो ! ।

अर्थ—हे पृथ्वीपति (धृतराष्ट्र जी) ! इसके अनन्तर कपि (महावीर श्री हनुमान् स्थित) ध्वजधारी (रथ वाला) पाण्डु-पुत्र (अर्जुन) युद्ध का उद्यम करके स्थित हुए कौरवों (और उनकी सेना) को देखकर तथा शस्त्र चलने के समय की तैयारी के समय पर धनुष को उठाकर सबकी इन्द्रियों के स्वामी सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णचन्द्र जी से यह वचन बोला।

अर्जुन बोला—

हे अच्युत ! [कभी विकार को न प्राप्त होने वाले ! अपनी पदवी या प्रतिज्ञा से न फिसलने वाले !' सदा एकरस रहने वाले !] (आप) मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थित कीजिए।।२०, २१।।

व्याख्या—संजय ने (१) कपिध्वज, (२) अच्युत, (३) हृषीकेश इन तीन शब्दों को प्रयुक्त करके धृतराष्ट्र को फिर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि हे भोले बादशाह ! (धृतराष्ट्र जी !) पहले तो अर्जुन ही कपिध्वज है। इसलिये महावीर श्री हनुमान् जी की कृपा से उसे कोई भय नहीं है और इससे न ही उसकी विजय में कोई सन्देह है। फिर सबकी इन्द्रियों का स्वामी सर्वान्तर्यामी, सर्व-उर-प्रेरक, दृढ़प्रतिज्ञ, सदा एकरस रहने वाले आनन्दकन्द भगवान् श्री-कृष्णचन्द्र उसके सखा तथा सारथी हैं और आपकी सेना का प्रधान संचालक जगद्विख्यात शूरवीर योद्धा भीष्म पितामह दस दिन युद्ध करके धराशायी हो चुका है। क्या अब भी यह बात आपकी समझ में नहीं आई कि आपके पुत्र पाण्डवों पर कदापि विजय प्राप्त नहीं कर सकते। अतः अपने पुत्रों को समझाकर पाण्डवों से सन्धि कर लो जिससे शेष योद्धा लोग जीवित रह सकें। बिखरे हुए मोतियों की माला का अभी तक कुछ नहीं बिगड़ा है क्योंकि वे इकट्ठे किये जा सकते हैं।।२०, २१।।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्‌धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

यावत्+एतान्+निरीक्षे+अहम्+योद्‌धु-कामान्+अवस्थितान् ।
कैः+मया सह योद्धव्यम्+अस्मिन्+रण-समुद्यमे ॥

यावत्=(अव्यय) यद्+वतुप्, आत्व । अथवा यद्+डावतु=जब तक । ताकि । जिससे ।

एतान्=(सर्व०) एतद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=इनको (शत्रु कौरवपक्षियों को) ।

निरीक्षे=निर्√ईक्ष् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=अच्छी तरह से देखता हूँ । भली-भाँति देख लूँ ।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं ।

योद्धु-कामान्=(वि०) [√युध्+घञ्=योध+उ=योद्धु=लड़ाई की । युद्ध की । युद्ध सम्बन्धी ।
कामान्=√कम्+णिङ्+घञ्=काम (=कामना)+क्विप्=काम (कामना वाला)+(पुं०) द्विती० ब० व०] ।
युद्ध की कामना (इच्छा) वालों को ।

अवस्थितान्=(वि०) अव√स्था+क्त=अवस्थित+(पुं०) द्विती० ब० व० =स्थित हुओं को ।

कैः=(सर्व०) किम्+(पुं०) तृती० ब० व०=किनसे । किनके । किन-किन के ।

मया=(सर्व०) अस्मद्+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा । मुझको ।

सह=(अव्यय) साथ । [यहाँ 'सह' का सम्बन्ध 'कैः' के साथ है । 'सह' के साथी शब्द को सदैव तृती० वि० होती है । दोनों का अर्थ—किन-किन के साथ] ।

योद्धव्यम्=√युध+(कर्मणि) तव्य+(नपुं०) प्र० ए० व०=युद्ध करना चाहिए ।

अस्मिन्=(सर्व०) इदम्+(पुं०, नपुं०) इसमें ।

रण-समुद्यमे=(पुं०, नपुं०) [√रण्+अच्=रण । संग्राम ।
सम्-उद√यम्+घञ्=समुद्यम+सप्त० ए० व०=महान् उद्योग में]
रणस्य समुद्यमे (षष्ठी तत्पु०) युद्ध के महान् उद्योग (व्यापार) में ।

अर्थ—जिससे मैं इन स्थित हुए युद्ध की कामना वालों को भली-भाँति देख लूँ कि इस युद्ध के उद्योग (व्यापार) में मेरे द्वारा किन-किन के साथ युद्ध करना चाहिए ।।२२।।

व्याख्या—अर्जुन ने कहा—हे भगवन् ! ये भीष्मद्रोणादि कौरव पक्ष के सारे योद्धा लोग हमारे साथ युद्ध करने की इच्छा से तैयार खड़े हैं। अतः अब हमारे साथ इनमें से कोई भी मित्रभाव नहीं करेगा। भगवन् ! आप बुरा न मानिए। मैं इसमें से किसी से भी डरता नहीं हूँ। परन्तु युद्ध लड़ने से पहले मैं इन सब पर एक दृष्टि डालना अवश्य चाहता हूँ और यह भी निर्णय करना चाहता हूँ कि इन आततायियों में से किस-किस के साथ मुझे युद्ध करना उचित है और किन के साथ लड़ना मुझे ठीक नहीं है ।।२२।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।२३।।

योत्स्यमानान्+अवेक्षे+अहम्+ये+एते+अत्र समागताः। धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः+युद्धे प्रिय-चिकीर्षवः ।।

योत्स्यमानान्=(वि०)√युध (दिवा० आत्म० अक०=युद्ध करना)+स्य+शानच्=योत्स्यमान+(पुं०) द्विती० ब० व०=(शीघ्र आने वाले समय में) युद्ध करने वालों को।

अवेक्षे=अव√ईक्ष (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+लट्० म० पु०, ए० व०=भली-भाँति देख लूँ।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं।

ये=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ब० व०=जो।

एते=(सर्व०) एतद्+(पुं०) प्र० ब० व०=ये।

अत्र=(अव्यय) इदम् या एतद्+त्रल्=अत्र=यहाँ। इस स्थान में। इस कौरव सेना में।

समागताः=(वि०) सम्—आ√गम् (भ्वा० पर० सक०)+(कर्तरि) क्त+प्र० ब० व०=आए हुए हैं ।।

धार्तराष्ट्रस्य=(पुं०) धृतराष्ट्र+(अपत्ये) अण्+षष्ठी ए० व०=धृतराष्ट्र के पुत्र (दुर्योधन) का।

दुर्बुद्धेः=(वि०) दुष्टा बुद्धिः यस्य सः (बहुव्री०) (पुं०) षष्ठी ए० व०=दुष्ट बुद्धि वाले का।
[बुद्धि=(स्त्री०)√बुध्+क्तिन्]।

युद्धे=(नपुं०)√युध+क्त=युद्ध+सप्त० ए० व०=युद्ध में।
प्रिय-चिकीर्षवः=(वि०) प्रियं चिकीर्षवः (द्वितीο तत्पु०)=प्रिय चाहने वाले। भला करना चाहने वाले। कल्याण करना चाहने वाले। [प्रिय=(वि०) √प्री+क=कल्याण। भला।
चिकीर्षवः=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+सन्+उ=चिकीर्षु+(पुं०) प्र० ब० व०=करना चाहने वाले॥

अर्थ—मैं (शीघ्र आने वाले समय में) युद्ध करने वालों को भली-भाँति देख लूँ जो ये यहाँ (रणभूमि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में) दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र के पुत्र (दुर्योधन) का युद्ध में भला करना चाहने वाले आए हुए हैं॥२३॥

व्याख्या—जो लोग दुर्बुद्धि पुरुष के दुष्कर्म में उसकी सहायता करते हैं तथा उसके बुरे कर्म में उसे सफल करने की इच्छा करते हैं वे भी दुर्बुद्धि होते हैं। धृतराष्ट्र का पुत्र यह दुर्योधन भी दुर्बुद्धि पुरुष है। जो योद्धा लोग इस महाभारत के युद्ध में इसकी सहायता करने के लिये आए हुए हैं और इसका भला करने की इच्छा करते हैं वे इस दुर्योधन से भी बढ़कर दुर्बुद्धि हैं। हे भगवन्! आप मेरे रथ (टैंक) को दोनों सेनाओं के मध्य में उस स्थान पर स्थित कीजिए जहाँ से मैं इन लाखों लोगों को अपनी दूरबीन द्वारा भली-भाँति देख लूँ क्योंकि ये लड़ने की इच्छा वाले दुर्बुद्धि लोग समस्त विश्व का नाश कर देना चाहते हैं॥२३॥

[अब वैशंपायन जी महाराजा जनमेजय के प्रति कहते हैं—]

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥२५॥

एवम्+उक्तः+हृषीकेशः+गुडाकेशेन भारत!। सेनयोः+उभयोः+मध्ये स्थापयित्वा रथ+उत्तमम्॥

भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः सर्वेषाम्+च महीक्षिताम्। उवाच, पार्थ! पश्य+एतान्+समवेतान्+कुरून्+इति॥

एवम्=(अव्यय)√इ+वमु=इस प्रकार।
उक्तः=√वच् (अदा० पर० अक० सक०)+(कर्मणि) क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=कहे हुए।

हृषीकेशः=(१) हृषीकाणाम् ईशः (षष्ठी तत्पु०) इन्द्रियों का स्वामी। सब इन्द्रियों को जो अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करता है उसका नाम हृषीकेश है। [हृषीक=√हृष्+इक=इन्द्रिय।]

(२) हृषी+केश=हर्ष से खड़े हुए केशों वाला। अथवा प्रशस्त (श्रेष्ठ या सुन्दर) हैं बाल जिसके वह (बहुव्री०)=भगवान् कृष्णचन्द्र।

[जैसे सूत जी के पिता का नाम लोमहर्षण=हर्ष से खड़े बालों वाला।]

(३) हृषी+केश। [हृषी=आनन्ददायक, केश=किरण वाला] सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् और अग्नि आदि अपनी विभूतियों की किरणों से भगवान् समस्त जगत् को हर्षित करते हैं। इसलिये उनका नाम हृषीकेश है।

(पुं०) प्र० ए० व०=हृषीकेश (श्री कृष्णचन्द्र जी) ने।

गुडाकेशेन=(१) गुडाकायाः ईशेन (षष्ठी तत्पु०)। गुडाका=निद्रा (के), ईशेन स्वामी के द्वारा। नींद को अर्जुन ने अपने वश में किया हुआ था इसलिये उसका नाम गुडाकेश था।

(२) गुडावत् केशा यस्य सः (बहुव्री०) "अंगुष्ठतर्जनीयोगो नाम्नी तु मुद्रिका" शास्त्र के इस वचन से—हाथ के अंगूठे का तर्जनी के साथ जो सम्बन्ध है, उसका नाम 'गुडा' मुद्रिका है। इस गुडा मुद्रिका के समान केश हैं जिसके उसका नाम गुडाकेश है।

अर्जुन के केश घुंघराले और गूढ़ या घने थे। इसलिये लोग उसे "गुडाकेश" कहते थे॥

(३) गुडाकेशः=गुडम् (=ब्रह्माण्डे) अकति—व्याप्नोतीति गुडाकः (शिवः)। स शिवः ईशो यस्य सः गुडाकेशः (बहुव्री०)। "गुडोगोलेक्षुपाकयोः" इस अमरकोश के वचन से—"गुडा" गोला और इक्षुपाक (गन्ने से बना हुआ गुड़) इन दो का नाम है।

इससे गुडा का अर्थ गोला भी है। इस गुडा या ब्रह्माण्ड के गोले के भीतर बाहर (अग्नि से लाल तपे हुए लोहे के गोले में अग्निवत् व्यापक होकर जो स्थित है उस शिव (सर्वव्यापक प्रभु) का नाम 'गुडाकेश' है [गुडा+क] वह गुडाक या सर्वव्यापक जिसका ईश (स्वामी) है। उस अर्जुन का नाम गुडाकेश है। श्रुति कहती है—"विश्वस्यैकं परिवेष्ठितारं ज्ञात्वा शिवम्।" [अर्थ—सारे विश्व को व्याप्त करने वाला जो एक शिव (सर्वव्यापक प्रभु) है; उस शिव को अपनी आत्मा समझकर यह पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है।] इससे ब्रह्माण्ड-व्यापक शिव का नाम "गुडाक" है॥

(४) जैसे गुड़ संसार में मीठी वस्तु है, वैसा मीठा बनकर जो भक्तजनों को प्राप्त होता है उस भक्तवत्सल प्रभु का नाम 'गुडाक' है। वह गुडाक (गुड़वत् मधुर) प्रभु जिसका ईश (स्वामी) है उस अर्जुन का नाम गुडाकेश है।

इस प्रकार तीन अर्थ हृषीकेश के और चार अर्थ गुडाकेश के विद्वान् पुरुषों द्वारा वर्णन किए गये हैं ॥

भारत !=(पुं०, सम्बो० ए० व०) भरतस्य गोत्रापत्यम्=भरत+अण्= हे भरत वंशज (राजा धृतराष्ट्र) !

सेनयोः=(स्त्री०) सेना+षष्ठी, सप्त० द्वि० व०=सेनाओं के।

उभयोः=(सर्व० वि०) उभ+(स्त्री०) षष्ठी सप्त० द्वि० व०=दोनों के।

मध्ये=(पुं०, नपुं०) मध्य+सप्त० ए० व०=मध्य में। बीच में।

स्थापयित्वा=√स्था+णिच्+क्त्वा=स्थित करके।

रथ+उत्तमम्=(पुं०, द्विती० ए० व०) रथम उत्तमम् (कर्मधारय स०)= उत्तम रथ को। सर्वश्रेष्ठ टैंक को। (२४)

भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः=(अव्यय) भीमश्च द्रोणश्च तयोः प्रमुखतः [प्र+मुख+तस्]=भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के सामने से (सम्मुख)।

सर्वेषाम्=(सर्व०) सर्व+(पुं०) षष्ठी ब० व०=सबके।

च=(अव्यय) और।

महीक्षिताम्=(पुं०) मही+क्षित्। अथवा मही+√ईक्ष्+शतृ=महीक्षित् +षष्ठी ब० व०=धरती पालकों के। मही रक्षिकों के। राजाओं के।

उवाच=√वच्+लिट्० प्र० पु०, ए० व०=बोला। बोले। कहा। कहने लगे।

पार्थ !=(पुं०, सम्बो० ए० व०) हे पृथापुत्र (अर्जुन) !
[पृथा अपत्यम्, पृथा+अण्]।

पश्य=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लोट्०, म० पु०, ए० व०= (तू) देख।

एतान्=(सर्व०) एतद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=इनको।

समवेतान्=(वि०) सम्-अव√इ (भ्वा० पर० सक०=जाना। आना। अक० उभ०=स्थित होना)+क्त=समवेत+(पुं०) द्विती० ब० व०=स्थित हुओं को। इकट्ठे हुओं को। एकत्रित हुओं को।

कुरून्=(पुं०)√कृ+कु, उकारादेशः=कुरु+द्विती० ब० व०=कौरवों को।

इति=(अव्यय)√इ+क्तिन्=समाप्त। बस। ऐसा। इस प्रकार।

अर्थ—संजय बोला—

हे भरत वंशज (राजा धृतराष्ट्र) ! गुडाकेश (अर्जुन) द्वारा कहे हुए हृषीकेश (महाराज श्री कृष्णचन्द्र) ने दोनों सेनाओं के मध्य में भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के सम्मुख और सब राजाओं के (सामने) उत्तम रथ को स्थित करके इस प्रकार कहा—हे पृथा पुत्र (अर्जुन) ! (तू सम्मुख) स्थित हुए कौरवों को देख ॥२४, २५॥

व्याख्या—संजय ने यहाँ राजा धृतराष्ट्र को अवगत कराया कि हे राजा धृतराष्ट्र जी ! तेरे पुत्रों का विरोधी अर्जुन गुडाकेश है। उसने नींद को वशीभूत किया हुआ है। आलस्य कभी उसके पास फटक नहीं सकता। गुड़वत् मधुर स्वभाव सर्वान्तर्यामी प्रभु उसका स्वामी और सखा है जिसने भृत्यों की भाँति उसकी आज्ञा को मानकर उसके रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में लाकर स्थापित कर दिया था। इस बात की भी कुछ परवाह न की कि मैं सर्वान्तर्यामी हूँ और यह तुच्छ प्राणी मुझे भृतवत् आज्ञा देता है। भक्तवत्सल प्रभु भक्तों के सदा अधीन रहते हैं। अतः प्रेम के वशवर्ती हुए बड़ाई छुटाई का कभी विचार नहीं करते। वह सर्वान्तर्यामी परमेश्वर सारे ब्रह्माण्ड में उसी प्रकार रम रहा है जिस प्रकार अग्नि में तपाकर लाल किए हुए लोहे के गोले के भीतर बाहर अग्नि व्यापक होती है। वह हृषीकेश भगवान् उस अर्जुन का स्वामी, मित्र और सारथी है। वह ही सबकी इन्द्रियों का प्रेरक और स्वामी है। संसार को मोहित करने के लिये सुन्दर स्वरूप धारण किए हुए है। ऐसी परिस्थिति में आपके पुत्रों का विजयी होना असंभव है।

भगवान् ने सर्वान्तर्यामी होने के कारण पहले ही जान लिया था कि अर्जुन के मन में वंश वालों तथा सम्बन्धियों का मोह उत्पन्न हो गया है और वह इस मोह के कारण क्लैव्यता का प्राप्त हो रहा है जिससे वह दोनों सेनाओं के मध्य में रथ को स्थापित करवाकर अपने सब सगे सम्बन्धियों को तथा अपने कुरुवंश वालों को देखना चाहता है। इसलिये उस नट नागर प्रभु ने हँसते हुए अर्जुन के टैंक को दोनों सेनाओं के मध्य में ऐसे स्थान पर स्थित किया जहाँ से भीष्म द्रोणादि कौरव और उनके सहायक सब राजा लोग अर्जुन को अच्छी तरह से दिखाई दे सकें और उपहास करते हुए बोले—हे पार्थ ! [हे हमारी बूआ पृथा के पुत्र अर्थात् मेरे प्रिय बूआभाई !] यद्यपि साधारण विधवा नारियों को मोह उत्पन्न हो सकता है परन्तु हमारी उस पृथा बूआ को कभी मोह नहीं हो सकता जिसका तू पुत्र है। इसलिये अपनी इस मोहमयी दशा को देखकर कुछ लज्जा करो। कभी-कभी तुझ में भी नारी स्वभाव उत्पन्न हो जाता है क्योंकि राजा विराट् के घर में हिजड़े बनकर नाचते रहे हो।

फिर भगवान् ने अर्जुन को और अधिक मोहग्रस्त करने के लिए कहा—

"पश्यैतान्समवेतान्कुरून्" ।

भगवान् ने यहाँ यह नहीं कहा कि तू अपने शत्रु धृतराष्ट्र के पुत्रों को देख। यदि वे ऐसा कहते तो अर्जुन को इतना अधिक मोह उत्पन्न न होता। इसके स्थान पर भगवान् ने कहा कि "तू कुरुवंश के लोगों को देख।" अर्थात् कुरुवंश के सब लोगों—पाण्डवों सहित कौरवों को देख जिससे अपने पक्ष वालों को देखकर उसे अधिक मोह उत्पन्न हुआ और उस महामोह के कारण ही अर्जुन को गीता सुनने और भगवान् को गीता सुनाने का सुअवसर प्राप्त हो गया।

भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! अब तू इन एकत्रित हुए दोनों पक्षों के कौरवों को एक बार खूब जी भरकर देख ले ताकि जितना अधिक मोह तुझ में उत्पन्न होना है वह हो ले और फिर मैं गीता के उपदेश के द्वारा तेरे सारे मोह और शोक को दूर कर दूँ जिससे फिर युद्धरूपी सागर के मध्य में नाव-परिवर्तन की आवश्यकता न पड़े। अर्थात् युद्ध के समय फिर कभी तेरे मन में किसी प्रकार का विक्षेप और क्षोभ उत्पन्न न हो सके। अर्जुन को धैर्य देने के हेतु ही यह गूढ़ार्थ श्लोक कहा गया है ।।

यद्यपि साधारण बोलचाल में 'रथ' लकड़ी का बना हुआ एक ऐसा यन्त्र होता है जिसमें घोड़े या बैल जुते हुए होते हैं। परन्तु आज से लगभग साढ़े पाँच हजार वर्ष पूर्व युद्धों में चलने वाले रथ उन मशीनों से चलाए जाते थे जो देखने में घोड़े ही मालूम होती थीं।

रामायण और महाभारत काल हिन्दुओं के स्वर्ण युग थे। उस समय का लंका का राम-रावण का युद्ध एक बहुत भयंकर ऐटमी युद्ध था जिसमें विमानों (हवाई जहाजों) और रथों (टैंकों) का प्रयोग किया गया था और एक दूसरे पर ऐटमी आयुध फेंके गए थे। इन्द्र का रथ, जो हवाई जहाज और टैंक की भाँति पृथ्वी और आकाश दोनों स्थानों पर काम देता था, राम के लिये लाया गया था। रावण भी आकाश में चलने वाले रथ पर चढ़कर ही सीता को चुराने आया था और जटायु ने भी किसी छोटे रथ पर चढ़कर ही आकाश में उससे लड़ाई लड़ी थी। हनुमान् जी भी ऐटमी शक्ति द्वारा ही आकाश में उड़ते थे। खरदूषण और उनकी चौदह हजार सेना का नाश राम ने ऐटमी आयुधों से किया था। राम लक्ष्मण ने तपोवन में अपनी कुटिया के चारों ओर सुरंगें या बम दबाए हुए थे। सीताहरण के समय रावण ने उनको लांघने का खतरा मोल नहीं लिया था। यह कहकर कि साधु किसी के

घर के भीतर प्रविष्ट होकर भिक्षा ग्रहण नहीं करते इस बहाने से सीता को बाहर निकालकर छल लिया था। रावण ने अपने सिर के साथ नौ और कृत्रिम सिर लगा रखे थे जिनको समय आने पर वह पृथक् भी कर लेता था। परन्तु लोगों को वह सदा दशानन ही दिखाई देता था। वह निर्धन साधुसन्तों से कर रूप में शरीर का खून लिया करता था। उसने लंका में सोने के घर बना रखे थे। रामायण काल के बाद ही महाभारत काल आया था जिसमें विज्ञान ने महान् उन्नति की थी। उस समय भी परशुराम, हनुमान् और जामवन्त आदि विद्यमान थे। रामायण काल में सम्पाति के पास एक अत्युत्तम दूरबीन थी जिसके द्वारा वह सौ योजन अर्थात् चार पाँच सौ मील दूर अशोक वाटिका में बैठी हुई सीता को देख रहा था। ऐसी ही कोई दूरबीन अर्जुन के पास भी थी जिसके द्वारा उसने कुरुक्षेत्र की मीलों लम्बी विशाल विस्तृत भूमि पर मोर्चाबन्द हुई दोनों सेनाओं के लाखों योद्धाओं को देखा और पहचाना था।

समय की कुटिल गति से महाभारत युद्ध में संसार के सारे शिल्पी, कलाकार, योद्धा, विद्वान् और वैज्ञानिक मारे गये जिससे हमारा सारा गौरव नष्ट हो गया और हम अज्ञान और अवनति को प्राप्त हो गये। हमारी उन्नति की सच्ची कहानी अलफ़लैला के किस्से होकर रह गई और आज के विज्ञान के युग में भी हमारा सन्देह दूर नहीं होता। दूसरों ने हमारी प्राचीन सभ्यता की खोज की और उससे लाभ उठाकर कुछ से कुछ बन गए। परन्तु हम अभी तक ध्वान्त में फँसे हुए हैं। मत-मतान्तरों की लोहश्रृंखलाओं में जकड़े हुए अन्धसागर में गोते खा रहे हैं।

दूसरों ने हमारे मृत विज्ञान को पुनर्जीवन प्रदान कर दिया है। अब हमें स्वयं इसका पालन-पोषण करना चाहिए। जिस प्रकार संजय सब गुप्त घटनाओं को दिव्यदृष्टि द्वारा अपने सामने घटित होती हुई देख रहा था उसी प्रकार हमें दिव्यदृष्टि द्वारा अपने स्वर्णमय भूत को देख लेना चाहिए और भविष्यत् को उज्ज्वल और देदीप्यमान बना लेना चाहिए।

महाभारत में लिखा है कि संजय दिव्यदृष्टि यन्त्र के द्वारा युद्ध की सब घटनाओं को अपनी आँखों के सामने होती हुई देखता था। सामने या पीछे, दिन में या रात में, गुप्त या प्रकट, अमल में आई हुई अथवा केवल मन में सोची जा रही ऐसी कोई घटना और बात न थी जिसको संजय न जान पाता था। इस दिव्यदृष्टि के प्रभाव से उसके शरीर में न तो कोई अस्त्र-शस्त्र ही छू सकता था और न कहीं आने-जाने में उसे प्रयास या उद्योग करना होता था तथा न उसे थकावट होती थी। वह यन्त्र अत्यन्त हल्का-फुल्का था और उससे ऐटमी किरणें निकलकर अंगों की रक्षा भी करती थीं।

भगवान् ने ज्ञानी से विज्ञानी को अपना अधिक प्यारा कहा है। इसलिए हे मेरे देशवासियो ! पहले विज्ञानी बनो और फिर ज्ञानी बनो।

अर्जुन के रथ को उत्तम रथ संजय ने पाँच कारणों से कहा है :—

१—इसी अध्याय के चौदहवें श्लोक में अर्जुन के रथ के सम्बन्ध में संजय ने "महति स्यन्दने स्थितौ" अर्थात् 'बहुत बड़े रथ में बैठे हुए' कहा है। टैंक या रथ जितना बड़ा और मजबूत होता है उतना ही अधिक उत्तम होता है।

२—वह रथ अर्जुन को अग्नि और वरुण देवताओं ने दिया था। इसलिये अर्जुन के रथ के उत्तम होने में कोई सन्देह नहीं है।

३—उस रथ के संचालक या सारथी स्वयं साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी थे।

४—उस रथ में सर्वश्रेष्ठ योद्धा अर्जुन स्थित था।

५—उस रथ की ध्वजा पर श्री हनुमान् जी विराजमान थे ॥२४, २५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

तत्र + अपश्यत् + स्थितान् + पार्थः पितॄन् + अथ पितामहान्। आचार्यान् + मातुलान् + भ्रातॄन् + पुत्रान् + पौत्रान् + सखीन् + तथा ॥

श्वशुरान् + सुहृदः + च + एव सेनयोः + उभयोः + अपि।

तत्र = (अव्यय) तत् + त्रल् = वहाँ।

अपश्यत् = √दृश् (भ्वा० पर० सक० = देखना) + लङ्० प्र० पु०, ए० व० = देखा।

स्थितान् = (वि०) √स्था (भ्वा० पर० अक० = स्थित होना) + क्त = स्थित + (पुं०) द्विती० ब० व० = स्थित हुओं को।

पार्थः = (पुं) पृथा + अण् (अपत्ये) = पार्थ + प्र० ए० व० = पृथा (= मोह, शोकग्रस्त नारी) के पुत्र ने। अर्जुन ने।

पितॄन् = (पुं०) पाति रक्षति अपत्यम्, √पा + तृच् = पितृ + द्विती० ब० व० = पिताओं को।

अथ = (अव्यय) √अर्थ् + ड पृषो० र-लोप = तब, और।

पितामहान्=(पुं०) पितृ+डामहच्=पितामह+द्वितो० ब० व=दादों को।
आचार्यान्=(पुं०) आ√चर्+ण्यत्=आचार्य+द्विती० ब० व०=आचार्यों, शिक्षकों और गुरुओं को।
मातुलान्=(पुं०) मान्यते पूज्यते या सा,√मान्+तृच्, न-लोप निपा०,= मातृ+डुलच्=मातुल+द्विती० ब० व०=मामाओं को। माता के भाइयों को।
भ्रातॄन्=(पुं०) √भ्राज्+तृच्, निपा० साधुः=भ्रातृ+द्विती० ब० व०= भाइयों को।
पुत्रान्=(पुं०) पुतः त्रायते,√पुत्+त्रै+क, अथवा पुनाति पित्रादीन्, √पू+क्त्र, ह्रस्वता=पुत्र+द्विती० ब० व०=पुत्रों को।
पौत्रान्=(पुं०) पुत्रस्य अपत्यम्, पुत्र+अण्=पौत्र+द्विती० ब० व०= पौत्रों को।
सखीन्=(पुं०) सह—समानं ख्यायते,√ख्या+डिन्=सखि+द्विती० ब० व० =सखाओं को।
तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्=तथा। वैसे ही। और। (२६)
श्वशुरान्=(पुं०) शु आशु अश्नुते, शु√अश्+उरच्=श्वशुर+द्विती०ब०व० =श्वशुरों को।
[जल्दी फैल जाता है अर्थात् आदर के योग्य हो जाता है।]
सुहृदः=(पुं०) सुष्ठु हृदयं यस्य सः (बहुव्री०)=सुहृद्+द्विती० ए० व०= सुहृदों को।
च=(अव्यय) और।
एव=(अव्यय) ही।
सेनयोः=(स्त्री०) √सि+न—टाप्, सेन (सह अनेन, बहुव्री० सहस्य सः)+ टाप्=सेना+सप्त० द्वि० व०=सेनाओं में।
['सेन' वह जिसका कोई स्वामी हो।]
उभयोः=(सर्व०)√उ+भक्=उभ+सप्त० द्वि० व०=दोनों में।
अपि=(अव्यय) भी।

अर्थ—तब पृथापुत्र (अर्जुन) ने वहाँ दोनों सेनाओं में भी स्थित हुए पिताओं, पितामहों, आचार्यों, मातुलाओं, भ्राताओं, पुत्रों, पौत्रों, सखाओं, श्वशुरों और सुहृदों को ही देखा। [इनके अतिरिक्त दोनों सेनाओं में अर्जुन को न कोई अन्य दिखाई दिया और न कोई शत्रु मालूम हुआ।] ॥ २६ तथा २७ का पूर्वार्ध ॥

व्याख्या—भगवान् ने अर्जुन को जहाँ भी पार्थ कहा है वहाँ पर उसके प्रति अपना प्यार जतलाया है अर्थात् उससे यह कहा है कि तू मेरा प्यारा बूआभाई है। परन्तु संजय जहाँ पर अर्जुन को मोहग्रस्त दशा में देखता है वहाँ पर उससे घृणा सी करता हुआ प्रतीत होता है। श्लोक २६ में पार्थ कहने से भी उसका आशय कुछ ऐसा ही है। यहाँ पर उसने पृथा का अर्थ कुन्ती नहीं लिया है। केवल उसका अभिप्राय एक साधारण नारी या अबला के पुत्र से है जिसमें अबला के दोनों गुण मोह और शोक विद्यमान हैं। कविवर गुप्त ने कहा है—

बस अबला तेरी यही कहानी। आँचल में दूध आँखों में पानी॥

संजय भी अर्जुन के मोह और शोक को अबला नारी के मोह और शोक-वत कहने के लिये ही यहाँ अर्जुन को पार्थ कहता है। और कहता है कि जब अर्जुन ने दोनों सेनाओं में स्थित प्रत्येक पुरुष पर दृष्टि डाली तो उसे उनमें से एक भी शत्रु दिखाई न दिया। भगवान् नट नागर की माया के कारण उसे अपने से बीस-पच्चीस साल बड़े सब लोग पिता पाण्डु के तुल्य दिखाई दे रहे थे जिनमें भूरिश्रवा आदि सब लोग थे। भीष्म, सोमदत्त आदि सब बूढ़े लोग उसे अपने दादा विचित्रवीर्य के स्वरूप में दिखाई दे रहे थे। यदि कहो कि उसने अपने दादा विचित्रवीर्य और पिता पाण्डु को तो देखा ही न था तो वहाँ पर बूढ़े उसको इन दोनों के रूप में कैसे दिखाई दे रहे थे तो ऐसा कहना भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि यद्यपि अर्जुन ने अपने पिता और पितामह को नहीं देखा था तो भी उनके चित्र तो बार-बार देखे ही थे जिससे उनको पहचानना उसे कठिन न था। सेना में जो पूजनीय ब्राह्मण लोग थे वे सब उसे द्रोणाचार्य या कृपाचार्य के स्वरूप में दिखाई दे रहे थे। शल्य तथा शकुनि आदि सब सगे मामे मालूम हो रहे थे। दुर्योधनादि सब कौरव युधिष्ठिरादि भाई ही भासमान हो रहे थे। दुर्योधन का पुत्र लक्ष्मण और उसकी आयु के सब युवक योद्धा लोग अभिमन्यु, घटोत्कच और द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के सदृश दिखाई देते थे। बहुत छोटे कुमारों को उसने पौत्रों के तुल्य देखा। अपने समान अवस्था वाले अश्वत्थामा और जयद्रथ आदि सब लोग उसे अपने सखा कृष्ण के रूप में दिखाई देते थे और कुछ लोग उसे विराट और द्रुपद का रूप धारण करके श्वशुर बने हुए दृष्टिगोचर हुए और कुछ लोगों को उसने कृतवर्मा, सात्यकि और भगदत्त आदि सुहृदों के रूप में भी देखा। श्लोक में आया हुआ "एव" अव्यय, जिसका अर्थ 'ही' है, यह सूचित करता है कि ऊपर लिखे सम्बन्धियों के बिना अन्य कोई दोनों सेनाओं में उसे दिखाई ही न दिया। दुर्योधनादि सब शत्रु उसकी आँखों से ओझल हो चुके थे। अब उसे किसी को मारने की

भावना ही न रही थी। अर्जुन को ये सब कुछ ज्ञान के कारण न हुआ क्योंकि ज्ञान होने पर तो उसे दोनों सेनाओं में सब लोग भगवान् कृष्ण के रूप में ही दिखाई देते। पिता, पितामह आदि के रूप में कदापि न दिखाई देते। उनका भिन्न-भिन्न सम्बन्धियों के रूप में दिखाई देना तो अर्जुन के केवल मोह का ही सूचक था।

जिन लोगों ने पाण्डवों के साथ बार-बार अन्याय और घोर अनर्थ किया था, बार-बार धोखा और छल किया था वे ही उनको लड़ाई में मारने के लिये युद्धभूमि में स्थित हैं। उन सब शत्रु-सेना-स्थित योद्धाओं को स्त्रीवत् मोह शोकग्रस्त हुआ पृथापुत्र अर्जुन पिता, दादा, गुरु, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, श्वशुर और सुहृद आदि रूपों में देख रहा था। इनको देखकर वह जिस तरह कृपा (कातरता) से आविष्ट (युक्त) होता है। इसको अब आगे सुनिए॥ २६ और २७ का पूर्वार्ध॥

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २८ का पूर्वार्ध ॥

तान्+समीक्ष्य सः+कौन्तेयः सर्वान्+बन्धून्+अवस्थितान्॥
कृपया परया+आविष्टः+विषीदन्+इदम्+अब्रवीत्।

तान्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=उनको।

समीक्ष्य=सम् √ईक्ष् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+ल्यप्=देखकर।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

कौन्तेयः=(पुं०) कुन्त्या अपत्यम्, कुन्ती+ढक्—एय=कौन्तेय+प्र० ए० व० =कुन्ती का (अबलावत् मोह-शोक ग्रस्त) पुत्र (अर्जुन)।

सर्वान्=(सर्व०) सर्व+(पुं०) द्विती० ब० व०=सारे।

बन्धून्=(पुं०) √बन्ध् (क्र्या० पर० सक०=बाँधना)+उ=बन्धु+द्वि० ब० व०=बन्धुओं को। नातेदारों को। रिश्तेदारों को।

[धर्मशास्त्र में तीन प्रकार के बन्धु कहे गये हैं—आत्म-बन्धु, पितृ-बन्धु और मातृ-बन्धु। इनके अतिरिक्त और भी किसी प्रकार का सम्बन्धी जैसे प्रवास-बन्धु, धर्म-बन्धु आदि और मित्र सखा सुहृद् आदि सब बन्धु ही होते हैं।]

अवस्थितान्=(वि०) अव √स्था+क्त=अवस्थित+(पुं०) द्विती० ब० व० =स्थित हुओं को।

कृपया=(स्त्री०) कृप्+अङ् (भावे)—टाप्=कृपा+तृती० ए० व०= कृपा से।

परया=(वि०) परा (स्त्री०)+तृती० ए० व०=परा से। परम से।
आविष्टः=(वि०) आ √विश्+क्त=आविष्ट+(पुं०) प्र० ए० व०=आविष्ट हुआ। युक्त हुआ। अच्छी तरह लथपथ हुआ। भली-भाँति भरा हुआ।
विषीदन्=वि√सद् (सीद्) शतृ=विषीदन्+(पुं०) प्र० ए० व०=दुःखी होता हुआ। ग़मग़ीन होता हुआ। रोता हुआ।
[अ, आ से भिन्न स्वर तथा 'र्' से परे 'स्' को 'ष्' हो जाता है।
"ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्" (पा० ८।३।३२)
इस सूत्र से विषीदन् के न को द्वित्व (DOUBLING) हो गया है।]
इदम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्विती० ए० व०=यह।
अब्रवीत्=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=बोलना। कहना)+लङ्० प्र० पु० ए० व०=बोला।

अर्थ—उन स्थित हुए सारे बन्धुओं को देखकर वह परम दया से युक्त हुआ (अबलावत् मोह और शोक से ग्रस्त हुआ) कुन्ती का पुत्र (अर्जुन) शोक करता हुआ यह बोला॥ उत्तरार्ध २७ और पूर्वार्ध २८॥

व्याख्या—इस श्लोक में कुन्ती-पुत्र कहने से भी संजय का वही अभिप्राय है जो पूर्व श्लोक में पृथापुत्र कहने से था क्योंकि पृथा का दूसरा नाम कुन्ती भी था। अर्जुन मोह और शोक से व्याकुल होकर अश्रुपात करता हुआ इस अध्याय के अन्त तक निरन्तर बोलता चला गया। अन्त में गाण्डीव धनुष रखकर रथ के अगले भाग में बैठ गया। भगवान् उस रोते हुए कुन्तीपुत्र के विषादपूर्ण वचनों को गम्भीरता से निरन्तर सुनते रहे और बीच में कुछ न बोले॥ २७ का उत्तरार्ध और २८ का पूर्वार्ध॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥२९॥

दृष्ट्वा+इमम्+स्वजनम्+कृष्ण! युयुत्सुम्+समुपस्थितम्॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखम्+च परिशुष्यति। वेपथुः+च शरीरे मे रोम-हर्षः+च जायते॥

[फिर वैशंपायन जी राजा जनमेजय से कहते हैं—कि।]

अर्जुन उवाच=अर्जुनः+उवाच=अर्जुन बोला—
दृष्ट्वा=दृश्+क्त्वा=देखकर।
इमम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

[अयम्, इमौ, इमे । इमम्, इमौ, इमान् । अनेन, आभ्याम्, एभिः । अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः । अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः । अस्य, अनयोः, एषाम् । अस्मिन्, अनयोः, एषु ।]

स्व-जनम्=(पुं०) स्वस्य जन-समुदायम् (षष्ठी तत्पु०)। अपने जनसमुदाय को । अपने लोगों को । अपने सम्बन्धियों को ।

[स्व=√स्वन्+ड=अपना ।

जनम्=(पुं०)√जन्+अच्=जन+द्विती० ए० व०=(समूहार्थ में) पुरुषों को । लोगों को । जनसमूह को । सम्बन्धि-जनों को] ।

कृष्ण !=हे कृष्ण !

[√कृष् (खींचना, आकर्षण करना । वशवर्ती करना)+नक्+अच्=कृष्ण (पुं० संबो० ए० व०)=खींचने वाले ! वशवर्ती करने वाले !, हे आकर्षण करने वाले !]

युयुत्सुम्=√युध्+सन्+उ=युयुत्सु (वि०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=युद्ध की इच्छा वाले को । लड़ने की इच्छा वाले को ।

समुपस्थितम्=(वि०) सम-उप√स्था+क्त=समुपस्थित+(पुं०) द्विती० ए० व०=खड़े हुए को ।

सीदन्ति=√सद्+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=ढीले होते जाते हैं । शिथिल हुए जाते हैं ।

मम=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी ए० व०=मे, मम=मेरे ।

गात्राणि=(नपुं०)√गम्+त्रन्, आकारादेश=गात्र+प्र० ब० व०=अङ्ग ।

मुखम्=(नपुं०) मुख+प्र० ए० व०=मुँह । मुख ।

च=(अव्यय) और ।

परिशुष्यति=परि√शुष्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=सूखता जाता है ।

वेपथुः=(पुं०)√वेप्+अथुच्=वेपथु+प्र० ए० व०=कम्प । कम्पन ।

च=और ।

शरीरे=(नपुं०) शरीर+सप्त० ए० व०=शरीर में ।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी ए० व०=मम, मे=मेरे ।

रोम-हर्षः=(वि० पुं०) रोम्णः हर्ष इव—तद् व्यञ्जकत्वात् । रोमों को मानो हर्ष हुआ है जिससे वे उठकर सीधे खड़े हो गये हैं । रोंगटे खड़े होना । प्र० ए० व० । रोमांच ।

च=और ।

जायते=√जन् (दिवा० आत्म० सक०=उत्पन्न होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=होता है । हो रहा है ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! (आकर्षण करने वाले, होश-हवास भुला देने वाले प्रभु !) युद्ध की इच्छा वाली इस अपनी बिरादरी (जाति जनसमूह) को खड़े देखकर मेरे अङ्ग शिथिल (ढीले) होते जा रहे हैं और मुख विशेषकर सूखता जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्प और रोमांच हो रहा है ॥ (२८ का उत्तरार्ध और २९) ।

व्याख्या—इस श्लोक में 'कृष्ण !' सम्बोधन साभिप्राय है । अर्जुन भगवान् कृष्ण का संगी-साथी और परम भक्त है । भगवान् सदा भक्त के वश होते हैं । इसलिए भगवान् ने अर्जुन का सारथी बनना स्वीकार कर लिया है । यह बहुत आश्चर्य की बात है कि जो अर्जुन सदा भगवान् का साक्षात्कार करता रहा है उसको भी मोह ने घेर लिया है । जो निरन्तर अध्याय के अन्त तक उसके वचनों से व्यक्त होता है । अर्जुन स्वयं आप भी उसके कारण को भली-भाँति जानता था जिसने उसे मोहग्रस्त कर रखा था । परन्तु इस बारे में कुछ कर नहीं सकता था क्योंकि यह सब कुछ उस नट-नागर कृष्ण की अपनी इच्छा से हुआ है । इसी से अर्जुन ने भगवान् को कृष्ण नाम से सम्बोधित किया है । उसके ऐसा कहने का भाव यह है कि आप सबके आकर्षण करने वाले हैं । आप सबको अपने वशवर्ती किए हुए हैं । मैं आपकी इच्छानुसार आपकी माया के वशवर्ती हो गया हूँ । मैं विवश हूँ । मैं मजबूर हूँ । जो कुछ कर रहा हूँ केवल आपकी माया के वश हुआ कर रहा हूँ । आप मुझे इस मोहमाया से मुक्त कीजिए ताकि मैं ज्ञानवान् अवस्था को प्राप्त हो सकूँ । इस समय में अनात्मवेत्ता होने से दुःख को प्राप्त हो रहा हूँ । यथार्थ ज्ञान न होने से इस शोकजनित क्लेश को अनुभव कर रहा हूँ ।

[कृषिर्भूः वाचकः शब्दो ण्यश्च निर्वृत्तिवाचकः ।
तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् 'कृष्' धातु सत्ता का वाचक है और ण्य प्रत्यय आनन्द का वाचक है । इस सत्ता और आनन्द दोनों का एकताभावरूप परब्रह्म 'कृष्ण' नाम से कहा गया है ।]

हे कृष्ण ! इस शास्त्र-वचन से आप सत् और आनन्द स्वरूप होने से मोह-शोकादि विकारों से रहित हो । इस समय अपने जिन बांधवों को मैं देख रहा हूँ उनको तो आप भी देख रहे हैं । परन्तु आपको मेरी तरह कुछ भी शोक या मोह आदि नहीं हुआ है । यह आप में महान् विशेषता है । इसलिए हे कृष्ण ! मुझको भी अपनी भाँति मोह और शोक से रहित कीजिए यह मेरी आपसे प्रार्थना है ।

हो सकता है कि आपके मन में यह प्रश्न उठ खड़ा हो कि भगवान् ने अपने अनन्य भक्त अर्जुन को मोहमाया के वशवर्ती क्यों कर दिया था ? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि भगवान् गीता-ज्ञान प्रकट करके अपने भक्तों का महा उपकार करना चाहते थे और संसार में अपने प्रिय भक्त अर्जुन का यश फैलाना चाहते थे। इसी से उनको यह नाटक रचना पड़ा।

['परिशुष्यति' पद में 'परि' उपसर्ग अधिकतः कथन करने के लिये प्रयुक्त किया गया है।] ॥२८ का उत्तरार्ध, २९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

गाण्डीवम्+स्रंसते हस्तात् त्वक्+च+एव परिदह्यते। न च शक्नोमि +अवस्थातुम्+भ्रमति+इव च मे मनः ॥

गाण्डीवम्=(नपुं०) गाण्डिः ग्रन्थिः अस्य अस्ति, गाण्डि+व, विकल्पिक पूर्वपद दीर्घ। 'गाण्डि' का अर्थ 'गाँठ' है। वह गाँठ धनुष में होने से अर्जुन का धनुष 'गाण्डीव' कहलाता था। इस धनुष की परम्परा ब्रह्मा से प्रारम्भ हुई थी। ब्रह्मा के बाद क्रमशः प्रजापति, इन्द्र और चन्द्र के पास यह धनुष आया। चन्द्र ने वरुण को दिया और वरुण से अग्नि देवता को प्राप्त हुआ और अग्नि देवता ने खाण्डव-वनदाह के समय प्रसन्न होकर अर्जुन को दे दिया। ऐसा महाभारत के विराटपर्व में लिखा है।

स्रंसते=√स्रंस् (भ्वा० आत्म० अक०=गिरना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =गिरता है।

हस्तात्=(पुं०) √हस्+तन्=हस्त+पंच० ए० व०=हाथ से।

त्वक्=(स्त्री०)√त्वच् (ढांकना, छिपाना)+क्विप्=त्वच्+प्र० ए० व०= त्वक्=चमड़ी। त्वचा।

च=और।

एव=भी।

परिदह्यते=परि√दह्+लट्० प्र० पु०, ए० व० (कर्म वाच्य)=बहुत जल रही है।

न=नहीं।

च=और।

शक्नोमि=√शक् (स्वा० पर० सक०=समर्थ होना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) समर्थ हूँ।

अवस्थातुम्=अव√स्था+तुमुन्=खड़ा होने के लिए।
भ्रमति=√भ्रम्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=घूम रहा है।
इव=(अव्यय)√इ+क्वन्=इव=तरह। भाँति।
मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी ए० व०=मम, मे=मेरा।
मनः=(नपुं०) मन्यते बुध्यते अनेन,√मन्+असन्=मनस्+प्र० ए० व०
=मनः=मन। चित्त।

अर्थ—(मेरे) हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है। त्वचा भी बहुत जल रही है। (मैं) खड़ा रहने के लिये भी समर्थ नहीं हूँ और मेरा मन भी घूम सा रहा है॥३०॥

व्याख्या—अर्जुन ने युद्ध में शङ्कर को पराजित किया था। निवात और कवच को मार भगाया था और जिसकी मार से बचने के लिए विराट नगर पर आक्रमणकारी कौरवों के बड़े-बड़े योद्धा भी सिर पर पाँव रखकर भाग निकले थे तथा जिस अर्जुन का हृदय वज्र से भी अधिक कठोर और दुर्धर था आज उसी जगद्विख्यात शूरवीर योद्धा अर्जुन को मोह और शोक ने घेर लिया है।

ठीक है, जो भ्रमर कठिन से कठिनतर काठ में भी बड़ी सुगमता से छिद्र बना देता है वह कमल की कोमल पंखड़ियों में फँसा हुआ अपने प्राणों से भी हाथ धो बैठता है। वह मोहवश हुआ उनको फाड़कर बाहर निकलने में असमर्थ हो जाता है। स्नेह, मोह और शोक के वशीभूत होने से कुछ ऐसी ही अवस्था उस समय अर्जुन की हो रही थी। देखो, कितने भोलेपन से कहता है—

"मेरे हाथ से धनुष गिर रहा है।" उसके हाथ किसी शारीरिक रोग से कमजोर तो नहीं हुए हैं।

"मेरी त्वचा भी जल रही है।" उसके आसपास जलती हुई प्रचण्ड अग्नि भी नहीं है जिससे उसकी चमड़ी जलने लगी है।

"मैं खड़ा होने के लिये भी समर्थ नहीं हूँ।" स्वजन-समूह को देखने से पहले तो वह भला-चंगा था। अब उसकी किसी ने मार-पिटाई भी नहीं की है और न ही अधिक तीव्र ज्वर ही चढ़ा हुआ है।

"और मेरा मन भी घूम सा रहा है।" इसका भी तो कोई शारीरिक कारण मालूम नहीं होता।

तो फिर क्या अर्जुन भगवान् से ये सब बातें झूठ ही कह रहा है? नहीं, कदापि ऐसा नहीं। वह तो सौ प्रतिशत सत्य कह रहा है क्योंकि ये सब बातें ठीक इसी रूप में उसे अनुभव हो रही हैं। तो उसके ऐसा अनुभव करने का कारण क्या है?

भगवान् संसार के जीवों का कल्याण करने के लिए गीता-गायन करना चाहते हैं। इसलिये उस नटवर भगवान् ने अर्जुन को मोहजाल में फँसा दिया है। इसी प्रकार अन्य महाज्ञानी और अनन्य भक्त भी कभी-कभी अर्जुन की भाँति प्रभु की इच्छा से मोहमाया में फँस जाते हैं। फिर उस सर्वान्तर्यामी भगवान् की कृपा ही सब प्रकार के द्वन्द्वों से उन भक्तों को विमुक्त करवा सकती है। इसलिए जिज्ञासु को ज्ञान और भक्ति दोनों की प्राप्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए अन्यथा कल्याण की संभावना कम होती है ॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ! । न च श्रेयः+अनुपश्यामि हत्वा स्व-जनम्+आहवे ॥

निमित्तानि=(नपुं०) नि√मिद्+क्त=निमित्त+द्विती० ब० व०=निमित्तों को। लक्षणों को। शकुनों को।

च=और।

पश्यामि=दृश्+लट्० उ० पु० ए० व०=(मैं) देखता हूँ।

विपरीतानि=(वि०) वि-परि√इ+क्त=विपरीत+(नपुं०) द्विती०ब०व० =विपरीतों को। उलटों को।

केशव !=हे केशव !

[१—केशौ वाति अनुकंप्यतया गच्छति, इति केशवः। अर्थात् 'क'=संसार को उत्पन्न करने वाला ब्रह्मा। ईश=संसार का संहार करने वाला रुद्र। इन दोनों को अपने अनुग्रह का पात्र जानकर जो प्राप्त हो उसका नाम केशव है (स्वामी चिद्घनानन्द जी गिरि)।

२—केशव=(पुं०) को ब्रह्मा, ईशो रुद्रः तौ वातः प्रलये उपाधिरूपं परित्यज्य तिष्ठति यत्र, [केश√वा (जाना, आघात करना)+उ] इति केशवः। परमात्मा।

३—केशव=केशं केशि (नामानमसुरम्) वाति=हन्ति। (केश√वा+क)=विष्णु।

४—केशव=केश+व (प्राशस्त्ये)=अधिक घने तथा सुन्दर केशों वाला।

५—केशव=क (ब्रह्मा)+अ (विष्णु)+व (वपु) है जिसका—वह है केशव।]

न=नहीं ।

च=और ।

श्रेयः=(वि०) अतिशयेन प्रशस्यः, प्रशस्य+ईयसुन्, श्र आदेशः=श्रेयस्+ द्वितीय० ए० व० (नपुं०)=बेहतरी को । कल्याण को ।

अनुपश्यामि=अनु√दृश्+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) देखता हूँ ।

हत्वा=√हन्+क्त्वा=मारकर ।

स्व-जनम्=बिरादरी को । कुटुम्ब के जन (समूह) को । (पुं०) द्वितीय०ए०व० ।

आहवे=(पुं०) आ√ह्वे+अप्=आहव+सप्त० ए० व०=युद्ध में ।

अर्थ—हे केशव ! (मैं) निमित्तों (शकुनों) को भी उलटे ही देखता हूँ और स्वजन-समूह (बिरादरी) को मारकर भी कल्याण (बेहतरी) को नहीं देखता हूँ ॥३१॥

व्याख्या—केशव कहने से अर्जुन का अभिप्राय यह है कि हे प्रभो ! आप बहुत सुन्दर लम्बे केशों वाले हो अर्थात् आप ब्रह्माण्ड में सबसे अधिक सुन्दर हो । आपने अपने रूप की माया से सबको मोहित कर रखा है और मैं मोहमाया में फँस गया हूँ । इसलिये आप मुझे इस कीचड़ से निकालिए । आप केशि दैत्य के मारने वाले भगवान् हैं । मेरे इस मोहरूपी केशि दैत्य को भी मारिए । आप ब्रह्मा, शंकर और विष्णु तीनों से परे परब्रह्म परमात्मा हो । इस मोहमाया से मुक्त करके मुझे अपने स्वरूप में लीन कर लीजिए । मैं इस समय विवश हूँ और आपकी शरण हूँ । इस समय मैं विपरीत निमित्तों (अप-शकुनों) को देख रहा हूँ । मेरे वाम अङ्ग नेत्रादि फड़क रहे हैं । गीध उड़ रहे हैं । गीदड़ बोल रहे हैं । भूकम्प सा होता हुआ भासमान हो रहा है । जिससे मुझे कौरवों के साथ ही अभिमन्यु, द्रौपदी के पाँच पुत्र, घटोत्कच और राजा द्रुपद, राजा विराट आदि सारे रिश्तेदारों, सगे सम्बन्धियों तथा सारे मित्रों का मरण साफ-साफ दिखाई दे रहा है । इस सब अनर्थ को सोचकर मेरी आँखों तले अन्धेरा छा रहा है । इसको देखकर मैं काँप रहा हूँ । इस समय खड़ा होने में भी मैं असमर्थ हो रहा हूँ । मेरी चमड़ी जलने लगी है । मेरा मुंह सूखा जा रहा है । अपने वंश का भावी नाश मुझे भली-भाँति दिखाई दे रहा है । हे प्रलयकारी केशव ! इस महानाश से मेरे कुल की रक्षा करो क्योंकि मैं अपने वंश वालों को मारकर न इस लोक में बेहतरी देखता हूँ न परलोक में कल्याण की आशा करता हूँ । क्योंकि "वंशघाती, महापापी" यह एक संसार प्रसिद्ध कहावत है । धर्मशास्त्र में भी लिखा है :—स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात्कुलनाशनम् ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

न काङ्क्षे विजयम्+कृष्ण ! न च राज्यम्+सुखानि च । किम् ?+नः+राज्येन गोविन्द ! किम्+भोगैः+जीवितेन वा ॥

न=(अव्यय) न । नहीं ।

काङ्क्षे=√काङ्क्ष् (भ्वा० उभ० सक०=इच्छा करना । चाहना)+लट्०, उ० पु०, ए० व०=(मैं) चाहता हूँ ।

विजयम्=(पुं०) वि √जि+अच्=विजय+द्वितीं० ए० व०=विजय को । जीत को ।

कृष्ण !=(सम्बो० ए० व०) हे मोहमाया द्वारा वशीभूत करने वाले भगवान् । अथवा हे मोहमाया को दूर करने वाले (कृष्ण) ! ।

राज्यम्=(नपुं०) राज्ञो भावः कर्म वा, राजन्+यक्=राज्य+द्वितीं० ए० व०=राज्य को । राज्याधिकार को ।

सुखानि=(नपुं०) √सुख्+अच्=सुख+द्वितीं० ब० व०=सुखों को ।

च=(अव्यय) और । भी ।

किम् ?=(सर्वं०) किम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्या ? [प्रयोजन या लाभ है ?] ।

नः=(सर्वं०) अस्मद्+द्वितीं०, चतु० और षष्ठी, ब० व०=नः (अस्मान्) =हमको, नः (अस्मभ्यम्)=हमारे लिये, नः (अस्माकम्)=हमारा ।

गोविन्द !=(पुं०) गां (वृषभादिकं—भूमिं वा) विन्दति गौओं या भूमि को लाभ करता है । गौओं का अध्यक्ष । गो√विद्+अण्, नुमागम= गोविन्द । वेदवित् । अन्तर्यामी ।

'गो' नाम इन्द्रिय का भी है । इन इन्द्रियों को अधिष्ठान करके जो नित्य ही प्राप्त होता है उसका नाम 'गोविन्द' है । हे अन्तर्यामी !

किम् ?=(सर्वं०) (नपुं०), प्र० ए० व०=क्या ? क्या प्रयोजन या लाभ है ? ।

भोगैः=(पुं०)√भुज्+घञ्=भोग+तृती० ब० व०=भोगों से ।

[सुस्वादु भोजनों के खाने-पीने, रेशमी तलई आदि बहुमूल्य वस्त्रों के पहनने, ओढ़ने, बिछाने, सुन्दर संगमरमरी भवनों में रहने, मोटर आदि में चढ़ने, तथा सुन्दर रमणियों के भोग-विलासों के आनन्द से ।] । भोग-विलासों के साधनों को भोगने से ।

जीवितेन=(वि०) (नपुं०) √जीव्+क्त=जीवित+तृती० ए० व०=जीता हुआ रहने से। जीने से। जीवित रहने से। जीने से।
वा=(अव्यय)√वा+क्विप्=अथवा।

अर्थ—हे कृष्ण! न मैं विजय को चाहता हूँ, न राज्याधिकार और सुखों को। हे गोविन्द (इन्द्रियों में स्थित अन्तर्यामी प्रभो)! हमें राज्य से क्या (प्रयोजन है)? भोगों को भोगने और जीवित रहने से भी क्या (काम है)? ॥३२॥

व्याख्या—हे आकर्षण करने वाले (कृष्ण)! अपने कुल वालों और अपने अन्य बाँधवों को मारकर मिलने वाली जो विजय है उसको मैं प्राप्त करना नहीं चाहता हूँ और उस कुल-मार या बन्धु-मार विजय के पश्चात् प्राप्त होने वाला जो राज्याधिकार है मैं उसको भी पाना नहीं चाहता हूँ। उस राज्याधिकार की प्राप्ति पर मिलने वाले जो विषय-विलासादि भोग हैं, उनको भोगने के लिये भी हमारी इच्छा नहीं है। तो फिर हम युद्ध करके स्वजन-समुदाय को मारने का प्रयत्न और पाप क्यों करें? ॥३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

येषाम्+अर्थे काङ्क्षितम्+नः+राज्यम्+भोगाः सुखानि च। ते+इमे +अवस्थिताः+युद्धे प्राणान्+त्यक्त्वा धनानि च॥

येषाम्=(सर्व०) यद्+(पुं०) षष्ठी ब० व०=जिनके।
अर्थे=√अर्थ्+अच्=अर्थ+(पुं०) सप्त० ए० व०=अर्थ। हेतु। वास्ते। निमित्त। लिये।
काङ्क्षितम्=(वि०)√काङ्क्ष्+क्त (कर्मणि)=काङ्क्षित+(नपुं०) प्र० ए० व०=काङ्क्षित है। (हमारे द्वारा) इच्छित है। चाहा हुआ है। चाहा जाता है। प्यारे हैं।
नः=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ब० व०=अस्मान्=हमको। हमें।
राज्यम्=(नपुं) राजन्+यक्=राज्य+प्र० ए० व०=राज्य। राज्याधिकार।
भोगाः=(पुं०)√भुज्+घञ्=भोग+प्र० ए० व०=भोग।
सुखानि=(नपुं०)√सुख् (चुरा० पर० सक०=सुख देना)+अच्=सुख +प्र० ब० व०=सुख।
च=(अव्यय) और।
ते=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ब० व०=वे (सब लोग)।

इमे=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ब० व०=ये।

अवस्थिताः=(वि०) अव √स्था+क्त=अवस्थित+(पुं०) प्र० ब० व०= खड़े हैं।

युद्धे=(नपुं०)√युध्+क्त=युद्ध+सप्त०, ए० व०=युद्ध में।

प्राणान्=(पुं०) प्र √अन्+अच्=प्राण अथवा प्र+अन्+घञ्=प्राण+ द्वितीο ब० व०=प्राणों को। जीवन को। प्राणों के बचने की आशा को।

त्यक्त्वा=√त्यज्+क्त्वा=त्यागकर। छोड़कर।

धनानि=(नपुं०)√धन्+अच्=धन+द्विती० ब० व०=धनों को।

[इदम् पुं० में—अयम्, इमौ, इमे। इमम्, इमौ, इमान्। अनेन, आभ्याम्, एभिः। इत्यादि]

अर्थ—जिन (प्रियजनों) के लिये हमें राज्याधिकार, भोग और सुख इच्छित हैं, वे सब ये (प्रियजन) प्राणों और धनों (की आशा) को त्यागकर (यहाँ) युद्ध (क्षेत्र) में खड़े हैं॥३३॥

व्याख्या—हे भगवन्! किसी अकेले पुरुष को तो इन राज्य, भोग और सुख आदि की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती है। इन सबका उपभोग तो बन्धु-बान्धवों से मिलकर ही किया जाता है तथा ये राज्यभाग और सुखादि पुत्र-पौत्र आदि के निमित्त ही उपार्जन किए जाते हैं और जिनके लिए ये सब जिस किसी भी ढंग से एकत्रित किए जाते हैं वे सब बन्धु-बान्धव तो ये इन दोनों सेनाओं में आमने-सामने लड़ने के लिए खड़े हैं। इन्होंने तो धन प्राप्ति की लालसा और जीवित रहने की आशा भी छोड़ दी है और मरने मारने के लिए उद्यत हैं। तो फिर हम अब राज्यभोग और सुख की आशा क्यों करें? और किनके लिए करें?

इसलिए हमें युद्ध करने की ही क्या आवश्यकता है॥३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥३४॥

आचार्याः पितरः पुत्राः+तथा+एव च पितामहाः। मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनः+तथा॥

आचार्याः=(पुं०) आ √चर्+ण्यत्=आचार्य+प्र०, ए० व०=गुरुजन। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि। आचार्य लोग।

पितरः=(पुं०) पाति=रक्षति अपत्यम्, √पा+तृच्=पितृ+प्र०, ब० व० [एकशेष द्वन्द्व समास]=पिता और उसके छोटे-बड़े भ्राता [पिता, ताये, चाचे इत्यादि]।

पुत्राः=(पुं०) पुतः=त्रायते, पुत्√त्रै+क। अथवा पुनाति पित्रादीन्, √पू+क्त्र, ह्रस्वता=पुत्र+प्र० ब० व० [एकशेष द्वन्द्व समास]=पुत्र, भतीजे और भगिनीजे।

[पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा॥]

तथा=(अव्यय) तद्+थाल्=वैसे।

एव=(अव्यय) ही।

च=(अव्यय) और।

पितामहाः=(पुं०) पितृ+डामहच्=पितामह+प्र० ब० व०=दादा और उसके छोटे-बड़े भाई [एकशेष द्वं०]।

मातुलाः=(पुं०) मातृ+डुलच्=मातुल+प्र०, ब० व०=मामे।

श्वशुराः=(पुं०) शु-आशु अश्नुते, शु√अश्+उरच्=श्वशुर+प्र० ब० व० =श्वशुर लोग।

पौत्राः=(पुं०) पुत्र+अण् (अपत्ये)=पौत्र+प्र० ब० व०=पोते।

श्यालाः=(पुं०)√श्यै (सूखना)+कालन्=श्याल+प्र० ब० व०=साले। श्याले।

सम्बन्धिनः=(पुं०) सम्√बन्ध्+घञ्=सम्बन्ध+इनि=सम्बन्धिन्+प्र० ब० व०=सम्बन्धी लोग। रिश्तेदार।

तथा=(अव्यय) तद्+थाल्=वैसे।

अर्थ—गुरुजन, पितृगण (पिता, ताये, चाचे), पुत्र, भतीजे, भानजे, वैसे ही दादे, मामे, श्वशुर, पोते, साले तथा (दूसरे और भी) सम्बन्धी लोग हैं॥३४॥

व्याख्या—उस समय भगवान् ने कुछ ऐसी माया फैला दी थी कि अर्जुन को दोनों ओर की सेनाओं में केवल वही लोग दिखाई दे रहे थे जिनको वह इस श्लोक में कह रहा है। इनके अतिरिक्त और कोई दिखाई ही न दे रहा था। उसके सब शत्रु अपनी आकृति परिवर्तन करके उसके अपने बन चुके थे। इसलिए वह आश्चर्यान्वित होकर कहता है कि हे भगवन्! यह तो दोनों सेनाओं में मुझे अनेक द्रोणाचार्य और कृपाचार्य दिखाई दे रहे हैं। बहुत से मेरे पिता पाण्डु दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अनेक धृतराष्ट्र दिखाई दे रहे हैं, अनेक

विदुर नजर आ रहे हैं। बहुत से अभिमन्यु दीख रहे हैं, कितने द्रौपदी के पुत्र खड़े हैं। वैसे ही अनेक भीष्म पितामह और विचित्रवीर्य खड़े हैं। इतने मामे दिखाई दे रहे हैं कि जिनका कोई ठिकाना ही नहीं है। बहुत से द्रुपद आदि श्वशुर बने हुए दिखाई दे रहे हैं। अनेक साले बने हुए हैं। अनेक पोतों के रूप में दिखाई दे रहे हैं तथा इनके अतिरिक्त जो और लोग भी दिखाई दे रहे हैं वे भी किसी न किसी सम्बन्धी का रूप धारण किए हुए हैं। इनके अतिरिक्त और कोई है ही नहीं जिसे हम शत्रु समझें। तो फिर अब हम इन सबको युद्ध में मारकर और किन पुत्र पौत्रादिक सम्बन्धियों के राज्यभोग और सुख की इच्छा से युद्ध करें॥

जिस प्रकार कोई कृषक बीज बोने से पहले क्षेत्र को अच्छी तरह से जोतता और पानी से सींचता है और भली-भाँति पोला और उर्वरा बना लेता है उसी प्रकार भगवान् रूप कृषक ने भी अर्जुन रूप क्षेत्र को गीता-ज्ञान रूप बीज बोने के लिये भली-भाँति ठीक कर लिया है। दोनों सेनाओं के सब लोग सगे सम्बन्धियों के रूप में उसे दिखाकर मानो इस क्षेत्र में रूढ़ि की गली-सड़ी (मोह-माया रूप) खाद डालकर अर्जुन रूप क्षेत्र को खूब उपजाऊ बना लिया है जिसमें ज्ञान के अङ्कुर उगकर बढ़ेंगे तथा बड़े पौधों का रूप धारण करके खूब फूलेंगे और फलेंगे और उनमें सुन्दर फूल और फल लगेंगे जिनके द्वारा भक्तजनों को हर्ष और तृप्ति प्राप्त होगी॥३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥३५॥

एतान्+न हन्तुम्+इच्छामि घ्नतः+अपि मधु-सूदन! अपि त्रैलोक्य-राज्यस्य हेतोः किम्+नु महीकृते?॥

एतान्=(सर्व०) एतद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=इन सबको।

न=(अव्यय) न। नहीं।

हन्तुम्=√हन् (अदा० पर० सक०=मार डालना)+तुमुन्=मारने के लिये।

इच्छामि=√इष् (तुदा० पर० सक०=चाहना)+लट्०, उ० पु०, ए० व० =(मैं) चाहता हूँ। (मैं) इच्छा करता हूँ।

घ्नतः=(वि०)√हन्+शतृ=घ्नत्+(पुं०) द्विती० ब० व०=मारते हुओं को।

अपि=(अव्यय) भी।

[१—घ्नत्, घ्नतौ, घ्नतः । २—घ्नतम्, घ्नतौ, घ्नतः] ।

मधु-सूदन !=(सम्बो०) (पुं०) ए० व० । मधु=पुष्परसं वा मधुनामानं दैत्यं, सूदयति=नाशयति, मधु√सूद्+णिच्+ल्यु=भ्रमर, कृष्ण । हे 'मधु' दैत्य को मारने वाले (कृष्ण) !

अपि=(अव्यय) भी ।

त्रैलोक्य-राज्यस्य=(नपुं०) त्रयाणां लोकानां राज्यस्य (षष्ठी तत्पु०) तीनों लोकों के राज्य के ।

[त्रैलोक्य=(नपुं०) त्रयाणां लोकानां समाहारः (द्विगु०)—त्रिलोकी । त्रिलोकी+ष्यञ् । राज्यस्य=(नपुं०) राज्ञो भावः कर्म वा, राजन्+यक्=राज्य+षष्ठी ए० व०]

हेतोः=(पुं०)√हि+तुन्=हेतु+पंच० ए० व०=हेतु से । कारण से ।

किं नु ?=(अव्यय) क्या फिर ?

मही-कृते=(पुं०) मह्याः कृते (षष्ठी तत्पु०)=(इस) पृथ्वी के लिये ।

[मही=(स्त्री०)√मह्+अच्+ङीष् ।

कृते=(अव्यय) के लिये । के निमित्त ॥]

अर्थ—हे मधुसूदन ! मैं इन (अपने को) मारते हुओं को भी तीनो लोकों के राज्य के (लोभ के) कारण भी मारने के लिये इच्छा नहीं करता हूँ । (तो) फिर क्या (इस) पृथ्वी के (राज्य के) लिये (मारूँगा ?) ॥३५॥।

व्याख्या—"मधुसूदन" सम्बोधन से अर्जुन का अभिप्राय यह है कि आप तो 'मधु' नाम के दैत्य आदि दुष्टों (अनार्यों) को मारने वाले हो और मुझ से मेरा अपना वंश (आर्यकुल) ही मरवाना चाहते हो । आप तो वैदिक सनातन मार्ग के प्रवर्तक हो, फिर इस पवित्र मार्ग का त्याग रूप यह कुकर्म मुझ से क्यों करवाना चाहते हो ? न केवल सम्बन्धियों के मारने की आज्ञा देते हो अपितु द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदि गुरुओं को भी हमारे हाथों से मरवाना चाहते हो । हा ! हा !! ब्रह्महत्या ! फिर गुरुहत्या !! ऐसा करने से हमारा उद्धार कैसे होगा ?

ऐसा दुष्कर्म धरती का राज्य प्राप्त करने के लिये तो मैं करना ही नहीं चाहता चाहे वे लोग मुझे जान से भी क्यों न मार डालें ! अथवा मार भी रहे हों तो भी मैं इनको नहीं मारूँगा । यदि इन लोगों को मारकर तीनों लोकों का राज्य भी मिल रहा हो तो भी मैं इनको नहीं मारूँगा । केवल पृथ्वी का राज्य मिलने की आशा से तो मारूँगा ही क्या ?

तीनों लोक—(१) यह भूगोल, जिस पर हम लोग निवास करते हैं। (२) वे लोक, जो भूगोल के निचले आकाश में धरती से अचिन्त्य दूरी तक फैले हुए हैं और जिनको हम पाताललोक कहते हैं। (३) वे लोक जो रात्रि के अन्धकार में हमारे ऊपर के आकाश में तारे बनकर चमकते हैं वे सब स्वर्गलोक कहलाते हैं। इस प्रकार ऊपर आकाश के लोक, नीचे पाताल के लोक और हमारी पृथ्वी मिलकर तीनों लोकों का समूह माना जाता है। कहने का भाव यह है कि मैं इस स्वजन-समुदाय को मारकर त्रैलोक्य अर्थात् पृथ्वी समेत ब्रह्माण्ड में विचर रही सारी पृथ्वियों का स्वामी भी यदि बन जाऊँ तब भी उसके बदले में स्वजन-समुदाय को मारने की इच्छा न करूँगा। केवल इस पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या है ? ॥३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्+नः का प्रीतिः स्यात्+जनार्दन ! पापम्+एव+आश्रयेत्+अस्मान्+हत्वा+एतान्+आततायिनः ॥

निहत्य=नि√हन्+ल्यप्=मारकर।

धार्तराष्ट्रान्=(पुं०) धृतराष्ट्र+अण् (अपत्ये)=धार्तराष्ट्र+द्विती० ब० व०=धृतराष्ट्र के पुत्रों को। (कौरवों को)।

नः=(सर्व०) अस्मद्+द्विती०, चतु०, षष्ठी, ब० व०=अस्मान् (नः), अस्मभ्यम् (नः), अस्माकम् (नः)=हमें। हमारे लिए। हमारी।

का=(सर्व०) कम्+(स्त्री०) प्र० ए० व०=क्या ?।

प्रीतिः=(स्त्री०)√प्री+क्तिन् (भावे)=प्रीति+प्र० ए० व०=प्रीति या प्रसन्नता।

स्यात्=√अस् (अदा० पर० अक०)+विधिलिङ्०, प्र० पु०, ए० व०=होगी। हो सकती है।

जनार्दन !=(पुं०) सम्बो० ए० व०=हे जनार्दन ! ।√जन् (उत्पन्न होना)+अच्=जन (जीवधारी)।√अर्द (चुरा० उभ० सक०=मारना)+ल्यु=अर्दन=पीड़ा देने वाला। मारने वाला।
[प्रलयकाले जनान् अर्दयति इति जनार्दनः]।

पापम्=(नपुं०) पाति रक्षति अस्मात् आत्मानम्। √पा+प=पाप+प्र० ए० व०=पाप, अपराध।

[बुरे कर्मों से उत्पन्न होने वाला वह अदृष्ट, जिससे मनुष्य बुरी गति को प्राप्त होता है।]।

एव=(अव्यय)√इ+वन्=ही।

आश्रयेत्=आ√श्रि (भ्वा० उभ० सक०=आश्रय देना)+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=आश्रय देगा।

अस्मान्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ब० व०=हमको।

हत्वा=√हन्+क्त्वा=मारकर।

एतान्=(सर्व०) एतद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=इनको।

आततायिनः=(वि०) आततेन विस्तीर्णेन शस्त्रदिना अयितुं शीलम् अस्य इत्यर्थे, आतत√अय् (भ्वा० आत्म० परस्मै० सक०=जाना)+णिनि =आततायिन्+द्विती० ब० व०=जालिमों को।

[आततायिन्=शस्त्र उठाकर मारने के स्वभाव वाला। मारने को उद्यत। हत्यारा। दारुण अपराध करने वाला। महापापी। शुक्रनीति में छः प्रकार के आततायी बतलाए गये हैं—

१—आग लगाने वाला। २—विष खिलाने वाला। ३—शस्त्र हाथ में लिये किसी का वध करने को उद्यत। ४—धन चुराने वाला। ५—खेत को छीनने वाला। ६—स्त्री चोर। यथा—

"[अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैतान् षड् विद्यादाततायिनः॥"]

अर्थ—हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमको क्या प्रीति (या प्रसन्नता) होगी? इन आततायियों (जालिमों) को मारकर (तो) हमको पाप ही लगेगा (आश्रय देगा)॥३६॥

व्याख्या—हे जनार्दन! आप तो केवल पापियों को ही पीड़ा देते हो। परन्तु ये पापी कौरव धर्मात्माओं को पीड़ा देने वाले हैं और आततायियों के सब लक्षण इन लोगों पर पूरी तरह घटित होते हैं। आततायी महापापी, जालिम और हत्यारे होते हैं। यह दुर्योधन तो इन आततायियों का मुखिया है जिसने भीम को विष देकर मारने का प्रयत्न किया था। फिर दुष्ट दुःशासन द्वारा पर-स्त्री द्रौपदी के साथ अभद्रोचित व्यवहार करवाया और उसे भरी सभा में नग्न करने का प्रयास किया। हम पाण्डवों का राजपाट, धन-धरती सब कुछ धोखे और छल से छीन लिये। इन कौरवों ने लाक्षागृह में हम लोगों को जला देने का प्रयत्न किया। अब हाथों में शस्त्र लिये हमें मारने के लिये उद्यत खड़े हैं। परन्तु हे जनार्दन! इन आततायियों को मारने से हमें

कोई प्रसन्नता न होगी। उलटा पाप ही लगेगा। यद्यपि मनुस्मृति में यह स्पष्ट रूप में लिखा है कि—

"गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥"
"नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥"

अर्थात् गुरु हो, बालक हो, बूढ़ा हो, ब्राह्मण हो, अथवा वेद पढ़ने वाला हो [कोई भी क्यों न हो] परन्तु जब आततायी होकर सामने आए तो उसको बिना विचार किए मार डालना चाहिए। आततायी के मारने पर मारने वाले को कोई दोष नहीं होता तो भी सब शास्त्रों का यह सांझा मत है—"अहिंसा परमो धर्मः" अर्थात् जीव-हत्या न करना ही परम धर्म है। और मैं इस अहिंसा धर्म को सब धर्मों से ऊपर मानता हूँ। इसलिए इन कौरव आततायियों को मारने से भी हमें पाप ही लगेगा। अतः मैं स्वयं इनको भी मारना नहीं चाहता।

हे जनार्दन ! आप प्रलयकाल में स्वयं सब जनों का हनन करते हो। रावण, कंस आदि अनेक आततायियों के आप मारने वाले हो। दुष्टों, पापियों, जालिमों तथा आततायियों को मारने से आपको किंचिन्मात्र भी पाप नहीं लगता।

हे भगवन् ! ये दुर्योधनादि यदि मारने के ही योग्य है तो जनार्दन होते हुए आप ही इन आततायियों को मारें। जिससे ये लोग मर भी जाएं और हम भी हिंसा करने के पाप से बच जाएं॥३६॥

**तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥३७॥**

तस्मात्+न+अर्हाः+वयम्+हन्तुम्+धार्तराष्ट्रान्+स्व-बान्धवान्। स्व-जनम्+हि कथम्+हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥

तस्मात्=(सर्व०) तद्+(पुं०) पंच० ए० व०=इससे। इस हेतु से। इसलिये।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अर्हाः=√अर्ह् (भ्वा० पर० सक० अक०=योग्य होना)+अच्=अर्ह+(पुं०) प्र० ब० व०=योग्य हैं।

वयम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ब० व०=हम। हम लोग।

हन्तुम्=√हन्+तुमुन=मारने के लिए।

धार्तराष्ट्रान्=(पुं०) धृतराष्ट्र+अण् (अपत्ये) धार्तराष्ट्र+द्विती० ब० व० =धृतराष्ट्र के पुत्रों को।

स्व-बान्धवान्=(पुं०) [स्व (सर्व०), स्वन्+उ=स्व=अपने। बान्धवान्=(पुं०) √बन्ध (बाँधना)+उ=बन्धु (प्रेम से बाँधने वाला)+द्विती० ब० व०=बन्धुओं को। रिश्तेदारों को] मोह या प्रेम की डोरी से बांधने वालों को। अपने बन्धुओं को।

स्व-जनम्=(पुं०) स्वस्य जनम् (षष्ठी तत्पु०) द्विती० ए० व०=अपने जन-समूह को। अपनी बिरादरी को। अपने भाईचारे को। अपने कुटुम्ब को। अपने परिवार को। अपने वंश को। अपने कुल को।

हि=(अव्यय) √हा अथवा हि+डि=क्योंकि।

कथम् ?=(अव्यय) कैसे ?। किस प्रकार ?।

हत्वा=√हन् (मारना)+क्त्वा=मारकर।

सुखिनः=(वि०) √सुख्+णिनि=सुखिन्+प्र० ब० व०=सुखी। शान्ति-युक्त।

स्याम=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+विधि०, उ० पु०, ब० व०=(हम) होंगे।

माधव !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। हे माधव !

[मधु=मन्यंते विशेषेण जनाः, √मन्+उ+ध अन्तादेश। भगवान् कृष्ण के वंश को मधुकुल या यदुकुल कहते थे। अतः मधु+अण्=माधव (मधुकुल में उत्पन्न हुए भगवान् कृष्णचन्द्र)। **अथवा**

'मा' लक्ष्मी तस्याः धवः (पति)=लक्ष्मीकान्त (विष्णु रूप कृष्ण)।

अथवा माया विद्याया धवः=विष्णु (कृष्ण)।

अथवा मधु दैत्य को मारने वाले भगवान् विष्णु का अवतार कृष्ण।]

अर्थ—इसलिये धृतराष्ट्र के पुत्रों—अपने बांधवों को मारने के लिये हम योग्य (उपयुक्त) नहीं हैं क्योंकि हे माधव ! अपनी बिरादरी (कुल) को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? ॥३७॥

व्याख्या—अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! आपने विष्णु रूप में 'मधु' दैत्य को मारा था। उस दुष्ट को मारने के लिये आप सर्वथा योग्य थे। परन्तु अब आप हमें अपने बन्धु-वर्ग धृतराष्ट्र के पुत्रों के मारने की प्रेरणा कर रहे हैं। दैत्यों को मारना तो उचित ही है न कि अपने आर्य-वंश-बांधवों को ?

आप शहद की भाँति मधुर, मोहक और प्रिय हो, तो भी हमें प्रेम-शिक्षा के स्थान पर युद्ध-शिक्षा दे रहे हो।

आप लक्ष्मी के पति विष्णु हो और माया या विद्या के पति परब्रह्म परमेश्वर हो। इसलिये हमें लक्ष्मी और विद्या बिना युद्ध किए ही दे दो। राजलक्ष्मी युद्ध करके लेने के लिए क्यों कह रहे हो ?

आप उस मधु या यदु के कुल में उत्पन्न हुए हो जिसके पिता का नाम 'ययाति' था। 'यदु' बड़ा भाई था और 'पुरु' छोटा भाई था। यदु से आपका वंश चला और पुरु से हम कौरवों और पाण्डवों के वंश का प्रारम्भ हुआ। फिर भला आप पुरु के वंश को लड़ाकर क्यों मरवाना चाहते हैं ?

मेरी समझ में तो यह बात आती है कि हे मधु या यदुकुल में उत्पन्न कृष्ण जी! इन उपरोक्त कारणों से हमारे लिये यह उचित या उपयुक्त नहीं है कि हम अपने ताया जी धृतराष्ट्र के पुत्र स्वबान्धव कौरवों का वध करें। हे प्रभो! आप ही बताइए कि हम अपनी बिरादरी को मारकर कैसे सुखी होंगे ? क्योंकि "स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात्कुलनाशनम् ।" अर्थात् वह सबसे बड़ा पापी होता है जो अपने कुल का नाश करता है ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

यद्यपि+एते न पश्यन्ति लोभ+उपहत-चेतसः । कुल-क्षय-कृतम्+दोषम् +मित्र-द्रोहे च पातकम् ॥

कथम्+न ज्ञेयम्+अस्माभिः पापात्+अस्मात्+निर्वर्तितुम्। कुल-क्षय-कृतम्+दोषम्+प्रपश्यद्भिः+जनार्दन ! ॥

यद्यपि=(अव्यय) यदि+अपि=अगरचे। यद्यपि [यद्+णिच्+इन्, णि लोप=यदि, अगर।√पा+इण्, आकार लोप-न० त०=अपि]।

एते=(सर्व०) एतद्+(पुं०) प्र० ब० व०=ये (लोग)।

न=(अव्यय) न। नहीं।

पश्यन्ति=√दृश्+लट्० प्र० पु०, ब० व०=देखते हैं।

लोभ+उपहत-चेतसः=(वि०) लोभेन उपहतानि चेतांसि येषाम् (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ब० व०=लोभ से उपहत (भरे हुए या युक्त) चित्त वाले। [लोभ-उपहतानि=लोभेन उपहतानि (तृती० तत्पु०)।
लोभ=(पुं०)√लुभ्+घञ्=प्राप्त हुए पदार्थ के त्याग को न सहारना लोभ कहलाता है।
उपहत=उप√हन्+क्त=आहत। घायल। भ्रष्ट किया हुआ। भरा हुआ। ग्रस्त।
चेतसः=√चित्+असुन्+क्विप्+प्र० ब० व०=चित्त वाले।]

कुल-क्षय-कृतम्=(वि०) कुलस्य क्षयेन कृतम् (षष्ठी, तृती० तत्पु०)=कुल के क्षय से किए हुए को। (पुं०) द्विती० ए० व०।
[कुल=(नपुं०)√कुल् (भ्वा० पर० सक०=बाँधना। मेल करना।) +क=घराना। वंश।
क्षय=√क्षि (भ्वा० पर० अक०=क्षय होना)+अच्=ह्रास। नाश।
कृतम्=(वि०)√कृ+क्त+द्विती० ए० व०=किए हुए को।]

दोषम्=(पुं०)√दुष्+घञ्=दोष+द्विती० ए० व०=दोष को। कलंक को। अपराध को।

मित्र-द्रोहे=(पुं०) मित्राणां द्रोहे (षष्ठी तत्पु०)=मित्रों के द्रोह में।
[मित्र=(नपुं०) मिद्यति=स्निह्यति,√मिद्+त्र। अथवा मिनोति=मानं करोति,√मि+क्त्र=स्नेह करने वाला, मान करने वाला।
द्रोहे=(पुं०)√द्रुह (दिवा० पर० सक०=उपद्रव करने का मनसूबा बाँधना)+घञ्=द्रोह+सप्त० ए० व०=द्रोहे=विश्वासघात करने में। विरोध करने में।]

च=(अव्यय) और।

पातकम्=(पुं०, नपुं०) पातयति=अधोगमयति, दुष्क्रियाकारणम्,√पत्+णिच्+ण्वुल्=पातक+द्विती० ए० व०=पाप को। गुनाह को। (३८)

कथम्=(अव्यय) क्यों? कैसे? किस कारण से? किसलिये?

न=(अव्यय) न। नहीं।

ज्ञेयम्=√ज्ञा+यत्=ज्ञेय ['यत्' परे होने पर आकारान्त धातु के 'आ' को 'ए' हो जाता है]+(नपुं०) प्र० ए० व०=ज्ञेय। जानने योग्य। जानना चाहिए। विचारना चाहिए।

अस्माभिः=(सर्व०) अस्मद्+तृती० ब० व०=हम (पाण्डव) लोगों द्वारा।

पापात्=(नपुं०) पाप+पंच०, ए० व०=पाप से।

अस्मात्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) पंच० ए० व०=इससे।

निवर्तितुम्=नि√वृत्+तुमुन्=लौटने के लिए। वापस होने के लिये। रुकने के लिए। बन्द होने के लिये। विरक्त होने के लिए। हटने के लिए।

कुल-क्षय-कृतम्=(वि०) कुल के क्षय से उत्पन्न होने वाले को। (द्विती० ए० व०)।

दोषम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=दोष को।

प्रपश्यद्भिः=(वि०) प्र√दृश्+शतृ=प्रपश्यत्+तृती० ब० व०=(हम) अच्छी तरह जानते हुओं द्वारा।

जनार्दन !=(पुं०) (सम्बो०) ए० व०=हे जनों को पीड़ा या दण्ड देने वाले कृष्ण ! ॥३६॥

अर्थ—यद्यपि लोभ से भ्रष्ट हुए चित्त वाले ये (धृतराष्ट्र के पुत्र) वंश-नाश-कृत-कलंक (दोष या खराबी) को, मित्रद्रोह करने में पाप को नहीं देखते हैं ॥३८॥

(परन्तु) हे जनार्दन ! कुल के नाश से उत्पन्न होने वाले दोषों को अच्छी तरह जानते हुए हम लोगों द्वारा इस पाप से हटने के लिये क्यों नहीं विचार किया जाना चाहिए ? ॥३६॥

व्याख्या—अर्जुन ने कहा—हे भगवन् ! प्राप्त हुए पदार्थ के मोह का नाम लोभ है। लोभी उसके त्याग को सह नहीं सकता। धृतराष्ट्र के पुत्रों ने धोखे से हमारा राज्यभाग प्राप्त कर लिया है। अब उस पर जप्फा मार रखा है। हमारा राज्यभाग वापस देने के लिये तैयार नहीं हैं। इस प्रकार लोभ से उपहत या भ्रष्ट-चित्त हुए युद्ध द्वारा कुल का नाश करने के लिये तुले हुए हैं। परन्तु वे महामूर्ख कुल के नाश हो जाने के उपरान्त होने वाले पाप और अनर्थ को थोड़ा सा भी नहीं समझते हैं क्योंकि वे पापी होने के कारण अन्त में होने वाले परिणाम को समझने में असमर्थ हो चुके हैं वे नहीं जानते कि—

"कथं ह्यवध्यैः संग्रामः कार्यः सह भविष्यति।
कथं हत्वा गुरून् वृद्धान् विजयो नो भविष्यति ॥"

अर्थात् 'न मारने योग्य पुरुषों के संग कैसे युद्ध हो सकेगा ? गुरुओं और वृद्ध पुरुषों के वध करने से हमारी जीत कैसे होगी ?'

"तेषां वधोऽतिपापीयान्किन्नु युद्धं हि शोभनम् ॥"

अर्थात् 'उनके वध से अत्यन्त पाप होता है। फिर युद्ध कल्याणकारी कैसे हो सकता है ?'

ये कौरव लोग तो उस महापाप का भी विचार नहीं करते जो अपने मित्रों से छलकपट और द्रोह करने से होता है तथा मित्रों के विरुद्ध उनके मारने का षड़यंत्र रचने से लगता है। हम तो सदा उनके हितचिन्तक बने रहे हैं, परन्तु वे लोग सदैव हमारे साथ द्रोह करते रहे हैं, इसी से वे महापापी बन चुके हैं ॥३८॥

हे जनार्दन ! हे दुष्टजनों को पीड़ा देने वाले कृष्ण जी ! यदि आप भी कौरवों को दुष्ट और महापापी समझते हैं तो आप स्वयं ही उनको मारिये। आपको कोई पाप नहीं होगा क्योंकि आप तो न्यायकारी प्रभु हैं। धर्मराज का रूप धारण करके दुष्ट पापियों को उनके कर्मानुसार दण्ड देते हो। प्रलय-

काल में सब जीवों का अन्त करके अकेले आप ही रह जाते हो। तब भी आपको कोई पाप नहीं लगता। आप मेरे परम सखा हैं और आपने कई बार प्रेमालाप में मुझसे कहा है कि—

"जब-जब धर्म की हानि और पाप की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ। साधु या भले पुरुषों का उद्धार करने के लिये और दुष्कर्म करने वालों का नाश करने के लिये तथा धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ॥"

आपके इस कथनानुसार ही आपका यह कृष्ण अवतार हुआ है। अतः आप इन पापी कौरवों को स्वयं ही मारिए॥

हम पाण्डव लोग कुल-क्षय करने से होने वाले दोष को अच्छी तरह से जानते हैं। इसलिए हमको इस महापाप से बचने के लिए अवश्य विचार करना चाहिए॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥४०॥

कुल-क्षये प्रणश्यन्ति कुल-धर्माः सनातनाः। धर्मे नष्टे कुलम्+कृत्स्नम्+अधर्मः+अभिभवति+उत॥

कुल-क्षये=(पुं०) कुलस्य क्षये (षष्ठी तत्पु०) कुल के नाश होने पर।

[क्षये=(पुं०)√क्षि+अच्=क्षय+सप्त० ए० व०=क्षय होने पर।]

प्रणश्यन्ति=प्र√नश् (दिवा० पर० अक०=नाश होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=नष्ट हो जाते हैं।

कुल-धर्माः=(पुं० नपुं०) कुलस्य धर्माः (षष्ठी तत्पु०)=कुल के धर्म।

[धर्माः=(पुं०, नपुं०) धरति लोकान्, ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा, √धृ+मन्=धर्म+प्र०, ब० व०=वे कर्म जिनके करने से करने वालों का इस लोक में अभ्युदय हो और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो।]

सनातनाः=(वि०) सदा+ट्युल्+तुट् निपा० दस्य नः=सनातन+(पुं०) प्र० ब० व०=स्थायी। अनादि। प्राचीन। परम्परा से प्राप्त।

धर्मे=(पुं० नपुं०) धर्म+सप्त० ए० व०=धर्म पर। धर्म में (धर्म के)।

नष्टे=(वि०)√नश्+क्त=नष्ट+सप्त० ए० व०=नाश होने पर।

कुलम्=(नपुं०)√कुल्+क=कुल+द्विती० ए० व०=कुल को। वंश को। घराने को।

कृत्स्नम्=(वि०)√कृत+क्स्न=कृत्स्न+(नपुं०) द्विती० ए० व०=सम्पूर्ण को।

अधर्मः=(पुं० नपुं०) न धर्मः (नञ् तत्पु०) प्र०, ए० व०=पाप। अधर्म।
अभिभवति=अभि √भू+लट्०, प्र० पु०, ए० व=अच्छी तरह दबा लेता है।
उत=(अव्यय) उ+क्त=अथवा। या। भी। और।

अर्थ—कुल (वंश) के नाश होने पर सनातन-कुल-धर्म नाश हो जाते हैं और (कुल) धर्म के नष्ट हो जाने पर सम्पूर्ण कुल को पाप अच्छी तरह से दबा लेता है [अर्थात् अपने वशीभूत कर लेता है।] ॥४०॥

व्याख्या—जब वंश का नाश हो जाता है तो वंश की मर्यादाओं और मान्यताओं को जानने वाले बूढ़े और युवकादि सब मर जाते हैं। पीछे बचे हुए बच्चों और विधवाओं को उन वंश-परम्परागत किए जाने वाले धर्म-कर्मों का कोई ज्ञान नहीं रहता जिससे फिर उन धर्मों का आचरण नहीं होता और वे लुप्तप्राय हो जाते हैं। उत्तम वंश के सनातन-धर्मों का शास्त्रों में अनेक प्रकार का वर्णन किया गया है। यथा—

"आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम्।
निष्ठा वृत्तिस्तपो दानं नवधा कुललक्षणम्॥"

अर्थात् "१—आचार, २—विनय, ३—विद्या, ४—प्रतिष्ठा, ५—तीर्थ-यात्रा, ६—निष्ठा (प्रभु पर पूर्ण श्रद्धा), ७—वृत्ति, ८—तप और ९—दान ये नौ उत्तम कुल के लक्षण (या धर्म) हैं।"

इनके अतिरिक्त सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ, स्वाध्याय, देव-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, हवन, अतिथि-पूजन, अग्नि-होत्र और शास्त्रोक्त विवाहादि षोडश संस्कार इत्यादि अनेक शुभ कर्म हैं जो उत्तम कुल के परम्परागत सनातन धर्म कहे जाते हैं।

उपरोक्त सम्पूर्ण सनातन धर्म कुल के नष्ट होने से नष्ट और लुप्त हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि हमारा वंश लड़कर नष्ट हो जायेगा। उसके नष्ट होने से हमारे सनातन कुल-धर्म भी नाश हो जायेंगे और सनातन कुल-धर्मों के नाश हो जाने से वंश के बाकी बचे हुए लोग पाप-कर्मों में लीन हो जाएँगे जिससे महा अनर्थ उपस्थित हो जायेगा। इसलिये हमें लड़कर अपने कुल का नाश नहीं करना चाहिए ॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥४१॥

अधर्म+अभिभवात्+कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुल-स्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्ण-संकरः ।।

अधर्म+अभिभवात्=(पुं०) अधर्मस्य अभिभवात् (षष्ठी तत्पु०)=अधर्म के दबा लेने से। अधर्म के बढ़ जाने से।

[अधर्म=न धर्म (नञ् तत्पु०)=पाप।

अभिभवात्=(पुं०) अभि√भू+अप्=अभिभव+पंच० ए० व०=बढ़ जाने से। दबा लेने से]।

कृष्ण !=(पुं०) सम्बो० ए० व०=हे आकर्षण करने वाले (कृष्ण) !

प्रदुष्यन्ति=प्र√दुष् (दिवा० पर० अक०=खराब होना। असती होना। बदचलन होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=दूषित हो जाती हैं। खराब हो जाती हैं। असती हो जाती हैं। बदचलन हो जाती हैं। बदमाश हो जाती हैं।

कुल-स्त्रियः=(स्त्री०) कुलस्य स्त्रियः (षष्ठी तत्पु०) प्र० ब० व०=कुल की स्त्रियाँ।

स्त्रीषु=(स्त्री०) स्त्यायतः शुक्रशोणिते अस्याम्, √स्त्यै (भ्वा० पर० अक० =एकत्रित होना)+ड्रट्—ङीष्=स्त्री+सप्त० ब० व०=स्त्रियों में। स्त्रियों के।

दुष्टासु=(वि०)√दुष्+क्त=दुष्ट+आ+(स्त्री०) सप्त० ब० व०=दुष्टों में। (दूषित होने पर)।

वार्ष्णेय !=(पुं०) सम्बो० ए० व०=हे वृष्णिवंशोत्पन्न (श्रीकृष्ण जी) !

[वृष्णि+ढक्=वार्ष्णेय (पुं०)=वृष्णिवंशी (श्रीकृष्ण जी)।]

जायते=√जन् (दिवा० आत्म० अक०)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=उत्पन्न होता है।

वर्ण-संकरः=(पुं०) वर्णतः संकरः। द्वयोः वर्णयोः संकरेण जायते यः सः (बहुव्री०)=वह व्यक्ति जो दो भिन्न-भिन्न जातियों के स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हो। दोगला। हरामी बच्चा।

[वर्ण=(पुं०) √वर्ण्+घञ्=वर्ण=ब्राह्मणादि चारों जातियां।

संकरः=(पुं०) सम्√कृ+अप्=संकर+प्र० ए० व०=संकरः= मिलावट वाला। मेल से उत्पन्न।]

विशेष—यदुकुल में 'वृष्णि' नाम के एक प्रतापी राजा हुए हैं जिससे भगवान् कृष्ण को वृष्णिवंशी या वार्ष्णेय भी कहते हैं।

√वृष् (भ्वा० पर० सक०)=बरसना, देना।

√वृष् (चुरा० आत्म० अक० सक०=उत्पन्न करने की शक्ति होना)। शक्ति को रोकना।

√वृष्+नि=वृष्णि=बरसने वाला। देने वाला। उत्पन्न करने की शक्ति वाला। शक्ति को रोकने वाला। क्रोधी।

यहाँ वार्ष्णेय सम्बोधन साभिप्राय है।

अर्थ—हे वार्ष्णेय (वीर पुरुष वृष्णि के वंश में उत्पन्न हुए श्रीकृष्ण जी)! अधर्म के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ व्यभिचारिणी (बदमाश) हो जाती हैं और दूषित स्त्रियों के (गर्भों में) वर्णसंकर (टोला) उत्पन्न हो जाता है ॥४१॥

व्याख्या—हे कृष्ण ! आप वार्ष्णेय हैं अर्थात् उत्पन्न करने की शक्ति वाले हैं। आपने कई बार मुझसे कहा है कि "महद्ब्रह्म रूप प्रकृति मेरी योनि (गर्भाधान का स्थान) है और मैं उस योनि में गर्भ (भ्रूण) को स्थापित करता हूँ। फिर उस जड़चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। सब योनियों में जितनी भी मूर्तियाँ (शरीर) उत्पन्न होती हैं उन सबकी महद्ब्रह्म रूप योनि अर्थात् गर्भ को धारण करने वाली माता है और मैं बीज डालने वाला पिता हूँ ॥"

इसलिये दूषित स्त्रियों में वर्णसंकर बच्चे भी आप ही उत्पन्न करते हो जिससे उनकी बदनामी होती है। विधवा के बच्चा उत्पन्न होना उसके लिये कलंक का कारण होता है। यदि वैदिक रीति से दो वर्णों के युवक युवती का विवाह परस्पर कर दिया जाए तो उनकी सन्तान वर्णसंकर न कहलाएगी क्योंकि उसकी जाति वही मानी जायेगी जो उसके पिता की जाति है। माता की जन्म-जाति तो विवाह संस्करण के समय ही बदलकर वर की जाति बन जाती है। वर्णसंकर बच्चे वे बच्चे होते हैं जिनका पिता कोई भी बनने के लिये तैयार नहीं होता। जैसे वेश्या के बच्चे। ऐसे बच्चे बहुत शैतान और धर्ममर्यादा-विरुद्ध कार्य करने वाले होते हैं।

वर्णसंकर शब्द योगरूढ़ि शब्द है। इसका अर्थ दो रंगों का मेल या ब्राह्मण क्षत्रिय आदि दो वर्णों से उत्पन्न बच्चा यहाँ अभिप्राय नहीं है। अर्थात् यह शब्द यौगिक न होकर योगरूढ़ि ही है जिसका अर्थ 'हरामी' बच्चा है जिसकी माता उसको केवल व्यभिचार या विषयवासना के सुख से ही उत्पन्न करती है। वर्णसंकर बच्चा अनचाहा बच्चा होता है। माता उससे छूटने का हर सम्भव प्रयत्न किया करती है। गोरा फौजों के सब सैनिक टॉमी या वर्णसंकर ही हुआ करते थे जिनके माता-पिता का कोई पता न होता था। वे सब बादशाह की सन्तान कहलाते थे। वर्णसंकर कहने से अर्जुन का

आशय भी ऐसे ही दोमी बच्चों की उत्पत्ति से है। दो वर्णों की सन्तान वर्ण-संकर कभी नहीं कहलाती। परशुराम और व्यास ऋषि को कई वर्णसंकर नहीं कह सकता।

जब किसी कुल में अधर्म बढ़ जाता है तो उस कुल की स्त्रियाँ कुलमर्यादा का उल्लंघन करने लगती हैं और व्यभिचारिणी बनकर अन्य पुरुषों से संग करने लगती हैं जिससे वंश में रंग-बिरंगे अर्थात् वर्णसंकर बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं जिनका परस्पर तनिक सा भी प्यार नहीं होता। सदा एक दूसरे का गला काटने के लिये उद्यत रहते हैं ।।४१।।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।४२।।

संकरः+नरकाय+एव कुल-घ्नानाम् कुलस्य च। पतन्ति पितरः+हि+एषाम्+लुप्त-पिण्ड+उदक-क्रियाः ।।

संकरः=(पुं०) सम्√कॄ (तुदा० पर० सक०=बिखेरना)+अप्=संकर+प्र० ए० व०=वर्णसंकर। हरामी बच्चा। व्यभिचार द्वारा उत्पन्न हुआ पुरुष।

नरकाय=(पुं०, नपुं०) नृणाति=क्लेशं प्रापयति,√नृ+वुन्=नरक+चतु० ए० व०=नरक के लिए। नरक में ले जाने के लिये।
[नरक=वह स्थान जहाँ मरने के बाद जीवों को जीवित अवस्था में किए हुए पापों का दण्ड दिया जाता है। रौरव आदि २१ नरक हैं। इनकी यातनाओं में तारतम्य है।]

एव=(अव्यय) ही। (होता है)।

कुल-घ्नानाम्=(वि०) [√कुल्+क=कुल (नपुं०)] कुलं हन्ति, कुल+हनच्=कुलघ्न+(पुं०) षष्ठी ब० व०=कुलघातियों के। वंश नाश करने वालों के।

कुलस्य=(नपुं०) कुल+षष्ठी ए० व०=कुल के। वंश के।

च=(अव्यय) और।

पतन्ति=√पत् (भ्वा० पर० अक०=गिरना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=गिर जाते हैं। (नरक में) गिर पड़ते हैं।।

पितरः=(पुं०) पाति=रक्षति अपत्यम्,√पा+तृच्=पितृ+प्र० ब० व०=पितर। पितर लोग। मरे हुए बाप, दादा, परदादा और उनके भाई-बन्धु इत्यादि।
[इस लोक से गये हुए पूर्वज, कुल के 'पितर' होते हैं।]

हि=(अव्यय) ही । भी । क्योंकि ।

एषाम्=(सर्व०) एतद्+(पुं०) षष्ठी ब० व०=इनके ।

लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः=(वि०) पिण्डोदकक्रियाः लुप्ताः येषां ते (पितरः) (बहुव्री०) (पुं०) प्र० ब० व०=लोप हुई पिण्ड और जल की क्रिया वाले । [√लुप्+क्त=लुप्त ।√पिण्ड् (भ्वा० आत्म०, चुरा० पर० सक०)+अच्=पिण्ड=चावलों या जौ के आटे का गोला जो पितरों के निमित्त दिया जाता है ।
उदक=(नपुं०)√ उन्द्+क्वुन्, न लोप=पानी । जल ।
क्रिया=(स्त्री०)√कृ+श, रिङ् आदेश, इयङ्=कर्म ।]

अर्थ—वर्णसंकर (हरामी बच्चा) कुलघातियों और कुल के नरक के (ले जाने के) लिये ही होता है क्योंकि पिण्ड और जलदान की लुप्त हुई क्रियाओं वाले इनके पितर लोग (किसी न किसी नरक में) गिर जाते हैं ।।४२।।

व्याख्या—वर्णसंकर सन्तान केवल कुलघातियों को ही नरक में नहीं ले जाती, वह तो संपूर्ण वंश को ही नरकगामी कर देती है क्योंकि पहले तो वर्णसंकर को पितरों को पिण्डदान तथा जलदान करने पर श्रद्धा ही नहीं होती । भला यदि वे किसी के कहने या समझाने पर ऐसा करते भी हैं तो उनका दिया हुआ पिण्डदान और जलदान उस वंश के पितरों को प्राप्त नहीं होता क्योंकि उनका दिया हुआ पिण्डोदक तो केवल बीज डालने वाले पिता को ही प्राप्त होता है क्षेत्रपति पुरुष को नहीं । यद्यपि संसार में यह प्रथा प्रसिद्ध है कि क्षेत्र-पति और बीजप्रदाता क्षेत्र में उत्पन्न हुए धान्य का परस्पर आधा-आधा भाग बाँट लेते हैं । अतः इस नियम के अनुसार स्त्री के पति और यार दोनों को उसके पुत्रों द्वारा दिया हुआ पिण्डोदक आधा-आधा मिलना चाहिए । परन्तु ऐसा होता नहीं है क्योंकि ये वर्णसंकर बच्चे संसार में पति के पुत्र कहलाते हैं किन्तु इनकी उत्पत्ति यार के वीर्य से होती है । इसलिये वह पुत्र अपने पिता का अंश नहीं होता है । इसलिये वह जिसका अंश है उसको ही उसका दिया हुआ पिण्डोदक प्राप्त होगा । उस पुत्र का दिया हुआ पिण्डोदक अपने वंश के पितरों को न प्राप्त होगा । केवल माता के यार और उसके पितरों को ही प्राप्त होगा । इसलिये उस वंश के पिता पिण्डोदक न प्राप्त होने से नरक में गिर जाते हैं ।

पारस्कर गृह्यसूत्र ३।१० तथा महाभारत आदिपर्व अध्याय १३ में एवं और भी कई शास्त्रों में पिण्डोदक कर्मों का विधान पाया जाता है । उन शास्त्रों की विधि के अनुसार ही ये दोनों कार्य किए जाने चाहिएँ ।

भगवान् मनु ने वर्णसंकरों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥"

अर्थात् "जहाँ ये वर्णदूषक (कुलकलंक) वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं वहाँ राष्ट्र वालों के साथ शीघ्र ही राष्ट्र का नाश हो जाता है ॥"

श्राद्ध तर्पण में श्राद्धकर्ता अपनी संकल्प-शक्ति, मन्त्र-शक्ति तथा द्रव्य-दान-शक्ति द्वारा पितरों की सहायता करते हैं, जिससे प्रेतलोक के निवासियों का प्रेतत्व नाश हो जाता है और पितृलोकवासी पितरों की तृप्ति और उन्नति होती है । ये दोनों लोक आकाश में भूलोक के अन्तर्गत ही अति सूक्ष्म लोक हैं ॥

माता-पिता के आत्मज होने से माता-पिता के साथ सन्तान का आत्मिक सम्बन्ध होता है इसलिये सन्तान के द्वारा उनके निमित्त दिया हुआ दान पितरों के कल्याण के लिए होता है । इन सब बातों को दृष्टिगोचर रखकर मैं युद्ध करके वंश में वर्णसंकर समूह को उत्पन्न कराना नहीं चाहता हूँ जिससे हम लोग और हमारे पितर नरक में गिरने से बचे रहेंगे ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

दोषैः+एतैः कुल-घ्नानाम्+वर्ण-संकर-कारकैः । उत्साद्यन्ते जाति-धर्माः कुल-धर्माः+च शाश्वताः ॥

दोषैः=(पुं०)√दुष्+घञ्=दोष+तृती० ब० व०=दोषों के द्वारा । दोषों से ।

एतैः=(सर्व०) एतद्+(पुं०) तृती० ब० व०=इनके द्वारा । इनसे ।

कुल-घ्नानाम्=(वि०) कुलं हन्ति, कुल+हिनच् कुलघ्न+षष्ठी ब० व० =कुलघातियों के । वंश नाशकों के ।

वर्ण-संकर-कारकैः=(वि०) वर्णसंकरस्य कारकैः, (षष्ठी तत्पु०) (पुं०) तृती० ब० व०=वर्णसंकर करने या बनाने वालों द्वारा ।

[कारक=(वि०)√कृ+ण्वुल्=करने वाला । बनाने वाला ।]

उत्साद्यन्ते=उत√सद्+निच्+कर्मणि, लट्० प्र० पु०, ब० व०=उखाड़ दिए जाते हैं । नष्ट हो जाते हैं ।

जाति-धर्माः=(पुं०) जात्या धर्माः (षष्ठी तत्पु०) प्र० ब० व०=जाति के धर्म ।

कुल-धर्माः=(पुं०) कुलस्य धर्माः (षष्ठी तत्पु०) प्र० ब० व०=कुल के धर्म ।

च=(अव्यय) और ।

शाश्वताः=(वि०)√शश्+वत्=शश्वत्+अण्=शाश्वत+प्र० ब० व० =सदा से चले आ रहे। सदा स्थायी। सनातन।

अर्थ—कुलघातियों के उन वर्णसंकर बनाने वाले दोषों से सदा से चले आ रहे जाति-धर्म और कुल-धर्म (जड़ से) उखाड़ दिए जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

व्याख्या—जो लोग लड़कर अपने वंश के लोगों को मार देते हैं वे कुलघ्न या वंशघाती कहलाते हैं। मारे गये पुरुषों के पीछे जो विधवाएं जीवित रह जाती हैं कोई डर या भय न होने से उनमें से बहुत सी व्यभिचारिणी बन जाती हैं, जिससे वर्णसंकर सन्तानों की उत्पत्ति हो जाती है। वे वर्णसंकर बच्चे धर्म-कर्म से रहित होते हैं, वे जाति-धर्म का पालन नहीं करते और कुल-धर्म से भी रहित हो जाते हैं। "यह कर्म हमारे करने योग्य है, और यह कार्य हमारे करने योग्य नहीं है" ये लोग इस प्रकार के विचार का परित्याग कर देते हैं तथा काम-क्रोध-मोह-लोभ-अहंकार आदि के वशीभूत हुए शास्त्र-मार्ग, जाति-धर्म और कुल-मर्यादा को छोड़कर मनघड़न्त मूर्खतापूर्ण धर्म को अपना लेते हैं और अहंकार और अभिमान से परिपूर्ण होकर उस पर आचरण करने लगते हैं। "देखा देखी नानका डूब मरा संसार" वाली लोकोक्ति के अनुसार अन्य मूर्ख लोग भी इनका अनुसरण करके अधोगति को प्राप्त होते हैं। इनके ये धर्म-कार्य घोर और हिंसापूर्ण होते हैं। इस प्रकार इन कुलघ्नों के वर्ण-संकर कारक दोषों से श्रुति-स्मृति मूलक-धर्म तथा परम्परागत कुल-धर्म लुप्त या नाश हो जाते हैं ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन !
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

उत्सन्न-कुल-धर्माणाम्+मनुष्याणाम्+जनार्दन !। नरके+अनियतम्+वासः+भवति+इति+अनुशुश्रुम ॥

उत्सन्न-कुल-धर्माणाम्=(पुं० नपुं०) उत्सन्नानां कुलस्य धर्माणाम् (षष्ठी तत्पु०)=कुल-धर्म नष्ट हुओं का।
[उद्√सद्+क्त=उत्सन्न। कुल-धर्माणाम्=(वि०) बहुव्री०। षष्ठी ब० व०]।

मनुष्याणाम्=(पुं०) मनोः अपत्यम्, मनु+यत, षुक् आगम=मनुष्य+षष्ठी ब० व०=मनुष्यों का।

जनार्दन !=(पुं०) सम्बो० ए० व०=हे जनार्दन !

[हे मनुष्यों को दण्ड देने वाले श्रीकृष्ण जी !]

नरके=(पुं० नपुं०) नृणाति=क्लेशं प्रापयति,√नृ+वुन्=नरक+सप्त० ए० व०=नरक में।

नियतम्=(वि०) नि√यम्+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=नियत (किसी सीमाबद्ध) काल तक। (अव्यय) निश्चय ही। अवश्य ही॥

[नोट—कई पुस्तकों में "नरके नियतम्" के स्थान पर "नरकेऽनियतम्" पाठ है। इससे अनियतम्=(वि०) न नियतम् (नञ् तत्पु०)=अवधि से रहित काल तक। अनन्त काल तक।]

वासः=(पुं०)√वस्+घञ् (भावे)=वास+प्र० ए० व०=निवास।

भवति=√भू+लट्० प्र० पु०, ए० व०=होता है।

इति=(अव्यय)√इ+क्तिन्=ऐसा। इस प्रकार।

अनुशुश्रुम=अनु√श्रु (भ्वा० पर० सक०=सुनना)+लिट्० उ० पु० ब० व०=(हमने) सुना है।

अर्थ—हे (दुष्ट) मनुष्यों को दण्ड देने वाले कृष्ण जी ! कुल-धर्म नष्ट हुए मनुष्यों का निश्चयपूर्वक ही (अथवा अनन्त काल पर्यन्त) नरक में वास होता है ऐसा (हमने शस्त्र-ज्ञाता आचार्यों से) सुना है ॥४४॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आप तो जनार्दन हैं अर्थात् जीवों को उनके पापों के अनुरूप दण्ड देने वाले हो। पाप करने वालों को निश्चय ही नरक प्राप्त होता है। हमने विद्वानों से यह बात भली-भाँति बार-बार सुनी हुई है कि जिन मनुष्यों के जाति-धर्म और कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं उनका तथा उनके पितरों का अनन्त काल तक निश्चयपूर्वक नरक में निवास होता है और यह सब कुछ जनों को दण्ड देने वाले आप जनार्दन की आज्ञा से हीं होता है। तो फिर अब इस विषय में हमारे कहने सुनने की तो बात ही क्या है ? जिस कार्य के करने से यह नरक वाली विपत्ति आती हो उसे हम क्यों करें ? न रहे बांस और न बजे बाँसुरी ॥४४।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो ! बत ! महत्+पापम्+कर्तुम्+व्यवसिताः+वयम्। यत्+राज्य-सुख-लोभेन हन्तुम्+स्व-जनम्+उद्यताः॥

अहो !=(अव्यय)√हा+डो (नञ् तत्पु०) यह अव्यय निम्नलिखित भावों का द्योतक होता है—

आश्चर्य । शोक । खेद । प्रशंसा । स्पर्द्धा । ईर्ष्या । सन्तोष । थकावट । तिरस्कार । सम्बोधन । धिक्कार । विस्मय ।

यहाँ—बड़ा आश्चर्य है !

बत (या वत) !=(अव्यय)√बन् या√वन्+क्त=बत या वत । यह अव्यय शोक, खेद, दया, सम्बोधन, हर्ष, सन्तोष, आश्चर्य और भर्त्सना के अर्थ में व्यवहृत होता है । यहाँ इसका अर्थ—अति खेद है !! ।

[कोष में इस शब्द का रूप 'वत' लिखा है, परन्तु गीता की प्रायः सब प्रतियों में 'बत' लिखा है । अर्थ दोनों का एक ही है ।]

महत्=(वि०) √मह्+अति=महत्+(नपुं०) द्वि० ए० व०=अति बड़े को । बहुत बड़े को ।

पापम्=(नपुं०) पाति=रक्षति अस्मात् आत्मानम्, √पा+प=पाप+द्विती० ए० व०=पाप को ।

[पाप=बुरे कामों से उत्पन्न होने वाला वह अदृष्ट जिससे मनुष्य बुरी गति को प्राप्त होता है ।]

कर्तुम्=√कृ+तुमुन्=करने के लिये ।

व्यवसिताः=(वि०) वि-अव√सो+क्त (कर्तरि)=व्यवसित+(पुं०) प्र० ब० व०=तैयार हुए हैं । निर्णय करने वाले हुए हैं । निश्चय करने वाले हुए हैं । मोर्चाबन्द खड़े हैं ।

वयम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ब० व०=हम लोग ।

यत्=(सर्व०) यत्+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो ।

राज्य-सुख-लोभेन=(नपुं०) राज्यस्य सुखस्य लोभेन (षष्ठी तत्पु०) तृती० ए० व०=राज्य के सुख के लोभ से ।

हन्तुम्=√हन्+तुमुन्=मारने के लिये ।

स्व-जनम्=(पुं०) स्वस्य जनम् (षष्ठी तत्पु०), द्विती० ए० व०=अपने वंश को । अपनी बिरादरी को ।

उद्यताः=(वि०) उद्√यम्+क्त=उद्यत+(पुं०) प्र० ब० व०=उद्यत हुए हैं । उद्यम वाले हुए हैं । उठ खड़े हुए हैं ॥

अर्थ—बड़ा आश्चर्य है ! अतिखेद है !! हम लोग बहुत बड़े पाप को करने के लिए तैयार हुए हैं जो राज्य के सुख के लोभ से अपने वंश वालों को मारने के लिये उठ खड़े हुए हैं ॥४५॥

व्याख्या—अर्जुन ने युद्ध के न करने के विषय में कई युक्तियाँ दी हैं । अन्त में आश्चर्य और खेद प्रकट करते हुए कहा—हम बुद्धिमान् हैं । धर्मात्मा

हैं। शास्त्रों के आशय को भली-भाँति जानते हैं। फिर भी हमारी मति मारी गई है जो हम स्वजनसमुदाय को मारने के लिए तैयार हो गए हैं। यह सब कुछ हमारे द्वारा केवल राज्य के सुख के लोभ से किया जा रहा है जो अस्थायी और क्षणभङ्गुर होता है और जिससे केवल विषयवासनाओं की तृप्ति और पूर्ति ही हो सकती है। ये विषयवासनाएँ मोक्ष-मार्ग से भ्रष्ट कर देती हैं जिससे जीव जन्म-मरण के चक्र में फँस जाता है और फिर उसका कभी कल्याण नहीं होता ॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि माम्+अप्रतीकारम्+अशस्त्रम्+शस्त्र-पाणयः। धार्तराष्ट्राः+रणे हन्युः+तत्+मे क्षेमतरम्+भवेत् ॥

यदि=(अव्यय) यद्+णिच्+इन्=अगर। यदि।

माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझको।

अप्रतीकारम्=(वि०) नास्ति प्रतिकारः (प्रतीकारः वा) यस्य तम् (नञ् बहुव्री०), प्रति√कृ+घञ् पक्षे उपसर्गस्य दीर्घः=प्रतिकार या प्रतीकार +द्वि० ए० व०।
न प्रतीकार करने वाले को। बचने का उपाय न करने वाले को। न सामना करने वाले को। न बदला लेने का उपाय करने वाले को।

अशस्त्रम्=(वि०) शस्त्ररहितम्। (नास्ति शस्त्रं पाण्योः यस्य तम्—नञ् बहुव्री०)।
शस्त्र (नपुं०) [√शस्+ष्ट्रन्]+द्वि० ए० व०=शस्त्ररहित को।

शस्त्र-पाणयः=(वि०) सन्ति शस्त्राणि पाण्योः येषां ते (बहुव्री०)=शस्त्र हाथों में लिये हुए। शस्त्रधारी।

धार्तराष्ट्राः=(पुं०) धृतराष्ट्रस्यापत्यम्, धृतराष्ट्र+अण्=धार्तराष्ट्र+प्र० ब० व०=धृतराष्ट्र के पुत्र।

रणे=(पुं० नपुं०) रणन्ति शब्दायन्ते अत्र,√रण्+अप्=रण+सप्त० ए० व०=रण में। युद्ध में॥

हन्युः=√हन् (अदा० पर० सक०=वध करना)+विधि० प्र० पु०, ब० व० =मार डालें।

तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह (मेरा मरना भी)।

मे=(सर्व०) अस्मद्+चतु०, षष्ठी, ए०व०=मह्यम् (मे), मम (मे)। मेरा। मेरे लिए।

क्षेमतरम्=(नपुं०) √क्षि+मन्=क्षेम्+तर=क्षेमतर+प्र० ए० व०= अधिक कल्याणकर। अतिकल्याणकारी।

भवेत्=√भू (भ्वा० पर० अक०=होना)+विधि०, प्र० पु०, ए० व०= होवे। होगा।

अर्थ—यदि मुझे न प्रतीकार करने वाले तथा शस्त्ररहित को, शस्त्र हाथों में लिए हुए धृतराष्ट्र के पुत्र रणक्षेत्र में मार डालें (तो) वह (मेरा मरना भी) मेरे लिए क्षेमतर (अधिक कल्याणकारी) होगा। ४६॥

व्याख्या—इस श्लोक द्वारा अर्जुन ने अपना निश्चय व्यक्त कर दिया है जिसमें कहा है कि हे भगवन्! अपने प्राणों को शत्रु से बचाने के लिए जो प्रतिक्रिया की जाती है उसका नाम प्रतीकार है। अर्थात् अपने प्राणों को बचाने के लिये मारने वाले शत्रु को जो मारा जाता है उसे प्रतीकार कहते हैं।

यद्यपि मैंने पहले यह निश्चय किया था कि रणभूमि में शत्रु बनकर सामने उपस्थित हुए स्वजन-समुदाय का हनन करूँगा। इससे आपके साथ मैं युद्धभूमि में आया था परन्तु अब इस स्वजन-समुदाय को देखकर मेरी आँखें खुल गई हैं और मेरे मन में ज्ञान-प्रभाकर उदय हो गया है जिससे मुझे यह भान होने लगा है कि इस स्वजन-समुदाय को मारना तो दूर रहा इसको मारने का मन में विचार करना भी पाप है। इस पूर्व मन, वाणी और कर्म द्वारा किए हुए पाप को दूर करने के लिये मैंने निश्चय किया है कि इन कौरवों से अपने बचाव का मैं कोई भी उपाय न करूँगा। न ही शस्त्र लेकर इनको मारूँगा। यदि ये लोग मुझ शस्त्ररहित और मारने का बदला न लेने वाले को मार भी डालें तो उनका यह मारना भी मेरे लिए अत्यन्त कल्याणकारी होगा क्योंकि उनको मारने के लिए मैंने जो विचार और संकल्प किया था उससे मैं पापयुक्त हुआ हूँ। यह मेरा मानसिक पाप स्वजन-समुदाय द्वारा मारे जाने पर धुल जायेगा।

[नोट—गीता की किसी-किसी प्रति में "क्षेमतरम्" के स्थान पर "प्रियतरम्" पाठ है जिसका अर्थ "अत्यन्त हितकर" है।] ॥४६॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजयः+उवाच—

एवम्+उक्त्वा+अर्जुनः संख्ये रथ+उपस्थे उपाविशत्। विसृज्य सशरम् +चापम्+शोक-संविग्न-मानसः ॥

एवम्=(अव्यय)√इ+वमु=इस प्रकार। ऐसा।

उक्त्वा=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+क्त्वा=कहकर ।

अर्जुनः=(पुं०)√अर्ज्+उनन्—अर्जुनः सः अस्ति अस्येत्यर्थे अच्=अर्जुन+ प्र० ए० व०=अर्जुनः=सफेद। स्वच्छ। चमकीला। दिन के प्रकाश की तरह का। अर्जुन।

संख्ये=(नपुं०) सम्√ख्या+क=संख्य+सप्त० ए० व०=संख्ये=युद्ध में। रणभूमि में ।

रथ+उपस्थे=(पुं०) रथस्य उपस्थे (षष्ठी तत्पु०)=रथ के अगले भाग में (भगवान् कृष्ण के पहलू में)।

[उपस्थे=(पुं०) उप√स्था+क=उपस्थ+सप्त० ए० व०=उपस्थ में। (रथरूपी स्त्री की) योनि में।]

(जंगी रथ या टैंक के चार पहिए और दो भाग हुआ करते थे। पिछला भाग तो मेगजीन का काम देता था क्योंकि उसमें तीर, बम आदि आयुध भरे रहते थे और अगले भाग में रथी (योद्धा) और सारथी (रथचालक) दोनों पहलू बपहलू बैठते थे। अर्जुन पहले तो सेना के योद्धाओं को देखने के लिए दूरबीन लगाए खड़ा था और इसी अवस्था में अपना भाषण कर रहा था। परन्तु अन्त में उसी स्थान पर बैठ गया। यहाँ संजय का अर्जुन को "उपस्थ में बैठ गया" कहना अर्जुन की कायरता पर घृणित व्यंग रूप कथन है ।

रामायण और महाभारत कालीन लोग रथों (टैंकों) पर चढ़कर युद्ध किया करते थे। रावण रथ पर चढ़कर लड़ रहा था, भगवान् राम पैदल ही युद्ध कर रहे थे। यह देखकर इन्द्र ने अपना रथ आकाशमार्ग से लाकर राम को अर्पण कर दिया था। पिता की मृत्यु का वृत्तान्त सुनकर भरत जी कन्धार से रथ पर चढ़कर अयोध्या में आए थे और रथ पर चढ़कर ही राम को वन में मिलने के लिए गए थे।

अर्जुन को अग्नि और वरुण ने रथ दिया था। रावण सीता को रथ में डालकर आकाशमार्ग से लंका में ले गया था। क्या यह सब कुछ लीद करने वाले तथा घास खाने वाले प्राणधारी घोड़ों के द्वारा संभव हो सकता था? कदापि नहीं। ये सब रथ मशीनों द्वारा चलने वाले होते थे जो पृथ्वी और आकाश दोनों स्थानों पर चलते थे।

ये सब रथ कोयले और तेल से नहीं चलते थे। वे तो पारे आदि के द्वारा उत्पन्न की हुई ऐटमी शक्ति से चलते थे। उनमें कई-कई इंजन हुआ करते थे। प्रत्येक इंजन एक घोड़ा माना जाता था। अर्जुन का रथ लौकिक रथ नहीं था, वह तो राम के रथ की भाँति एक दिव्य रथ था।

इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम आदि देवता सर्वशक्तिसम्पन्न होते हैं। परन्तु हम शुद्ध विज्ञान को भूलकर देवताओं को अपने जैसा अल्पज्ञ और भौतिक मनुष्य मानने लगे थे जिससे यह सारी गड़बड़ और हमारा अधःपतन हुआ था।

चोरबाजारी, खवेश परवरी, सूबापरस्ती, फिरकापरस्ती, भ्रष्टाचार, पक्षपात, परस्पर वैर-विरोध, व्यभिचार और विलासिता आदि दुर्गुणों को त्यागकर अब भी विज्ञान की खोज में दत्तचित्त हो जाओ। इन्द्र, अग्नि, वरुणादि देवता लोग अब भी अनेक दिव्य रथ आपको दे देंगे और आपकी रक्षा करते हुए आपकी सब इच्छाओं की पूर्ति कर देंगे। वीर-सन्तान बनो और पहले की तरह संसार का पथप्रदर्शन करो।

अर्जुन का गाण्डीव धनुष अग्नि देवता से प्राप्त की हुई एक प्रसिद्ध मशीन थी जिसके द्वारा बाण, बम आदि आयुध शत्रुओं पर फेंके जाते थे।]

उपाविशत्=उप√विश् (तुदा० उभ० सक०=प्रवेश करना)+लङ्० प्र० पु०, ए० व०=उप+अविशत्=बैठ गया।

विसृज्य=वि√सृज् (दिवा० आत्म० सक०, तुदा० पर० सक०=छोड़ना) +ल्यप्=छोड़कर।

स-शरम्+चापम्=(नपुं०) सह शरं चापम् (द्वि० ए० व०)=बाण सहित धनुष को।

शोक-संविग्न-मानसः=(वि० पुं०) शोकेन संविग्नं मानसं यस्य सः (बहुव्री०) शोक संविग्न मन वाला।

[शोक=(पुं०)√शुच्+घञ्=शोक से।

संविग्न=(वि०) सम्√विज +क्त=क्षुब्ध। उद्विग्न। घबराए हुए। डरे हुए। डूबे हुए।

मानसः=(पुं०) मन्यते=बुध्यते अनेन, √मन्+असुन्=मनस् (नपुं०) +अण्=मानस+प्र० ए० व०=मानसः=मन वाला।]

अर्थ—संजय बोला—रणभूमि, में शोक में डूबे हुए मन वाला अर्जुन, ऐसा कहकर, बाण सहित धनुष को छोड़कर (श्रीकृष्णजी के पहलू में) रथ के अगले भाग में बैठ गया ॥४७॥

व्याख्या—संजय ने कहा—हे राजा धृतराष्ट्र! श्लोक २८ के उत्तरार्द्ध से श्लोक ४६ तक बोल चुकने के बाद अर्जुन अत्यन्त उद्विग्न मानस हो गया

और किसी गहरी चिन्ता और शोक में डूब गया। धनुष-बाण रथ के अगले भाग में रख दिए और आप भी वहीं बैठ गया। आंखों से अश्रुधारा बहने लगी। उस समय उसकी दयनीय दशा देखने योग्य थी। अर्जुन जहाँ पहले बैठा था वहीं से उठकर सेना को देख रहा था। अन्त में शोकसंविग्न होकर फिर वहीं पर बैठ गया था अन्तर केवल इतना ही था कि पहले शस्त्रधारी बनकर बैठा था परन्तु अन्त में शस्त्र त्यागकर बैठा था। इसलिए संजय को उसकी कायरता देखकर यह कहने का अवसर मिल गया—"रथोपस्थ उपाविशत्" अर्थात् जहाँ से उठा था वहीं बैठ गया। यह एक भावपूर्ण घृणित लोकोक्ति का अनुवाद है जिसका अर्थ डरपोक बनकर लड़ने से मुंह मोड़ना होता है अथवा इसका प्रयोग उस व्यक्ति के लिये किया जाता है जो किसी कारण विशेष से अपनी की हुई प्रतिज्ञा से फिर जाता है।

संजय के लिए इस लोकोक्ति को प्रयुक्त करना छोटा मुंह बड़ी बात थी। फिर भी उसने डरते-डरते इस लोकोक्ति का प्रयोग कर ही दिया। उसके डरने का प्रमाण यह है कि वह खुले तौर पर कह सकता था कि अर्जुन उपस्थ में बैठ गया। क्योंकि उपस्थ एक श्लिष्ट घृणित शब्द है जिसका अर्थ रथ का अगला भाग भी होता है। परन्तु उसने अपनी बुद्धिमत्ता से इस शब्द के पूर्व रथ शब्द भी जोड़ दिया है जिससे उसका भाव सहज में ही न समझा जा सके। गीता एक सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी के शब्दों में—

'गीता सूत्र ग्रन्थ नहीं है। गीता एक महान् धर्म-काव्य है। उसमें जितना गहरे उतरिये उतने ही उसमें नए और सुन्दर अर्थ लीजिए। गीता जन-समाज के लिये है, उसमें एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा गया है। अतः गीता में आए हुए महाशब्दों का अर्थ युग-युग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूल मन्त्र कभी नहीं बदल सकता। गीता एक सर्वोत्तम ग्रन्थ है॥'

ॐ तत् सत्।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम
प्रथमोऽध्यायः॥

[सर्वव्यापक प्रभु का नाम ॐ है। तत्=वह, सत्=√अस्+शतृ= सर्वविद्यमान है, सत्य है, उत्तम है, श्रेष्ठ है, सम्मान करने योग्य है, सुन्दर है, अनादि है, अजन्मा है, अनन्त है, एकरस है, अक्षर है, अव्यय है, अविनाशी है, उसके बिना और कुछ नहीं है—इस प्रकार अर्थ वाला "ॐ तत्सत्" यह गीता का महा-मन्त्र है।]

इति (=इस प्रकार) श्रीमद् भगवद् गीतासु (=श्री भगवान्—कृष्णचन्द्र जी—के गाये हुए—कहे हुए) उपनिषत्सु (=उपनिषदों में) ब्रह्मविद्यायां (=ब्रह्मविद्या में) योगशास्त्रे (=योगशास्त्र में) श्रीकृष्णार्जुनसंवादे (=श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद में) "अर्जुनविषादयोग" नाम (=नामक) प्रथमोऽध्याय: (=पहला अध्याय कहा गया है)।

भावार्थ—श्रीमद्भगवद्गीता में अर्थात् भगवान् कृष्ण जी के गाए हुए (इस) शास्त्र में उपनिषदों, ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में "अर्जुन-विषाद-योग" नामक यह पहला अध्याय है ॥

ॐ श्री परमात्मने नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

तम्+तथा कृपया+आविष्टम्+अश्रु-पूर्ण+आकुल+ईक्षणम् । विषीदन्तम्+इदम्+वाक्यम्+उवाच मधुसूदनः ॥

तम्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको ।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्=इस प्रकार । ऐसा । वैसा ।

कृपया=(स्त्री०)√कृप्+अङ्-टाप्=कृपा+तृती० ए० व०=कृपा से । करुणा से । दया से ।

आविष्टम्=(वि०) आ√विष्+क्त=आविष्ट+(पुं०) द्विती० ए० व०= ग्रस्त को । वश में किये हुए को । घिरे हुए को । व्याप्त को ।

अश्रु-पूर्ण+आकुल+ईक्षणम्=(पुं०) अश्रुभिः पूर्णे आकुले ईक्षणे यस्य तम् (बहुव्री०) आँसुओं से भरे हुई व्याकुल नेत्रों वाले को ।

[अश्रु=(नपुं०) अश्नुते व्याप्नोति नेत्रम् अदर्शनाय, इति—√अश्+क्रुन्=अश्रु । आँसू ।

पूर्ण=(वि०)√पूर्+क्त=भरे हुए । पूरित ।

आकुल=(वि०) आ√कुल्+क=व्याकुल ।

ईक्षणम्=√ईक्ष्+ल्युट+द्विती० ए० व०=आँखों वाले को ।]

विषीदन्तम्=(वि०) वि√सद् (भ्वा०, तुदा० पर० अक०=उदास होना)+शतृ=विषीदत्+(पुं०) द्विती० ए० व०=उदास होते हुए को । शोक युक्त को । रोते हुए को ।

इदम्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=यह । इसको ।

वाक्यम्=(नपुं०)√वच्+ण्यत्+द्विती० ए० व०=वाक्य को । वचन को ।

['वाक्य' वह सार्थक शब्द-समूह होता है जिसके द्वारा बोलने या लिखने वाले का आशय भली-भाँति प्रकट हो जाता है ।]

उवाच=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना। बोलना)+लिट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा।

मधुसूदनः=(पुं०) प्र०, ए०व०=मधु दैत्य आदि दुष्टों के मारने वाले भगवान् कृष्ण ने।

अर्थ—संजय बोला—

इस प्रकार दयाभाव से भरे हुए, अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले, रोते हुए (अथवा उदास होते हुए) उस (अर्जुन) को मधुसूदन (भगवान् कृष्ण) ने यह वाक्य कहा—॥१॥

व्याख्या—जब अर्जुन ने अपने वंश के लोगों को देखा तो उसे मोह जाग पड़ा जिससे वह युद्ध करने की भावना से रहित हो गया। पहले वह रथ के उपस्थ में खड़ा होकर दोनों सेनाओं के योद्धाओं को देख रहा था परन्तु उसने जब उनके भावी विनाश को सोचा तो उसका सिर चकरा गया। आँखों तले अन्धेरा छा गया। खड़ा रहने में समर्थ न रह सका इसलिए जहाँ खड़ा था वहीं बैठ गया। उस समय उसका हृदय दयाभाव से भरा हुआ था। आँखों में आँसू छलक रहे थे, मन अति आकुल था, मुख की आकृति रोते हुए मनुष्य जैसी हो गई थी। तब मधु आदि दुष्टों को मारने वाले भगवान् कृष्णचन्द्र ने देखा कि अर्जुन तो इन आततायी कौरवों को मारने से विमुख हो गया है, इसके मन में अन्याय करने वाले शत्रुओं के प्रति दयाभाव भर गया है। इसलिए उसको विबोध कराते हुए यह वाक्य बोले ॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

कुतः+त्वा कश्मलम्+इदम्+विषमे समुपस्थितम्। अनार्य-जुष्टम्+अस्वर्ग्यम्+अकीर्ति-करम्+अर्जुन! ॥

कुतः=(अव्यय) किम्+तसिल्=कहाँ से।

त्वा=(सर्व०) युष्मद्+द्विती० ए० व०=त्वाम्, त्वा=तुझको। तुझे।

कश्मलम्=(नपुं०)√कश्+कल, मुट्+प्र०, ए० व०=मन की उदासी। मोह। अज्ञान। मलिनता।

इदम्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) प्र०, ए० व०=यह।

विषमे=(वि०) [विगतो विरुद्धो वा समः, प्रा० स०] जो सम या अनुकूल नहीं है।

[वि+सम=विषम (अ, आ से भिन्न किसी भी स्वर से परे तथा क् या र् से परे 'स' हो तो वह ष में बदल जाता है ।]
(पुं०) सप्त०, ए० व० ।
संकट के समय में । नाजुक समय में ।
रण-भूमि रूपी विषम स्थल में ।

समुपस्थितम्=सम्-उप√स्था+क्त=समुपस्थित+(नपुं०) प्र० ए० व०= पास आया हुआ ।

अनार्य-जुष्टम्=(वि०) अनार्यैः जुष्टम् (तृती० तत्पु०) ।
[अनार्य=(वि०) न आर्यः अनार्यः (नञ् तत्पु०) शास्त्र में आर्य के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

"कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य इति समृतः ।।"

अर्थात् जो अपने कर्तव्य को पूरा करता हुआ और अकर्तव्य से रहित हुआ स्थित होता है तथा सदा सदाचारपरायण रहता है, वह आर्य होता है । इससे विपरीत अनार्य होता है ।

वैसे तो दस्यु, चोर, लफङ्गे, जालिम, कायर और पापी आदि को भी अनार्य कहते हैं । संसार के सारे लोग चार वर्गों में विभक्त माने जाते हैं :—

१—आर्य—लम्बे, सुन्दर, गोरे, नाक ऊपर को उठी हुई, बाल सुन्दर, घने, चमकीले और चपटे (लोहे की पतरी के सदृश) । विज्ञानी, खोजी, आध्यात्मिक विचारों वाले । इनका घर प्रायः भारत, ईरान, जर्मनी और स्वीडन आदि में था ।

२—मंगोल—रंग पीले । नाक चपटे । शरीर पर बाल बहुत कम । कई एक दाढ़ी मूँछ रहित । कद आर्यों की अपेक्षा छोटे । भक्ष्य-अभक्ष्य सब कुछ खाने वाले बुद्धिमान् । अभिमानी । अपने को सर्वश्रेष्ठ मानने वाले । इनका घर चीन, जापान, मंगोलिया, बर्मा और हिन्द-चीन था ।

३—सामी—बाल घने । धर्म के पक्के । हिंसा से प्यार करने वाले । बाल गोल और मेंहदी रंगे ।

४—हबशी । रंग काले, होंठ मोटे । बाल घुंघराले और मोटे । कद लम्बे । नये आविष्कार न करने वाले । इनका घर अफ्रीका महाद्वीप है ।

जुष्टम्=(वि०)√जुष् (तुदा० आत्म० अक० सक०=अनुकूल होना । पसन्द होना । सेवा करना । जूठा होना)+क्त=जुष्ट+(नपुं०) प्र०, ए० व०=जुष्टम्=जूठा किया हुआ । पसन्द किया हुआ । सेवित ।]

अनार्यों से सेवित। अनार्यों से पसन्द किया हुआ। अनार्यों से जूठा किया हुआ।

अस्वर्ग्यम्=(वि०) नञ् तत्पु०। (नपुं०) प्र० ए० व०=जिससे स्वर्ग की प्राप्ति न हो सके। स्वर्ग दिलाने के अयोग्य।

[स्वर्ग=वह लोक, जिसमें सत्कर्म करने वालों की आत्माएँ जाकर निवास करती और सुख भोगती हैं। स्वर्ग+यत्=स्वर्ग्य=स्वर्ग दिलाने वाला। स्वर्ग के योग्य।]

अकीर्ति-करम्=(वि०) न कीर्तिकरम् (नञ् तत्पु०)=अपयश करने वाला। अकीर्ति करने वाली। (नपुं०) प्र० ए० व० ॥

[अकीर्ति=(स्त्री०) न—√कत्+क्तिन्=अकीर्ति। अपयश। बदनामी।]

अर्जुन !=हे अर्जुन !।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! अनार्यों (बुरे लोगों) से सेवित, स्वर्ग को न देने वाली तथा अपयश के कराने वाली यह मन की मलिनता (उदासी या अज्ञानता) इस संकट के समय (रण-भूमि) में तुझको कहाँ से आ प्राप्त हुई है ? ॥२॥

व्याख्या—भगवान् बोले—

हे वीरों में सूर्य की तेज धूप की तरह देदीप्यमान, निर्मल पौरुष वाले अर्जुन ! इस होने वाले भयंकर युद्ध के आरम्भ में आप में जो कायरता के लक्षण दिखाई दे रहे हैं और इस समय आप में जो दयाभाव उत्पन्न हो गया है तथा आँखों में आँसू छलक रहे हैं। अतः आप उदास होकर मन की मलिनता को प्राप्त हो रहे हो। ये सब लक्षण तेरे तुल्य वीर पुरुषों में होने के उपयुक्त नहीं हैं। ये सब अवगुण तो अनार्य पुरुषों में हुआ करते हैं। आप तो बहुत समझदार और बुद्धिमान् वीर योद्धा हो। अतः अपनी विचार-शक्ति से काम लो ताकि इस समय उपस्थित हुए युद्ध को जीत सको ॥२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

क्लैब्यम्+मा स्म गमः पार्थ ! न+एतत्+त्वयि+उपपद्यते। क्षुद्रम्+हृदय-दौर्बल्यम्+त्यक्त्वा+उत्तिष्ठ परम्+तप ॥

क्लैब्यम् (या क्लैव्यम्)=(नपुं०)√क्लीब् (क्लीव्)+क=क्लीब (क्लीव)+ष्यञ् (भावे)+द्वितीο ए० व०=क्लैब्यम् (क्लैव्यम्)=नपुंसकता को। भीरुता को। हिजड़े के धर्म को।

मा=(अव्यय)√मा+क्विप्=नहीं। मत।

स्म=(अव्यय)√स्मि+ड=स्म=(तू) हो।

[‘स्म’ जब किसी वर्तमानकालिक क्रिया के साथ जोड़ा जाता है तब वह शब्द भूतकालिक क्रिया हो जाती है।]

गमः=(क्रि०)√गम्+लुङ्० म० एक०।

[मा स्म गमः=(तू) मत प्राप्त हो।]

पार्थ !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। हे पृथा (कुन्ती) के पुत्र (अर्जुन) !।

न=(अव्यय) न। नहीं।

एतत्=(सर्व०) एतद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह।

त्वयि=(सर्व०) युष्मद्+सप्त० ए० व०=तुझ में।

उपपद्यते=उप√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=योग्य है। उचित है। युक्तियुक्त है।

क्षुद्रम्=(वि०)√क्षुद्+रक्=क्षुद्र+(नपुं०) द्विती० ए० व०=तुझको।

हृदय-दौर्बल्यम्=हृदयस्य दौर्बल्यम् (षष्ठी तत्पु०)=हृदय की दुर्बलता को।

[हृदय=(नपुं०)√हृ+कयन्+दुक् आगम=दिल।

दौर्बल्यम्=(नपुं०) दुर्√बल्+अच्=दुर्बल+ष्यञ्=दौर्बल्य+द्विती०, ए० व०=कमजोरी को। दुर्बलता को। निर्बलता को।

त्यक्त्वा=√त्यज् (भ्वा० पर० सक० अक०=त्यागना। छोड़ना)+क्त्वा =त्यागकर। छोड़कर।

उत्तिष्ठ=उत्√स्था+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) उठ खड़ा हो।

परम्+तप !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। परान् शत्रून् तापयति, परम्+√तप्+णिच्+खच्, ह्रस्व, मुम्।

(१) हे श्रेष्ठ तप वाले (अर्जुन) !

(२) हे शत्रुओं को ताप (दुःख) देने वाले (अर्जुन) !

[तप=(वि०)√तप्+अच्=सन्तापदायी। दुःखदायी।

अर्थ—हे पृथापुत्र (अर्जुन) ! (तू अब) हिजड़ापन को मत प्राप्त हो। यह (इस युद्ध के समय में) तुझ में योग्य नहीं है। हे श्रेष्ठ तप वाले अथवा शत्रुओं को दुःख देने वाले (अर्जुन) ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर (युद्ध करने के लिए) उठ खड़ा हो ॥३॥

व्याख्या—स्वामी चिद्घनानन्द गिरि जी की व्याख्या का सार इस प्रकार है—

"हे पृथा के पुत्र ! ओज, तेज आदि को भंग करने वाला जो अधैर्य है वही क्लीव भाव है।

तू उसी क्लीब भाव को प्राप्त हो गया है।

'पार्थ' सम्बोधन से भगवान् का अभिप्राय यह है कि हे अर्जुन ! तेरी पृथा माता ने इन्द्र देवता का आराधन करके तुझको पुत्र रूप में उससे प्राप्त किया था। इससे तुझ में बल की अत्यन्त अधिकता प्रसिद्ध है। ऐसा पृथापुत्र तू इस क्लीव भाव के योग्य नहीं है

साक्षात् महेश्वर के साथ युद्ध करने वाला तथा सारे लोक में प्रसिद्ध प्रभाव वाला ऐसा जो तू अर्जुन है उस तुझ में यह अधैर्य रूप क्लीव भाव कदाचित् ठीक प्रतीत नहीं होता।

हे अर्जुन ! जिसको हृदय-दौर्बल्य कहते हैं वही तेरे मन का भ्रमण आदि अधैर्य है और वह अधैर्य स्वाश्रय पुरुष के क्षुद्रपन का कारण होने से क्षुद्र रूप होता है तथा वह भ्रमणादि रूप अधैर्य सहज ही निवृत्त किया जा सकता है। इससे क्षुद्र रूप है। ऐसे क्षुद्र अधैर्य को विचार के बल से शीघ्र ही परित्याग करके उस स्वधर्म रूप युद्ध के करने के लिये तू सावधान हो। तू परन्तप होकर भी अत्यन्त क्षुद्र अधैर्यरूप शत्रु का नाश क्यों नहीं करता ? यह बड़े आश्चर्य की बात है। अतः अपने परन्तप नाम को सार्थक करने के लिये अधैर्यरूप शत्रु का नाश अवश्य करो।"

श्री ज्ञानेश्वर जी कहते हैं—

"हे अर्जुन ! तुम कौन हो ? और यह क्या कर रहे हो ?......। तुम्हारी शूरता की तीनों लोकों में प्रतिष्ठा है। तुमने युद्ध में शंकर को पराजित किया था। निवात और कवच का समूल नाश किया था और अपने को गन्धर्वों के गीत का विषय बनाया था। धनुष-बाण लेकर उठो। इस संग्राम के समय यह कारुण्य किस काम का है ?"

लोकमान्य श्री तिलक जी इस श्लोक की टिप्पणी में लिखते हैं—

"इस स्थान पर हमने 'परन्तप' शब्द का अर्थ 'शत्रुओं को ताप देने वाले !' कर तो दिया है परन्तु बहुतेरे टीकाकारों का यह मत हमारी राय में युक्तिसंगत नहीं है कि अनेक स्थानों पर आने वाले विशेषणरूपी सम्बोधन या कृष्ण अर्जुन के नाम गीता में हेतुगर्भित अथवा अभिप्रायसहित प्रयुक्त हुए हैं।

हमारा मत है कि पद्य रचना के लिये अनुकूल नामों का प्रयोग किया गया है और उनसे कोई विशेष अर्थ उद्दिष्ट नहीं है। अतएव कई बार हमने श्लोकों

में प्रयुक्त नामों का ही हूबहू अनुवाद न कर 'अर्जुन' या 'श्रीकृष्ण' ऐसा साधारण अनुवाद कर दिया है ॥"

इस विषय में पाठकों से हमारा विनम्र निवेदन है कि महाराज तिलक के प्रति हमारी पूर्ण श्रद्धा है। हम उनके प्रति आदरभाव रखते हुए भी उनकी उपरोक्त राय से बहुत प्रयत्न करने पर भी सहमत नहीं हो सके। इसलिये हमने सम्बोधन में प्रयुक्त नामों की यथास्थान अर्थसहित व्याख्या कर दी है।

हमारी समझ के अनुसार तो भगवान् इस श्लोक में अर्जुन से उपहास कर रहे हैं—

जब उन्होंने अर्जुन की मोह-ममतापूर्ण, दयाभाव से सनी हुई तथा युद्ध न करने की निश्चय वाली सब बातें सुन लीं और अपने साथ रथ के उपस्थ भाग में उदास और रोते हुए अर्जुन को बैठा हुआ देख लिया तो नट-नागर प्रभु हँसकर बोले—हे अर्जुन! तेरी ये बातें इस घोर युद्ध प्रारंभ होने के समय उचित और यथायोग्य नहीं हैं क्योंकि शूरवीर लोग कभी प्राणों की परवाह नहीं किया करते, न ही कर्तव्य पालन करने के समय अपने और पराए की परख करते हैं। श्रेष्ठ आर्य लोग कभी निकृष्ट अनार्यों जैसी बातें या कार्य नहीं किया करते जिससे उनका अपयश हो अथवा स्वर्गपथ से भ्रष्ट होने का भय हो। ऐसे कार्य करने के लिये तो वे मन में विचार भी नहीं किया करते।

हे सखे! यह राजा विराट का राजमहल नहीं है जिसमें क्लीव या हिजड़ा बनकर तुम शत्रुओं से छिप जाओगे और फिर वहाँ से तुम्हारे शत्रु तुम्हें ढूंढ न सकेंगे। यह युद्धभूमि है। यहाँ विराट जैसे राजाओं की कन्याओं को नाचना या गाना नहीं सिखाया जाता जो आप हिजड़ा बनकर सुखपूर्वक यह कार्य कर सकोगे। थोड़े समय के अनन्तर ही उठे हुए अस्त्र-शस्त्र और आयुधों का प्रयोग प्रारम्भ होने वाला है क्योंकि शंखों की ध्वनियों के साथ ही युद्ध की घोषणा हो चुकी है। नगाड़े पर चोट पड़ चुकी है। अब इस लड़ने या न लड़ने के विषय में सोच विचार करने का समय ही नहीं रहा है। इसलिए अब तू क्लैब्य या कायरता को मत प्राप्त हो। इस समय यह बात तेरे जैसे जगद्विख्यात वीर योद्धा के लिये उचित नहीं है। हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग दे और कौरव शत्रुओं के साथ युद्ध करने के लिये शीघ्र तैयार हो जा। क्योंकि—

"न सन्तापस्त्वया कार्यः प्रकृतेनेव कर्हिचित्।
न हि सन्तापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ॥"

(महाभारत १।१६०।१॥)

अर्थात् साधारण पुरुषों की तरह शोक करना तुझे कदाचित् ठीक नहीं है। फिर यह तुझ विद्वान् व्यक्ति के शोक करने का समय भी तो नहीं है ॥३॥

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

कथम् भीष्मम्+अहम्+संख्ये द्रोणम्+च मधुसूदन ! इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजा+अर्हौ+अरि-सूदन ! ॥

कथम्=(अव्यय) कैसे ? किस तरह से ? किस प्रकार ?।

भीष्मम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=भीष्म पितामह को (के)।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं।

संख्ये=(नपुं०) सम्√ख्या+क=संख्य+सप्त० ए० व०=युद्ध में।

द्रोणम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=द्रोणाचार्य को (के)।

च=(अव्यय) और।

मधु-सूदन !=(सम्बो०) ए० व०=हे मधु आदि दुष्ट दैत्यों के मारने वाले।

इषुभिः=(पुं०) ईष् (भ्वा० आत्म० अक० सक०=उड़ जाना। मार डालना) +उ, कित्, ह्रस्व=इषु+तृती०, ब० व०=बाणों द्वारा। उड़न शस्त्रों द्वारा।

प्रति=(अव्यय)√प्रथ+डति=विरुद्ध। सामने। मुकाबले में। साथ। (प्रति के योग में द्विती०)।

योत्स्यामि=√युध् (दिवा० आत्म० अक०=लड़ना। युद्ध करना)+लृट्०, उ० पु०, ए० व०=लड़ूँगा। युद्ध करूँगा।

पूजा+अर्हौ=पूजायाः अर्हौ (षष्ठी तत्पु०) (दोनों) पूजा के योग्य (हैं)।
[अर्हौ=√अर्ह (भ्वा० पर० अक०=योग्य होना)+अच्=अर्ह+प्र०, द्वि० व०=(दो) योग्य हैं।]

अरि-सूदन !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। अरीन् सूदयतीति ! (उपपद तत्पु०) हे शत्रुओं को मारने वाले !
[अरि=(पुं०)√ऋ+इन्=शत्रु। दुश्मन। अरि।
सूदन=(वि०)√सूद् (भ्वा० आत्म० सक०=नाश करना। वध करना।)+ल्यु=सूदन। वध करने वाला। नाश करने वाला।]

अर्थ—अर्जुन बोला—हे मधुसूदन ! मैं युद्ध में भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के प्रति बाणों से (उड़न शस्त्रों के द्वारा) कैसे लड़ूँगा ? हे अरिसूदन ! वे (दोनों तो) पूजा करने के योग्य हैं ॥४॥

व्याख्या—इससे पूर्व दो श्लोकों में भगवान् ने अर्जुन से छः बातें कही हैं—

१—तुझे इस युद्ध के अवसर पर यह मोह कहाँ से प्राप्त हो गया है ?
२—यह मोह अनार्य-जुष्ट है।
३—स्वर्ग में ले जाने वाला नहीं है।
४—अपयश कराने वाला है।
५—तू क्लैब्यभाव को मत प्राप्त हो।
६—तू हृदय के क्षुद्र दौर्बल्य को त्याग दे।

उपरोक्त ये सब बातें अर्जुन ने भली-भाँति कान खोलकर सुनीं और उनका उत्तर देने का भरसक प्रयत्न किया।

भगवान् ने अर्जुन से उपहास करते हुए कहा था कि तू अब फिर दूसरी बार हिजड़े का रूप मत धारण कर। राजा विराट के रनिवास में तो सब स्त्रियाँ ही थीं। उनके बीच में तो तेरा क्लीव बने रहना उपयुक्त कार्य था परन्तु इस युद्धक्षेत्र में तो संसार भर के प्रसिद्ध योद्धा लोग आ उपस्थित हुए हैं और मरने मारने के लिये उद्यत हैं। इनके सामने क्लीव बनकर तू बच न सकेगा।

अर्जुन ने भगवान् के इस उपहास का उत्तर व्यंग्योक्ति द्वारा ही दिया। वह बोला—मैं अब हिजड़े का रूप तो धारण नहीं करना चाहता हूँ परन्तु आप तो मधु आदि दैत्य अनार्यों को ही मारते हैं अथवा कंसादि दुष्ट शत्रुओं का ही वध करते हैं परन्तु मेरे सामने पुष्प, चन्दन अक्षतादि सोलह उपचारों से पूजन करने योग्य दादा भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य जी उपस्थित हैं। ये लोग न ही दैत्य हैं, न ही राक्षस या अनार्य हैं और न ही हमारे शत्रु हैं। जब हम लोग अपने कवच उतारकर युधिष्ठिर और आपके सहित भीष्म, द्रोण और शल्य के पास उनके चरण छूने और आशीर्वाद लेने के लिये गये थे तो भीष्म पितामह ने दुर्योधन की ओर होकर अपने लड़ने का कारण इस प्रकार कहा था—

"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज ! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

अर्थात् हे महाराज युधिष्ठिर ! यह सच्ची बात है कि मनुष्य अर्थ का दास है (अर्थात् अपनी गर्ज का बन्दा है) परन्तु अर्थ किसी का गुलाम या दास नहीं है। हम लोग भी अर्थ के दास बनकर ही कौरवों के साथ बँधे हुए हैं अर्थात् हमारा आप लोगों से कोई वैर-विरोध नहीं है। केवल परिस्थिति से विवश होकर ही कौरवों के पक्ष में लड़ने के लिये उद्यत हुए हैं।"

हे कृष्ण जी ! इन लोगों ने हमें विजय-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया है और वे भीष्मादि भीतर से हम पाण्डवों के शुभचिन्तक हैं। इससे भीष्म द्रोणाचार्य आदि हमारे शत्रु नहीं हैं अपितु मित्र हैं।

हे महाराज ! धर्मशास्त्र का वचन है, कि—

"गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विपराजित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः॥"

अर्थात् जो मनुष्य अपने गुरु से हुँकार (आँखें लाल करके 'हुँ' शब्द करना) और तुंकार (अभिमान से 'तू' कहना) कहकर उसका अपमान करता है तथा साधु ब्राह्मण आदि पूज्य पुरुषों को विवाद करके जीतता है वह मनुष्य (मरकर) श्मशान में वृक्ष बनकर उत्पन्न होता है और उस पर चील, गीध और कौवे आदि पक्षी निवास करते हैं।

हे मधुसूदन तथा अरिसूदन कृष्ण ! शास्त्र की ऐसी आज्ञा होने पर गुरु द्रोणाचार्य सरीखे धनुर्विद्या-दाता श्रेष्ठ ब्राह्मण से भी मैं कैसे लड़ सकता हूँ ? मुझे न किसी प्रकार का मोह हुआ है तथा मैं न ही इस समय किसी प्रकार की क्लीवता को प्राप्त हुआ हूँ और न ही मेरे हृदय में किसी प्रकार की दुर्बलता है। मैं केवल निज-धर्म को विचार कर ही ऐसा कह रहा हूँ ॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

गुरून्+अहत्वा हि महानुभावान्+श्रेयः+भोक्तुम्+भैक्ष्यम्+अपि+इह लोके। हत्वा+अर्थ-कामान्+तु गुरून्+इह+एव भुञ्जीय भोगान्+रुधिर-प्रदिग्धान्॥

गुरून्=(पुं०) गृणाति उपदिशति धर्मं, गिरति अज्ञानं वा। यद्वा गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वादिभिः,√गृ+कु, उत्व=गुरु+द्विती० ब० व०=गुरुओं को। ["गुरु लोगों" इस बहुवचनान्त शब्द से "बड़े बूढ़ों" का ही अर्थ लेना चाहिए। (लोकमान्य तिलक जी)।]

अहत्वा=न हत्वा (नञ्०)√हन्+क्त्वा=न मारकर।

हि=(अव्यय) क्योंकि। निःसन्देह।

महानुभावान्=(वि०, पुं०) कर्मधारय समास। द्विती० ब० व०।√मह्+अति=महत्।

[समास में आत्व हो जाने से "महा" रूप हो जाता है।]

अनु√भू+णिच्+घञ्=अनुभाव (पुं०) । महानुभावों को। बहुत गौरवयुक्तों को। महात्माओं को। बहुत राजसी चमक-दमक, महिमा, प्रभाव, तेज और शक्ति वालों को।

श्रेय:=(वि०) अतिशयेन प्रशस्य:, प्रशस्य+ईयसुन्, श्र आदेश:=श्रेयस्+(नपुं०) प्र० ए० व०=श्रेष्ठ। बेहतर। उत्कृष्टतर। सर्वोत्तम। कल्याणकारी।

भोक्तुम्=√भुज् (रुधा० पर० सक०=खाना। भक्षण करना)+तुमुन्=खाने के लिये। खाना।

भैक्ष्यम्=(नपुं०)√भिक्ष्+अ-टाप्=भिक्षा (स्त्री०)+ष्यञ्+प्र० ए० व० =भिक्षा का अन्न। दर-दर घूमकर माँगा हुआ अन्न।

अपि=(अव्यय) भी।

इह=(अव्यय) इदम्+ह, इ आदेश=यहाँ। इस।

लोके=(पुं०)√लोक् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+घञ्=लोक+सप्त० ए० व०=लोक में। संसार में।

हत्वा=√हन्+क्त्वा=मारकर।

अर्थ-कामान्=१—(वि०) अर्थस्य कामान् (षष्ठी तत्पु०)=अर्थ (धन) की कामना वालों को।

[भीष्म जी एक बार धन सहित काशीराज की कन्याओं को हर लाए थे और द्रोणाचार्य जी ने राजा द्रुपद से अपने शिष्यों द्वारा पाँचाल का आधा भाग छीन लिया था। इससे अर्जुन यहाँ उन दोनों गुरुजनों और उनके साथ मिलकर युद्ध करने वाले कृपाचार्य आदि सारे गुरुजनों को अर्थ की कामना वाले कहता है।]

२—(पुं०) अर्थान् च कामान् च (द्वन्द्व०) अर्थों (धनों) और कामों (स्त्रियों के भोगों) को।

[अर्थ=(पुं० नपुं०)√अर्थ् (चुरा० आत्म० सक०=माँगना। याचना करना)+अच्=धन प्रयोजन।

कामान्=(पुं०) √कम्+णिङ्+घञ्=काम+द्विती० ब० व०=कामनाओं को। कामना वालों को। स्त्रियों के भोगों को। सब प्रकार के भोगों को।]

तु=(अव्यय)√तुद्+डु=और। तो। किन्तु।

गुरून्=(पुं०) गुरु+द्विती० ब० व०=गुरुओं को।

इह=(अव्यय) यहाँ। इस लोक में।

एव=(अव्यय) ही।

भुञ्जीय=√भुज् (रुधा० पर० सक०=खाना। भोगना)+विधि०, उ० पु०, ए० व०=(मैं) भोगूं ?।

भोगान्=(पुं०)√भुज्+घञ्=भोग+द्विती० ब० व०=भोगों को। खाने, पीने, पहनने, रहने, प्रभुत्व, ऐश्वर्य, स्त्री संभोग आदि सब प्रकार के क्षणभङ्गुर भोगों को।

रुधिर-प्रदिग्धान्=(वि० पुं०) रुधिरात् रुधिरेण वा प्रदिग्धान् (पंच० वा तृती० तत्पु०)=रुधिर से सने हुओं को। खून से लिबड़े हुओं को। जुल्म और पाप से प्राप्त हुओं को।

[रुधिर=(नपुं०)√रुध् (रुधा० उभ० सक०=रोकना। दिलरूपी ताले वाली कोठरी में बन्द करना)+किरच=रक्त। खून। लहू।

प्रदिग्धान्=(वि० पुं०) प्र√दिह्+क्त=प्रदिग्ध+द्विती० ब० व०= चिकने हुओं को। सने हुओं को। लिबड़े हुओं को।]

नोट—"हि महानुभावान्" के स्थान पर "हिमहानुभावान्" एक ही पद करके पढ़ें तो अर्थ होगा—

हिमम्=जाड्यम्, अपहन्ति इति हिम-हा, आदित्योऽग्निर्वा तस्य इव अनु-भावः=सामर्थ्यं येषां, ते "हिमहाऽनुभावाः"।

तान्=सूर्य भगवान् तथा अग्नि के समान है सामर्थ्य जिनका, उनका नाम "हिमहाऽनुभाव" है। ऐसे अति तेजस्वी "भीष्म", "द्रोणादि" बड़े-बूढ़ों को मारकर राज्य-प्राप्ति की कोई आवश्यकता नहीं है।

पहला अर्थ—महानुभाव बड़े-बूढ़ों और गुरुओं को न मारकर, इस लोक में भिक्षा का अन्न भी खाने के लिए श्रेष्ठ है क्योंकि अर्थ (धन या स्वार्थ) चाहने वाले भी गुरुजनों को मारकर इस लोक में (क्या मैं) रुधिर-लिप्त-भोगों को भोगूं ? ॥५॥

दूसरा अर्थ—महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भी भोगना श्रेयस्कर या कल्याणकारी है क्योंकि गुरुजनों को मारकर इस लोक में रुधिर से सने हुए (गरीबों का खून निचोड़कर प्राप्त किए हुए) धनों और स्त्री मैथुन रूप (क्षणभङ्गुर और अन्त में दुःख रूप) भोगों को ही तो भोगूंगा न ? ॥५॥

व्याख्या—अर्जुन ने कहा कि जब हम गुरुजनों को मारेंगे ही नहीं तो हमारा स्वर्ग में जाना तो रुकेगा ही नहीं। हे भगवन् ! ये भीष्म, द्रोण आदि बड़े-बूढ़े और गुरुजन, श्रवण, मनन, अध्ययन, आचार और तप-तेज आदि गुणों से युक्त हैं। भीष्म तो अपने काल और काम आदि को भी वशीभूत किए हुए हैं अर्थात् मृत्यु उसकी इच्छानुसार होगी और वह आजीवन ब्रह्मचारी रहने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं। द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदि हमारे पूज्य और विद्या-दाता हैं। बेशक इस समय ये सब लोग अर्थों की कामना वाले होकर युद्ध करने के लिये उद्यत हैं तो भी वे हमारे बड़े-बूढ़े और गुरु ही हैं। उनको मारकर हमें मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। केवल जुल्म और पाप से प्राप्त किए हुए क्षणभङ्गुर ऐश्वर्य, खाने-पीने के स्वादु पदार्थ, सुन्दर, कोमल, बहुमूल्य, चमकीले रेशमी वस्त्र, रहने के लिये बंगले, चढ़ने के लिये हाथी, घोड़े, रथ, विमान, और विषय भोगने के लिये सुन्दर कामिनियां आदि तुच्छ आनन्द ही प्राप्त हो सकते हैं जो अन्त में हमें नरककुण्डों में धकेल देंगे। इससे तो यही अच्छा है कि हम भीख माँगकर जीवनयापन या निर्वाह कर लें। यद्यपि भीख माँगना क्षत्रिय-धर्म के अनुकूल काम नहीं है फिर भी महानुभाव वृद्ध गुरुजनों को मारकर रुधिर-लिबड़े भोगों को भोगने की अपेक्षा यह काम कहीं अच्छा है ॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

न च+एतत्+विद्मः कतरत्+नः+गरीयः+यत्+वा जयेम यदि वा नः+जयेयुः। यान्+एव हत्वा न जिजीविषामः+ते+अवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

न=न। नहीं।

च=और। भी।

एतद्=(सर्व०) एतद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको। यह।

विद्मः=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० उ० पु० ब० व०= (हम) जानते हैं।

कतरत्=(सर्व०, वि०) कौन सी। क्या।

नः=(सर्व०) अस्मद्+द्विती०, चतु०, षष्ठी=अस्मान् (नः)। अस्मभ्यम् (नः)। अस्माकम् (नः)। हमको। हमारे लिये। हमारे।

गरीयः=(वि०) गुरु+ईयसुन्, गर आदेश=गरीयस्=अत्यन्त भारी । अत्यन्त महत्त्वपूर्ण । प्रबल । श्रेष्ठ ।

यद्+वा=(अव्यय) अथवा । किंवा ।

जयेम=√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+विधि० उ० पु०, ब० व० =(हम) जीतें । (हम) जीतेंगे ।

यदि वा=(अव्यय) अथवा । या ।

नः=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ब० व०=हमको ।

जयेयुः=√जि+विधि०, प्र० पु०, ब० व०=(वे) जीतेंगे । (वे) जीतें ।

यान्=(सर्व०) यद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=जिनको ।

एव=(अव्यय) ही ।

हत्वा=√हन्+क्त्वा=मारकर ।

न=न । नहीं ।

जिजीविषामः=√जीव् (भ्वा० पर० अक०=जीवित रहना)+सन्+लट्०, उ० पु०, ब० व०=जीना चाहते हैं ।

ते=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ब० व०=वे ।

अवस्थिताः=अव √स्था+क्त=अवस्थित+(पुं०) प्र०, ब० व०=खड़े हुए हैं । खड़े हैं ।

प्रमुखे=(प्रादि०) सप्त० ए० व०=सामने ।

धार्तराष्ट्राः=(पुं०) धृतराष्ट्र+अण् (अपत्ये)+प्र०, ब० व०=धृतराष्ट्र के पुत्र । दुर्योधनादि कौरव लोग ।

अर्थ—हम यह भी नहीं जानते हैं कि हमारे लिये क्या (करना) श्रेष्ठ है । [अथवा हम दोनों में से कौन बलवान् या श्रेष्ठ है ।] अथवा हम उनको जीतेंगे ? या वे हमको जीतेंगे ? जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र (और सम्बन्धी भीष्म द्रोणादि) सामने (युद्ध करने के लिये) खड़े हैं ॥६॥

टिप्पणी—स्वामी नारायण आदि बहुत से टीकाकारों ने "कतरन्नो गरीयः' के दो अर्थ किए हैं (१)—कौन सी बात हमारे लिये श्रेष्ठ है ? (२) हम दोनों (पाण्डवों और कौरवों) में से कौन प्रबल है ?

क्योंकि 'गरीयस्' का अर्थ श्रेष्ठ भी होता है और प्रबल भी ।

परन्तु दूसरे अर्थ को अधिक युक्त माना है । परन्तु इस दूसरे अर्थ पर स्वामी चिद्घनानन्द जी आपत्ति करते हुए लिखते हैं—

यहाँ किसी टीकाकार ने "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः" का यह अर्थ किया है—"हम दोनों के मध्य में कौन सा अधिक है ।" इस बात को हम जानते नहीं ।"

सो यह अर्थ ठीक नहीं है । कारण यह कि अगले श्लोक ७ में "पृच्छामि त्वां धर्म-संमूढ-चेताः" में यह कहकर अर्जुन ने धर्म के विषय में ही संशय प्रकट किया है । इस वचन के अनुसार इस श्लोक में भी भिक्षा का अन्न और युद्ध दोनों में ही अर्जुन का संशय संभव है । सेना की अधिकता (प्रबलता) में संशय संभव नहीं ।

लोकमान्य तिलक जी ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—

"हम जय प्राप्त करें या हमें (वे लोग) जीत लें—इन दोनों बातों में श्रेयस्कर कौन है, यह भी समझ नहीं पड़ता । जिन्हें मारकर फिर जीवित रहने की इच्छा नहीं वे ही ये कौरव (युद्ध के लिये) सामने डटे हैं ।।

['गरीयः' शब्द से प्रकट होता है कि अर्जुन के मन में अधिकांश लोगों के अधिक सुख के समान कर्म और अकर्म की लघुता-गुरुता ठहराने की कसौटी थी, पर वह इस बात का निर्णय नहीं कर सकता था कि उस कसौटी के अनुसार किसकी जीत होने में भलाई है ।।]"

व्याख्या—हे भगवन् ! युद्ध करने से हमें लाखों की हिंसा करनी होगी परन्तु युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। शास्त्रों में "अहिंसा परमो धर्मः" भी कहा गया है । भिक्षा करके निर्वाह करने से हम हिंसा के पाप से बच जाएँगे । मेरा मन द्विविधा में पड़ा हुआ है कि इन दोनों धर्मों में से हमारे लिये कौन सा श्रेष्ठ है ? हे भगवन् ! आपके विचार में यदि हमें क्षत्रिय-धर्मरूप युद्ध ही करना उचित है तो इस बात की क्या गारण्टी है कि हम ही युद्ध में विजयी होंगे । यदि कौरव जीत गए और हम जीवित भी बच गए, तो भी वनों की खाक छाननी पड़ेगी और कहीं लुक-छिपकर भीख माँगकर निर्वाह करना पड़ेगा। इसलिये युद्ध का मार्ग त्यागकर पहले ही भिक्षा मार्ग क्यों न ग्रहण कर लिया जाये जिससे स्वजनों के वध के पाप से भी बचा जा सके और लड़ने का प्रयास भी न करना पड़े ।।

हे भगवन् ! यदि आप यह कहते हैं कि मैं कृष्ण रूप परमेश्वर तुम पाण्डवों का साथी हूँ, रक्षक हूँ तथा जीत करवाने वाला हूँ । तुम तनिक सा भी अपनी विजय में संशय न करो ।

यह बात तो मेरी समझ में अच्छी तरह से आती है परन्तु इस बात का क्या प्रतिकार है कि जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों और भीष्म द्रोणादि पूज्यों और

अन्य सम्बन्धियों को मारकर बाद में फिर अकेले रहकर हम जीते रहना भी नहीं चाहते। वही ये लोग हमारे सामने लड़ने के लिए उपस्थित हैं। इससे इनके मर जाने पर भी अन्त में हमारी पराजय ही समझनी चाहिए क्योंकि इनके साथ ही हमारे पुत्रादि भी अवश्य ही मरेंगे।

"सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान्।
जयोऽयमजयाकारो भगवन्! प्रतिभाति मे॥"

अर्थात् हे भगवन्! सुभद्रा और द्रौपदी के प्रिय पुत्रों के मारे जाने से यह विजय मुझे अजय के समान मालूम होती है॥

इसलिये हे भगवन्! मेरा कल्याण मार्ग पर पथ-प्रदर्शन कीजिए॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥

कार्पण्य-दोष+उपहत-स्वभावः पृच्छामि त्वाम्+धर्म-संमूढ-चेताः। यत्+श्रेयः स्यात्+निश्चितम्+ब्रूहि तत्+मे शिष्यः+ते+अहम्+शाधि माम्+त्वाम्+प्रपन्नम्॥

कार्पण्य-दोष+उपहत-स्वभावः=(वि०) कार्पण्य-दोषेण उपहतः स्वभावः यस्य (बहुव्री०)=कृपणता के दोष से उपहत है स्वभाव जिसका—ऐसा मैं अर्जुन।

[कार्पण्य=(वि०)√कृप्+क्वुन्=कृपण+ष्यञ्=कार्पण्य=कृपणता। कायरता। दयापात्रता। विवेकशून्यता।

दोष=(पुं०)√दुष्+घञ् अथवा√दुष्+णिच्+घञ्=त्रुटि। कलंक। खराबी।

उपहत=(वि०) उप√हन्+क्त=आहत। घायल। नष्ट किए हुए।

स्वभावः=(वि० पुं०) 'बहुव्री०' होने से—सहज प्रकृति। स्वभाव वाला। (प्र०, ए० व०)

पृच्छामि=√प्रच्छ् (तुदा० पर० सक०=पूछना)+लट्०, उ० पु०, ए० व० =(मैं) पूछता हूँ।

त्वाम्=(सर्व०) युष्मद्+द्विती० ए० व०=त्वाम्, त्वा=तुझको। आपको।

धर्म-संमूढ-चेताः=(वि०) धर्मात् संमूढं चेतः यस्य सः (बहुव्री०) धर्म से संमूढ हुए चित्त वाला।

[धर्म=(पुं०, नपुं०) धरति लोकान्, ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा। वह कर्म जिसके करने से करने वाले का इस लोक में अभ्युदय हो और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो। कर्तव्य।

संमूढ=(वि०) सम्√मुह्+क्त=मूर्छित हुए। व्याकुल हुए। परेशान हुए। बेवकूफ बने हुए। भटके हुए।

चेताः=(पुं०)√चित्+असुन्=चेतस् (नपुं०) "बहुव्री०" होने से चित्त वाला। (प्र० ए० व०)।

यत्=(सर्व०) यद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

श्रेयः=(नपुं०) श्रेयस्+(नपुं) प्र० ए० व०=कल्याणकारक।

स्यात्=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+विधि०, प्र० पु०, ए० व० =हो।

निश्चितम्=(वि०) निर्√चि+क्त+द्विती०ए०व०=निश्चित को। निश्चय किया हुआ।

ब्रूहि=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लोट्०, म० पु०, ए० व० (परस्मै०)=(तू) कह। कहो। कहिए।

तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उसको। वह।

मे=(सर्व०) अस्मद्+चतु०, ए० व०=मह्यम्, मे=मेरे लिये।

शिष्यः=(पुं०) शिष्यतेऽसौ, √शास् (अदा० पर० सक०=शिक्षा देना। शासन करना)+क्यप्=शिष्य। शागिर्द। चेला। शिक्षा ग्रहण करने वाला।

ते=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी ए० व०=तव, ते=तेरा।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं।

शाधि=√शास् (अदा० पर० सक०=शिक्षा देना। शासन करना)+लोट्०, म० पु०, ए० व०=शिक्षा दीजिए।

माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझको।

त्वाम्=(सर्व०) युष्मद्+द्विती० ए० व०=तुझको। आपको।

प्रपन्नम्=(वि०) प्र√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=जाना। प्राप्त होना) +क्त+(नपुं०) प्र०, ए० व०=प्राप्त हुआ (हूँ)। शरण में आया हुआ हूँ॥

अर्थ—(अर्जुन अपनी व्यंग्योक्ति की क्षमा माँगता हुआ कहता है—)

कृपणता या कायरता के दोष से आहत हुए स्वभाव वाला और धर्म के सम्बन्ध में मूर्ख बने हुए चित्त वाला (मैं अर्जुन) आपको पूछता हूँ कि निश्चय किया हुआ जो (मत मेरे लिये) कल्याणकारक हो वह मुझको कहिए। मैं तेरा शिष्य हूँ। आपको प्राप्त हुआ हूँ। (अर्थात् मैं आपकी शरण में हूँ।) (इसलिए) मुझको शिक्षा दीजिए॥७॥

टिप्पणी—इस श्लोक पर स्वामी चिद्घनानन्द गिरि की सुन्दर व्याख्या इस प्रकार है—

"इस लोक में जो पुरुष थोड़े से धन की हानि को भी सहार नहीं सकता उस पुरुष को कृपण कहते हैं। उस कृपण पुरुष के तुल्य होने से मोक्ष रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति से रहित सब अनात्म-वेत्ता अज्ञानी पुरुष कृपण हैं। श्रुति कहती है—

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।" (बृहद्० उप० ३।८।१०।।) अर्थात् हे गार्गि ! जो (व्यक्ति) इस अक्षर (आत्मा) को न जानकर इस लोक में मरता है वह (अज्ञानी पुरुष) कृपण है ।।

इस विषय में स्मृति—

"कृपणोऽजितेन्द्रियः" अर्थात् जिस पुरुष ने अपनी इन्द्रियों को नहीं जीता, वह पुरुष कृपण है ।।

इत्यादि श्रुति-स्मृतियों के प्रमाणों से अज्ञानी पुरुषों में ही कृपणता सिद्ध होती है। ऐसे कृपण पुरुषों में हरण करने वाला जो देहादिक अनात्म पदार्थों का अध्यास [मिथ्या ज्ञान—रस्सी में सर्पवत् अथवा सीप में चाँदी की तरह] है, उसी का नाम कार्पण्य है। इस कार्पण्य के कारण उत्पन्न हुए जो इस जन्म में, यही हमारे बान्धव हैं। इनके नाश होने पर हम जीवित रहकर क्या करेंगे ? इस प्रकार का अभिनिवेश (अनुरक्ति, लीनता) रूप ममता 'दोष' है। इस दोष से तिरस्कार को प्राप्त हुआ है युद्ध का उद्यम रूप स्वभाव जिस का, ऐसा जो मैं अर्जुन हूँ।

और धर्म के विषय में निर्णय करने वाले प्रमाण के अदर्शन से क्या इन भीष्म द्रोण आदि का हनन करना ही हमारा धर्म है ? इत्यादि अनेक संशयों से व्याप्त है चित्त जिसका ऐसा जो मैं अर्जुन हूँ।

सो वह मैं अर्जुन आपसे अपना श्रेय पूछता हूँ। सो कृपा करके मुझे कहिए।

श्रुति का वचन है—

"नापुत्रायाशिष्याय वै पुनः।" अर्थात् पुत्र और शिष्य के बिना किसी को श्रेय का उपदेश नहीं करना चाहिए।

अब मैं आपका सखा नहीं हूँ, शिष्य हूँ। अतः आपकी शिक्षा का पात्र हूँ क्योंकि समान ज्ञान वाले ही सखा कहलाते हैं। मेरे जैसे न्यून ज्ञान वाले सखा बनने के अधिकारी नहीं हो सकते, वे तो शिष्य ही हो सकते हैं ।।"

व्याख्या—हे भगवन् ! मैं क्षत्रिय हूँ। शौर्य, तेज और धैर्य ये तीन क्षत्रिय के महान् गुण हैं जो प्रायः प्रत्येक क्षत्रिय में स्वाभाविक ही होते हैं। परन्तु इस समय मेरे स्वभाव से ये तीनों गुण, ज्ञान की कमी के कारण लुप्तप्राय से

हो रहे हैं और धर्म-अधर्म का निर्णय करने में भी मैं असमर्थ हो रहा हूँ। कर्तव्य-अकर्तव्य का भेद भी अब मेरी समझ में नहीं आ रहा है। सो मैं आपसे पूछता हूँ कि इस समय मेरे लिये क्या कर्तव्य या कार्य निश्चित होना चाहिए। मैं तेरा शिष्य हूँ। सदा से तेरे शासन को मानता चला आ रहा हूँ। जैसा भी आप समय-समय पर कहते रहे हैं उसके अनुसार मैं कार्य करता रहा हूँ। अब इस समय के अनुसार मुझे शिक्षा दीजिए अर्थात् मेरा पथप्रदर्शन कीजिए ताकि मैं मन की उलझन को त्याग सकूँ। कहा भी है—

"गुरूपदेशामृत-धारा वर्षित है तब ही।
शिष्य-क्षेत्र संग्रहण को प्रस्तुत हो जब ही।।"

इसलिए हे भगवन्! आप अपने उपदेश की अमृतधारा को बरसाइए। मैं आपका शिष्य उसे संग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हूँ।।७।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

न हि प्रपश्यामि मम+अपनुद्यात्+यत्+शोकम्+उच्छोषणम्+इन्द्रियाणाम्। अवाप्य भूमौ+असपत्नम्+ऋद्धम्+राज्यम्+सुराणाम्+अपि च+आधिपत्यम्।।

न=न। नहीं।

हि=क्योंकि। निःसंदेह।

प्रपश्यामि=प्र√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लट्०, उ० पु०, ए० व०=(मैं) देखता हूँ।

मम=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी, ए० व०=मम, मे=मेरी। मेरे।

अपनुद्यात्=अप√नुद् (तुदा० उभ० सक०=धक्का देना। हटाना। भगाना)+आशीर्लिङ्, प्र० पु०, ए० व०=दूर करे।

यत्=(सर्व०) यद्+(नपुं०) प्र०, ए० व०=जो।

शोकम्=(पुं०)√शुक्+घञ्+द्विती० ए० व०=शोक को।

[प्रिय व्यक्ति या वस्तु के वियोग या नाश के कारण मन में होने वाला 'परम कष्ट' शोक कहलाता है।]

उच्छोषणम्=(वि०) उद्√शुष् (दिवा० पर० अक०=सुखाना)+णिच्+ल्यु=उच्छोषण+(पुं०) द्वितीο एο वο=सुखाने वाले को ।

इन्द्रियाणाम्=(नपुं०)√इन्द् (भ्वा० पर० अक०=ऐश्वर्य होना)+र=इन्द्र (ऐश्वर्यवान्)+घ-इय=इन्द्रिय+षष्ठी ब० व०=इन्द्रियों के ।

[इन्द्रिय=शरीर के अवयव, जिनसे बाहरी विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है ।

हाथ, पाँव, वाणी, गुदा और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । मन भी एक ज्ञानेन्द्रिय माना जाता है ।]

अवाप्य=अव√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=प्राप्त करना)+ल्यप्=प्राप्त करके ।

भूमौ=(स्त्री०) भवन्ति भूतानि अस्याम्,√भू+मि, कित्=भूमि+सप्त०, ए० व०=भूमि पर ।

असपत्नम्=(वि०) [सपत्न=(पुं०) सह—एकार्थे पतति, √पत्+न। सहस्य सः । शत्रु । प्रतिद्वन्द्वी ।] नञ् समास ।

न सपत्नम्=(नपुं०) द्वितीο एο वο=शत्रु रहित को । निष्कण्टक को।

['राज्यम्' का विशेषण है ।]

ऋद्धम्=(वि०)√ऋध् (दिवा०, स्वा०, पर० सक० अक०=फलना, फूलना)+क्त+(नपुं०) द्वितीο एο वο=धन-धान्य से सम्पन्न को । सुख-सम्पत्ति के पदार्थों से भरे हुए को । समृद्ध को । खुशहाल को ।

राज्यम्=(नपुं०) राज्ञो भावः कर्म वा, राजन्+यक्+द्वितीο एο वο=राज्याधिकार को ।

सुराणाम्=(पुं०) सुष्ठु राति ददाति अभीष्टम्, सु√रा (अदा० पर० सक०=देना । प्रदान करना)+क=सुर+षष्ठी ब० व०=सुरों के । देवताओं के ।

अपि=(अव्यय) भी ।

च=(अव्यय) और ।

आधिपत्यम्=(नपुं०) अधि√पा (अदा० पर० सक०=बचाना । रक्षा करना)+डति=अधिपति (राजा, स्वामी)+ष्यञ्=आधिपत्य+द्वितीο एο वο=प्रभुत्व को । स्वामित्व को ।

अर्थ—क्योंकि भूमि पर निष्कण्टक और धन-धान्य आदि पदार्थों से भरे हुए राज्य तथा देवताओं के स्वामित्व को पाकर भी मैं (उस उपाय को) नहीं देखता हूँ जो मेरी इन्द्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर करे ॥८॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आत्म-वेत्ता पुरुष ही शोक से छुटकारा प्राप्त कर सकते हैं। मैं तो आत्म-वेत्ता नहीं हूँ। नारद ने एक बार कहा था—"सोऽहं भगवन् ! शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु।" इति। अर्थात् हे भगवन् ! सो मैं शोक को प्राप्त हुआ हूँ। उस मुझको आप भगवान् शोक-सागर से पार करें [एक श्रुति]।

आज मेरी दशा भी नारद जैसी ही है। क्योंकि एक ओर तो क्षत्रिय का अपना धर्म है और दूसरी ओर गुरु-हत्या और कुल-क्षय के पापों का भय है। इस दुविधा में "मरें या मारें" के विचार में पड़ने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि चाहे पृथ्वी का शत्रु-रहित, निष्कण्टक, धन-धान्य से समृद्ध राज्य भी प्राप्त हो जाए, अपितु इन्द्र के स्वर्ग से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सारे देवताओं के स्वामित्व को भी प्राप्त कर लूं तो भी सुखी नहीं हो सकूंगा क्योंकि मुझे कोई ऐसा उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता है जो मेरी पाँचों कर्मेन्द्रियों तथा छठे मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सुखाने वाले शोक से छुटकारा करा सके। क्योंकि इस लोक के विषय-भोग और स्वर्गादि लोकों के सुख-साधन श्रुतियों के प्रमाणों और युक्तिरूप अनुमान प्रमाण से अनित्य ही सिद्ध होते हैं। इस कारण इन अनित्य भोगों को भोगकर भी मेरे शोक की निवृत्ति नहीं हो सकती। अनित्य होने से इन भोगों के वियोग से भी दुःख और शोक की ही प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में यह एक श्रुति है—

"तद्यथेह कर्म-चितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्य-चितो लोकः क्षीयते।" इति।

अर्थात् जैसे कर्म करके प्राप्त होने से इस लोक के पदार्थ नाश को प्राप्त होते हैं वैसे ही पुण्यकर्मों से प्राप्त होने वाले स्वर्गलोकों के पदार्थ भी नाश को प्राप्त होते हैं। इससे हमें युद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि—

"त्रैलोकस्यापि राज्येन नास्मान्कश्चित्प्रहर्षयेत्।
बान्धवान् निहतान्दृष्ट्वा पृथिव्यां विजयैषिणः॥"

अर्थात् तीनों लोकों के राज्य से भी हमें कोई खुश नहीं कर सकता। तो क्या बान्धवों को मरे हुए देखकर हम पृथ्वी की विजय चाहने वाले हो सकते हैं? ॥८॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

एवम्+उक्त्वा हृषीकेशम्+गुडाकेशः परन्तप ! न योत्स्ये+इति गोविन्दम्+उक्त्वा तूष्णीम्+बभूव ह ॥

एवम्=(अव्यय) √इ+वमु (बा०)=इस प्रकार ।

उक्त्वा=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+क्त्वा=कहकर ।

हृषीकेशम्=(पुं०) द्विती० ब० व०=हृषीकेश को । इन्द्रियों के स्वामी को । सुन्दर काले घने केशों वाले को । सूर्य, अग्नि आदि अपनी विभूतियों की किरणों से सबको हर्षित करने वाले को । भगवान् श्रीकृष्ण को ।

गुडाकेशः=(पुं०) प्र० ए० व०=नींद को जीतने वाला । घने काले केशों वाला । गुड़वत् मधुर स्वामी वाला । शिवजी का भक्त । अर्जुन ।

'हृषीकेश' और 'गुडाकेश' का अर्थ पहले अध्याय में विस्तार सहित किया जा चुका है ॥

परन्तप !=(वि०) परान् शत्रून् तापयति, पर√तप्+णिच्+खच्, ह्रस्व, मुम्=परन्तप ! (सम्बो० ए० व०)=हे परन्तप ! हे शत्रुओं को तपाने वाले राजा धृतराष्ट्र !

[नोट—गीता की कुछ प्रतियों में 'परन्तप' के स्थान पर 'परन्तपः' पाठ भी पाया जाता है जो प्र० ए० व० है और गुडाकेश की तरह अर्जुन का विशेषण है । तब उसका अर्थ "शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ने" करना चाहिए ।]

न=(अव्यय) न । नहीं ।

योत्स्ये=√युध् (दिवा० आत्म० अक०=युद्ध करना)+लृट्०, उ० पु०, ए० व०=(मैं) लड़ूँगा । (मैं) युद्ध करूँगा ।

इति=(अव्यय) ऐसा । कि ।

गोविन्दम्=(पुं०) गोभिर्वेदवाक्यैर्विद्यते लभ्यते इति गोविन्दः='गो' अर्थात् वेद के वाक्यों से जाना जाने वाला "गोविन्द" है । 'गीता १५।१५' में भगवान् गोविन्द स्वयं अपने मुखारविन्द से कहते हैं—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।" अर्थात् सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ ।

(द्विती० ए० व०) गोविन्द को ।

अथवा 'गां' वेदलक्षणां वाणीं विन्दति इति गोविन्दः अर्थात् चारों वेदरूपी वाणी को अच्छी तरह जानने वाला 'गोविन्द' है ॥

तूष्णीम्=(अव्यय)√तूष् (भ्वा० पर० अक०)+नीम् (बा)=चुप । खामोश । मौन ।

बभूव=√भू (भ्वा० पर० अक०=होना)+लिट्० प्र० पु०, ए० व०=हो गया ।

ह=(अव्यय)√हा+उ=अपने से पूर्व शब्द पर जोर देने वाला अव्यय विशेष।

निश्चय ही। दरहकीकत ही। फिर।

[संस्कृत साहित्य विशेषकर वैदिक साहित्य में 'ह' और 'वै' ये दो अव्यय शब्द अनेक स्थानों पर लिखे हुए मिलते हैं। किसी-किसी स्थान पर तो इन दोनों का प्रयोग एक साथ ही हुआ है और कहीं-कहीं इनका प्रयोग पृथक्-पृथक् रूप में हुआ है। अर्थ करने वालों ने इनके अर्थ सचमुच, निश्चय ही इत्यादि कई प्रकार से किए हैं।

असल बात यह है कि प्राचीन काल में वैदिक साहित्य का प्रादुर्भाव और जन्म प्रायः यमुना और सिन्धु नदी के मध्यवर्ती भूभाग में हुआ था जिसमें रहने वाले लोग आज तक इन दोनों शब्दों का प्रयोग अपनी बोलचाल की भाषा में सहज स्वभाव दिन में अनेक बार करते रहते हैं। जैसे १—ह वै तूँ की आखदा हैं (ह वै तू क्या कहता है)। २—ह तू मैंनू कुछ केंहदा आं (ह तू मुझे कुछ कहता है)। ३—वै कल्ह नूँ इकट्ठे चल्लां गे (वै कल को इकट्ठे चलेंगे) इत्यादि वाक्यों में—ह और वै का कुछ भी अर्थ नहीं है। ये दोनों शब्द तो वाक्य के केवल शृंगारमात्र ही होते हैं जो कहने वाले के केवल प्यार को ही सूचित करते हैं। इनके प्रयोग से वाक्य कुछ रसीला सा बन जाता है। वास्तव में इनका कोई अर्थ नहीं है॥

अर्थ—संजय बोला—हे शत्रुओं को तपाने वाले राजा धृतराष्ट्र! गुडाकेश अर्जुन), हृषीकेश (श्रीकृष्ण) को इस प्रकार (श्लोक ४ से श्लोक ८ तक कहे गए वाक्यों को) कहकर—"मैं नहीं लड़ूँगा" फिर ऐसे गोविन्द को कहकर चुप हो गया॥९॥

व्याख्या—संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजा धृतराष्ट्र! यद्यपि तू परन्तप अर्थात् शत्रुओं को तपाने वाला है और तेरे पुत्र दुर्योधनादि भी तो तेरे तुल्य ही परन्तप हो सकते हैं परन्तु उनके शत्रुओं के पक्ष में अर्जुन तो गुडाकेश है और श्रीकृष्ण जी हृषीकेश हैं जिनकी राजनीति के बल से जगद्विख्यात् योद्धा भीष्म पितामह धराशायी हो चुका है और पाण्डवों ने तेरे पुत्रों अर्थात् अपने शत्रु कौरवों के छक्के छुड़ा दिए हैं। अर्जुन ने तो नींद को भी वश में किया हुआ है। तन्द्रा या आलस्य उसके पास फटक नहीं सकती। उसका स्वामी वह भगवान् कृष्ण है जो अपने भक्तों के लिये गुड़वत् मधुर है और सदैव उनकी सहायता करने वाला है। वह साधारण स्वामियों की भाँति कठोरभाषी नहीं है न अपने अनुचरों को डराने-धमकाने वाला है। फिर उस अर्जुन का वह भगवान् शिव भी स्वामी है जो अग्नि से लाल किए हुए लोहे के गोले में

व्याप्त अग्नि की भाँति सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। फिर भला तेरे पुत्र अर्जुन के भाइयों पाण्डवों पर कैसे विजय प्राप्त कर सकते हैं? यहीं पर बस नहीं है। ऐसे शक्तिशाली, सर्व-सहायता-सम्पन्न अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से अपने युद्ध न करने की बात कही थी। जो हृषीकेश हैं अर्थात् समस्त जगत् के प्राणियों की इन्द्रियों का स्वामी और उनका प्रेरक है। सर्वव्यापी है। सर्वान्तर्यामी है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि अपनी विभूतियों की किरणों से सारे ब्रह्माण्ड को हर्षित करने वाला है। ऐसा गोविन्द वेदों का वक्ता और वेदों द्वारा जानने योग्य प्रभु साक्षात् श्रीकृष्ण रूप में प्रकट होकर जिन पाण्डवों का संगी, साथी और सारथी है उनको संसार की कोई शक्ति जीत नहीं सकती। इसलिये अभी कुछ समय शेष है। अपने पुत्रों को कह सुनकर पाण्डवों से उनकी सन्धि करवा दो जिससे शेष बचे हुए योद्धा जीवित रह सकें ॥६॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

तम्+उवाच हृषीकेशः प्रहसन्+इव भारत ! सेनयोः+उभयोः+मध्ये विषीदन्तम्+इदम्+वचः ॥

तम्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको।

उवाच=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना। बोलना)+लिट्०, प्र० पु०, ए० व०=बोला। बोले। कहा।

हृषीकेशः=(पुं०) प्र०, ए० व०=हृषीकेश। इन्द्रियों के स्वामी। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण जी।

प्रहसन्=(वि०) प्र√हस् (भ्वा० पर० अक०=हँसना)+शतृ=प्रहसत+(पुं०) प्र०, ए० व०=प्रहसन्=हँसते हुए। मुस्कराते हुए।

इव=(अव्यय)√इ+क्विन् (वा०)=जैसे। से। की तरह।

भारत!=(पुं०) भरतस्य गोत्रापत्यम्, भरत+अण्+सम्बो० ए० व०=हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र)!

सेनयोः=(स्त्री०)√सि (स्वा०, क्या०, उभ० सक०=बाँधना। जाल में फँसाना)+न+टाप्=सेना+षष्ठी द्वि० व०=(दो) सेनाओं के।

[सेना=(स्त्री०) युद्ध-शिक्षा प्राप्त सशस्त्र व्यक्तियों का दल। फौज।]

उभयोः=(सर्व०) उभ (√उ+भक्)+षष्ठी द्वि० व०=दोनों के।

मध्ये=(वि०)√मन्+यक्, निपा० नस्य धः=मध्य+(पुं०) सप्त० ए० व० =मध्य में।

विषीदन्तम्=(वि०) वि√सद् (भ्वा०, तुदा० पर० सक०=उदास होना। कष्ट में पड़ना। पीड़ित होना)+शतृ=विषीदत्+(पुं०) द्विती० ए० व० =शोक करते हुए को। दुःखी होते हुए को।

इदम्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) द्विती०, ए० व०=यह।

वचः=(नपुं०)√वच् (अदा० पर० अक०=कहना)+असुन्=वचस्+ द्विती० ए० व०=वचः=वचन।

अर्थ—हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! इन्द्रियों के प्रेरक, अन्तर्यामी भगवान् कृष्ण जी दोनों सेनाओं के मध्य में (रथ के उपस्थ में बैठे हुए) दुःखी होते हुए उस (अर्जुन) को मुस्कराते हुए से यह वचन बोले ॥१०॥

व्याख्या—संजय का धृतराष्ट्र को भारत या भरतवंशी कहने से अभिप्राय यह है कि हे राजन् ! कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में दोनों ओर आपके भरतवंश के लोग ही लड़कर मर रहे हैं। दस दिन के युद्ध में भरतवंश के भीष्मादि बहुत से योद्धा मारे जा चुके हैं। हे अक्ल के अन्धे राजन् ! अब भी होश के नाखून लो और भरतवंश को सर्वनाश होने से पहले बचा लो। इस प्रकार चतुर और बुद्धिमान् वृद्ध संजय कदम-कदम पर अपने महाराज को समझाने का प्रयत्न कर रहा है परन्तु "विनाश काले विपरीत बुद्धिः" के अनुसार महाराज धृतराष्ट्र की बुद्धि इस ओर प्रवृत्त ही नहीं होती है और अभी तक अपने पुत्रों की विजय की आशा किए हुए है।

सत्य कहा है—

"प्रायः समापन्नविपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिनी भवन्ति ॥"

अर्थात् विपत्ति का समय आने पर बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धियाँ भी प्रायः मलिन हो जाती हैं। इसलिये विधाता के वाम हो जाने से उस बेचारे अन्धे राजा को अन्धेरे में बहुत दूर की नहीं सूझती थी। वह पिता ही पुत्रों के मोह के वशीभूत हुआ अपनी भूलों से अपने पुत्रों के लिये यम रूप हो गया था।

तब अर्जुन पर व्याप्त अपनी प्रबल माया को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण मुस्करा रहे थे जिसने मोह का रूप धारण करके इस विकट युद्ध काल में अर्जुन को घेर रखा था। उस समय भगवान् कृष्ण अर्जुन की भाँति रोते हुए या उदास मुख से नहीं बोले। अपितु हंसते हुए से बोले।

"सेनयोरुभयोर्मध्ये" कहने से संजय का तात्पर्य यह है कि हे राजन् ! अर्जुन तो युद्ध प्रारम्भ होने के समय दोनों सेनाओं के मध्य स्थित हुआ भी आपके पुत्रों को स्वजन ही कहता था और उनको मारना अधर्म समझता था। एक आप हो जिसके मन में घर में बैठे हुए भी ऐसी सद्बुद्धि उत्पन्न नहीं होती।

यदि आप सच्चे दिल से दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करते तो यह युद्ध कदापि प्रारम्भ न होता ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अशोच्यान्+अन्वशोचः+त्वम्+प्रज्ञावादान्+च भाषसे । गत+असून् +अगत+असून्+च न+अनुशोचन्ति पण्डिताः ॥

अशोच्यान्=(वि० पुं०)√शुच् (भ्वा० पर अक०=शोक करना)+यत्= शोच्य । न शोच्यः अशोच्यः (नञ् तत्पु०) । अशोच्य+द्वितो० ब० व० =अशोच्यान्=शोक न करने योग्यों को। न शोक करने योग्यों के लिए । [भीष्म, द्रोण आदि सदाचारी होने के कारण अशोच्य हैं और वे परमार्थ रूप से नित्य होने के कारण भी अशोच्य हैं। ऐसे न शोक करने योग्य भीष्म, द्रोण आदि के लिए ।] न चिन्ता करने योग्यों के लिए ।

अन्वशोचः=अनु√शुच्+लङ्०, म० पु०, ए० व०=अनु+अशोचः=तू शोक करता है ।
[लङ्लकार में धातु का उपसर्ग हटाकर पहले रूप बनाया जाता है और फिर उसके पूर्व उपसर्ग जोड़ दिया जाता है ।]

त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र० ए० व०=तू ।

प्रज्ञा-वादान्=(पुं०) प्रज्ञावतां=बुद्धिमतां वादान् च=वचनानि च=प्रज्ञावानों के अर्थात् बुद्धिमानों के वचनों को ।
[प्रज्ञा=(स्त्री०) प्र√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+अ+टाप्= बुद्धि । प्रतिभा । पण्डा । सत्-असत् का विवेक करने वाली बुद्धि । यहाँ 'प्रज्ञा' से अभिप्राय 'प्रज्ञावत्' या 'बुद्धिमत्' है ।
वादान्=(पुं०)√वद् (भ्वा० पर० सक०=बोलना)+घञ्=वाद+ द्वितो० ब० व०=वचनों को ।

भाषसे=√भाष् (भ्वा० आत्म० सक०=बोलना)+लट्०, म० पु०, ए० व० =(तू) बोलता है । कहता है ।

गत+असून्=(वि०, पुं०) निर्गतानि असूनि यस्मात् सः गतासुः (बहुव्री०)= गत-प्राणान् । मृतान् । मरे हुओं को । गए हुए प्राण वालों को ।
[गत्=√गम्+क्त=गए हुए ।

असून्=√अस्+उन्=असु (नपुं०)—बहुव्रीहि समास होने से (पुं०) +द्वितीो० ब० व०=प्राणों वालों को।] गतानि असूनि येषां तान्=चले गए हैं प्राण जिन्हों के, उनको।

अगत-असून्=(पुं०) न गतानि असूनि येषां तान्=नहीं गए हैं प्राण जिनके, उनको। जीवितों को। अगत-प्राणान्। जीवितों के लिए।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अनुशोचन्ति=अनु√शुच्+लट्१, प्र० पु०, ब० व०=शोक करते हैं।

पण्डिताः=(वि०) पण्डा+इतच्=पण्डित+प्र० ब० व०=पण्डित लोग। बुद्धिमान् लोग। आत्मज्ञानी लोग।
[पण्डा=आत्मविषया बुद्धिः येषां ते—(बहुव्री०)]।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

(हे अर्जुन !) न शोक करने योग्य [भीष्म द्रोणादि सदाचारी और परमार्थ रूप से नित्य प्राणियों] का तू शोक करता है और प्रज्ञावानों के (से) वचनों को कहता है परन्तु पण्डित (आत्मज्ञानी) लोग तो मृतकों और जीवितों (में से किसी) का भी शोक नहीं करते हैं ॥११॥

व्याख्या—इसी श्लोक से गीता का उपदेश प्रारम्भ होता है। इसमें भगवान् व्यंगपूर्वक कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू तो मूर्ख है—शिष्य पर नवीन रंग चढ़ाने के लिए, व्यंग से मूर्ख कहकर, उस पर चढ़ा हुआ पुराना रंग खुरचते हैं।

भीष्म द्रोणादि तो सदाचारी और परमार्थ रूप से नित्य हैं। सब लोग केवल शरीर ही बदलते हैं, आत्मा तो अमर है जो किसी समय भी मरती नहीं है।

क्या ये सारे सम्बन्धी और अन्य सब लोग तेरे द्वारा उत्पन्न किए हुए हैं ? क्या ये सब मुझ भगवान् के बिना मारे जा सकते हैं ? क्या ये सारे सदा इसी आकृति में जीवित रहेंगे ? क्या यह तेरा और मेरा शरीर सदा इसी प्रकार बना रहेगा ? क्या कभी किसी शरीर में स्थित आत्मा मर सकती है ?

यदि इन सब प्रश्नों का उत्तर केवल एक "नहीं" है तो फिर तुम्हारा शोक करना व्यर्थ है। आत्म-तत्त्व को तो तू समझता नहीं परन्तु वचन आत्मज्ञानियों और बुद्धिमानों जैसे कहता है। चिरकाल से व्यर्थ कान खा रहा है।

भगवान् 'गोविन्द' तो पहले ही हैं अब अर्जुन के प्रार्थना करने पर उससे भी बड़े 'गुरु' बन गए हैं और सच्चे गुरु की तरह पहली ही घुड़की से अर्जुन को अपना गुरु हो जाना जता दिया है। कबीर ने ठीक ही कहा है—

"गुरु गोविन्द दोनों खड़े, किसकै लागूं पाय ।
बलिहारी गुरु आपने, सतगुर दिया मिलाय ॥"

भगवान् भी गुरु बनकर अर्जुन को गोविन्द से मिलाना चाहते हैं । इसी से कहते हैं—हे शिष्य ! पण्डित लोग या आत्मज्ञानी पुरुष अथवा गोविन्द से मिले हुए लोग तो संसार में किसी का भी शोक नहीं करते । जो मर चुके हैं उनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है । जो जीवित हैं उनके मरने की उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं होती । दूसरों की तो बात ही क्या है । वे तो स्वयं अपनी देह से भी अपनी आत्मा अलग अनुभव करते हैं । लाभ-अलाभ, जय-अजय और सुख-दुःख उनके लिए एक समान होते हैं । आठों पहर सर्वव्यापक में लीन रहकर परमानन्द का अनुभव करते रहते हैं ।

भगवान् ने जो मुस्कराते हुए अपने उपदेश का आरम्भ किया है, उसके कई कारण हैं—

१—अपने प्रसन्नमुख से अर्जुन की उदासी को दूर करना । [प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये ।]

२—शिष्य पर अच्छा प्रभाव डालने के लिए ताकि गुरु के उपदेश को वह शान्तिपूर्वक सुन और समझ सके ।

३—अर्जुन के पाण्डित्यपूर्ण तर्कों का मज़ाक उड़ाने के लिए ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

न तु+एव+अहम्+जातु न+आसम्+न त्वम्+न+इमे जनाधिपाः । न च+एव न भविष्यामः सर्वे वयम्+अतः परम् ॥

न=(अव्यय) न । नहीं ।
तु=(अव्यय) तो । और ।
एव=(अव्यय) ही । ऐसा ही ।
(है)
अहम्=(सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं ।
जातु=(अव्यय)√जन्+क्तुन्, पृषो० साधु=कभी । किसी काल में ।
न=न । नहीं ।
आसम्=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लङ्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) था ।

(अथवा)

न=न । नहीं ।

त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र०, ए० व०=तू (था) ।

न=न । नहीं ।

इमे=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ब० व०=ये ।

जन+अधिपाः=जनानाम् अधिपाः (षष्ठी तत्पु०) √जन् (दि० आत्म० अक० =उत्पन्न होना)+अच्=(मनुष्य) जन ।
अधि √पा (अदा० पर० सक०=बचाना)+क=अधिप+(पुं०) प्र०, ब० व०=स्वामी लोग । लोगों के स्वामी । राजा लोग (थे) ।

न=न । नहीं ।

च=(अव्यय) और ।

एव=(अव्यय) ही । ऐसा ही । ऐसा ही है ।

न=न । नहीं ।

भविष्यामः=√भू (भ्वा० पर० अक०=होना)+लृट्०, उ० पु०, ए० व०= होंगे । हम होंगे ।

सर्वे=(सर्व०) सर्व+(पुं०) प्र०, ब० व०=सारे । सब ।

वयम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र०, ब० व०=हम लोग।

अतः=(सर्व० अव्यय) इदम्+तसिल्=अतस्=अतः=इससे ।

परम्=(अव्यय)√पृ (तुदा० आत्म० अक०)+अम्=पश्चात्। बाद ।

अर्थ—न तो ऐसा ही (ठीक) है कि मैं किसी काल में नहीं था, या तू नहीं था, तथा ये राजा लोग नहीं थे। और न ऐसा ही (ठीक) है कि इससे पश्चात् हम सब नहीं होंगे ॥१२॥

व्याख्या—भगवान् कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन ! भूतपूर्व शरीरों की उत्पत्ति और विनाश होने पर भी मैं सदा ही था । तू भी सदा ही था और ये राजा लोग भी सदा ही थे । इस समय मैं कृष्ण हूँ, तू अर्जुन है और ये सब राजा लोग भी किसी न किसी नाम से प्रसिद्ध हैं और भीष्मादि अनेक योद्धा लोग भी जो यहाँ विद्यमान हैं, ये सब दृश्यमान लोग इस जन्म से पहले भी शरीर तथा नामधारी रह चुके हैं। प्रत्येक जीव इतने अधिक जन्म धारण कर चुका है कि जिनकी गणना करना ही असंभव है । इन वर्तमान शरीरों के त्याग के पश्चात् भी नवीन शरीर धारण करेंगे और पुनः पुनः ऐसा ही करेंगे । तू उन शरीरों के नाश की चिन्ता कर रहा है जो अनित्य और नाशवान् हैं ।

परन्तु उनमें रहने वाली आत्मा सदा अमर अजर और नित्य है जो अनादि काल से शरीरों को सदा बदलता आ रहा है। परन्तु जब यह आत्मज्ञान को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है तो फिर परमात्मा में मिलकर एकरूप हो जाता है और शरीर-परिवर्तन अर्थात् जन्म-मरण का धन्धा भी छूट जाता है। जैसे सागर में प्रविष्ट होकर गंगा-जल अपना नाम और पृथक् रूप त्यागकर सागर-जल ही हो जाता है अथवा जब कभी वायु का कोई अंश बुदबुदा बनकर अपना अलग रूप दर्शाता है परन्तु उसके बाहर भीतर सब जगह एक ही अखण्ड वायु वर्तमान होती है। इसी प्रकार सब प्राणियों के भीतर बाहर एक ही आत्मा विद्यमान है परन्तु जल के बुदबुदों की भाँति शरीर पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं। देहधारी होने पर यह देही आत्मा कहलाता है परन्तु देह से सम्बन्ध न होने पर परमात्मा माना जाता है। आत्मज्ञान के न होने तक कर्मों के अनुसार शरीर बदलता रहता है। इसी अदला-बदली का नाम जन्म-मरण है। जब शरीर धारण करने से मुक्त हो जाता है तो यही परमात्मा बन जाता है। श्री ज्ञान देव जी कहते हैं कि उत्पत्ति और नाश जो दिखाई देते हैं वे केवल माया के कारण ही दृष्टिगोचर होते हैं। वायु से जब सरोवर का जल हिलता है तो वह तरंगाकार हो जाता है। तब कहाँ और किसकी उत्पत्ति होती है। जब वायु का स्फुरण बन्द हो जाता है तो तरंगें जल में लीन हो जाती हैं। इसी प्रकार सर्वव्यापक की स्फुरण इच्छा से जीवों का प्रादुर्भाव होता है और फिर ये सब जीव जन्मते और मरते हुए भासमान होने लगते हैं। परन्तु वास्तव में सब प्राणियों के शरीरों में देहधारी आत्मा केवल एक परमेश्वर ही है। इसलिये इन सब शरीरों के छिन्न-भिन्न होने के सम्बन्ध में तेरा कुछ भी शोक या चिन्ता करना ठीक नहीं है ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहिनः+अस्मिन्+यथा देहे कौमारम्+यौवनम्+जरा। तथा देह+अन्तर-प्राप्तिः+धीरः+तत्र न मुह्यति ॥

देहिनः=(वि०) देहः अस्य अस्ति इति देही=जिसका देह है वह देही है। देह+इनि=देहिन् (देहधारी)+(पुं०) षष्ठी ए० व०=देहिनः=देहधारी का। जीवात्मा की।

अस्मिन्=(सर्व०) इदम्+(नपुं० पुं०) सप्त० ए० व०=इसमें। वर्तमान में।
यथा=(अव्यय) यद्+थाल्। येन प्रकारेण=जैसे।

देहे=(नपुं०, पुं०) दोग्धि प्रतिदिनं,√दिह् (अदा० उभ० सक०=लेप करना, फैलाना, भ्रष्ट करना, अपवित्र करना)+घञ्=जो जीवात्मा पर लेप करता है—देह+सप्त० ए० व०=देह में। शरीर में।

कौमारम्=(वि०) कुमार-भावः=बाल्यावस्था। लड़कपन। बचपन। √कुमार् (चुरा० पर० अक०=खेलना)+अच्=कुमार+अण् कौमार+(नपुं०) प्र० ए० व०=खेलने की आयु।

यौवनम्=(नपुं०) यूनो भावः। मध्यमावस्था। तरुणावस्था। युवन्+अण् =यौवन+प्र० ए० व०=यौवनम्। जवानी।

[√यु (अदा० पर० सक०=मिलाना। जोड़ना। क्र्या० उभ० सक० =बाँधना)+कनिन्=युवन्।]

जरा=(स्त्री०) वयोहानिः। जीर्णावस्था। वृद्धावस्था।√जॄ (दिवा० पर० अक०=बूढ़ा होना। पुराना पड़ जाना)+अङ्-टाप्=जरा+प्र० ए० व०=बुढ़ापा।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण। तद्वत्। तद्+थाल्=तथा। वैसे ही।

देह+अन्तर-प्राप्तिः=(स्त्री०) देहाद् अन्यो देहान्तरं तस्य प्राप्तिः=इस शरीर से दूसरे शरीर का नाम "देहान्तर" है, उसकी निर्विकार आत्मा को प्राप्ति। अन्य शरीर प्राप्ति।

[प्र√आप्+क्तिन्=प्राप्ति (स्त्री०)+प्र० ए० व०=उपलब्धि]।

धीरः=(वि०)√ध्यै+क्विप्-सम्प्रसारण=धी (बुद्धि)+√रा (अदा० पर० सक०=देना)+क=धीर+(पुं०) प्र० ए० व०=धीरः=धीमान्। बुद्धिमान्। जिसका चित्त विकारजनक कारणों के रहते हुए भी विचलित नहीं होता।

तत्र=(अव्यय) तत्+त्रल्=तत्र। एवं सति। ऐसा होने पर। वहाँ। इस विषय में। अर्थात् आत्मा को निर्विकार और नित्य समझ लेने पर।

न=(अव्यय) न। नहीं।

मुह्यति=√मुह् (दिवा० पर० अक०)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=मोहम् आपद्यते। मोह को प्राप्त होता है। मोहित होता है। मूर्ख बनता है। धोखा खाता है। घबराता है। व्याकुल होता है। परेशान होता है। मूर्छित होता है।

अर्थ—जैसे देही (जीवात्मा) की इस (वर्तमान) देह में बाल्यावस्था, तरुणावस्था और वृद्धावस्था होती है; वैसे ही (यह शरीर त्यागने के अनन्तर) अन्य शरीर की प्राप्ति होती है। धीर या बुद्धिमान पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होता (अर्थात् मूर्ख नहीं बनता)॥१३॥

व्याख्या—यहाँ देहिन् और देह ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'देहिन्' देहधारी जीवात्मा का नाम है जो आदि काल से ही देहों या शरीरों को बदलता चला आ रहा है और उस समय तक बदलता रहेगा, जब तक पूर्णात्मज्ञान को पाकर इस देह-परिवर्तन के कार्य से निवृत्त नहीं हो जाता, तथा अपने मूल स्वरूप सर्वव्यापक परब्रह्म में मिल नहीं जाता। देह शरीर का नाम है। जब जीवात्मा किसी एक देह का परित्याग करता है, तो जल, वायु अथवा भोजन के साथ मिलकर किसी अन्य शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। नर-शरीर में सूक्ष्मतम शुक्राणु का रूप धारण कर लेता है और स्त्री-शरीर में गया हुआ बीजाण्ड बन जाता है। जब कोई शुक्राणु वीर्य के द्वारा पिता के शरीर से निकलकर माता के गर्भाशय में प्रवेश करता है तो वह वहाँ पर किसी एक बीजाण्ड में समा जाता है। उस समय यह एक सूक्ष्मतम कोशिका या सैल (CELL) के रूप में होता है। उसके बाद यह जीवात्मा कोशिका विभाजन के नियम से स्वयं अपने अवयवों की रचना करती है और नियत समय में माता पिता सदृश एक छोटी सी देह को पूरा बना लेती है। यह देह-रचना कार्य उसके अनजाने में ही पूरा हो जाता है क्योंकि इसमें न उसकी कोई इच्छा होती है और न ही उसको इस कार्य के किए जाने का कोई ज्ञान ही होता है। उसके पूर्व जन्मों के शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप प्रकृति ही यह कार्य उससे स्वयं करवाती है। यद्यपि प्रकृति जड़वत है तथापि ईश्वर की सत्ता और स्फुरण से प्रकृति में यह शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

यह देहरचना-कार्य पूर्ण हो जाने पर फिर जीव गर्भाशय से बाहर निकलता है, तब इसका नाम शिशु होता है। फिर यह देह और बढ़ती है तब इसका नाम बाल्यावस्था या कौमार-भाव होता है। फिर इस अवस्था का नाश होकर युवावस्था प्रारम्भ हो जाती है परन्तु पहली अवस्था के नाश हो जाने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता और दूसरी अवस्था की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती। यह युवावस्था भी मर जाती है और अन्त में शरीर को जरावस्था या बुढ़ापा घेर लेता है परन्तु आत्मा फिर भी न बूढ़ी होती है और न ही मरती है। तो फिर क्या होता है ? कि निर्विकार आत्मा को ही दूसरी और तीसरी अवस्था प्राप्त होती हुई भासमान होती है।

तदनन्तर जीवात्मा उस देह को भी त्याग देता है। इससे देह की मृत्यु होती है न कि निर्विकार और नित्य जीवात्मा की। पूर्ववत् वह जीवात्मा पुनः देहान्तर को प्राप्त होता है जिससे फिर बचपन, जवानी और बुढ़ापा ये तीन अवस्थाएं क्रमशः उस नवीन देह की होती हैं, देही या जीवात्मा की नहीं क्योंकि वह तो अजर अमर निर्विकार और नित्य है जो आत्म-

स्वरूप को न जानकर ही बार-बार नवीन शरीरों को धारण करता है। चारों प्रकार के प्राणियों में देहों की उत्पत्ति और विनाश इसी क्रम से होते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई जीवात्मा जन्मते ही देह को त्याग देता है। कोई युवावस्था में देह से पृथक् हो जाता है और कोई पूरी आयु भोगकर बुढ़ापे में देह को त्यागता है। मनुष्य केवल देह का नाम ही नहीं है अपितु देह और जीवात्मा के समुच्चय को मनुष्य कहते हैं। जीवात्मा तो भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में अमर और नित्य है परन्तु सारे देह अनित्य और नाशवान हैं।

"महाभारत १०।१।३८॥" में लिखा है—

"अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।"

अर्थात् प्राणधारी शरीरों की आज ही चाहे सौ साल के बाद ही निश्चयपूर्वक मृत्यु होती है।

श्रुति में कहा है—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।"

अर्थात् एक ही प्रभु सारे प्राणियों में गूढ़ है जो सर्वव्यापक है और सब प्राणियों की अन्तरात्मा है।

इसलिए हे अर्जुन! देहधारी (जीवात्मा) का जैसे इस शरीर में बचपन, जवानी और बुढ़ापा बारी-बारी से होता है इसी प्रकार देहत्याग के बाद फिर किसी न किसी देह की प्राप्ति भी होती है। इस ज्ञान को अज्ञानी लोग नहीं जानते परन्तु जो बुद्धिमान् या आत्मवेत्ता पुरुष हैं वे इस तत्त्व को भली-भाँति जानते हैं और वे तेरी तरह मोह को प्राप्त नहीं होते क्योंकि वे न किसी को मरने वाला मानते हैं और न जीवात्मा को मारने वाला ही समझते हैं। स्वधर्मानुसार अपने कर्तव्य को पालन करने में प्रयत्नशील बने रहते हैं। तेरी तरह शोकातुर हुए आयुध फेंककर बैठ नहीं जाते और हिजड़ों की भाँति करुणा से युक्त नहीं होते। ज्ञानी पुरुष तो इस बात को भली-भाँति जानता है कि जैसे बचपन, जवानी और बुढ़ापा रूप स्थूल शरीर का विकार अज्ञान से आत्मा में भासमान होता है वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होना रूप सूक्ष्म शरीर का विकार भी, अज्ञान से ही आत्मा में भासता है। धीर पुरुष इस तत्त्व को जानकर इस विषय में कभी मोहित नहीं होता ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मात्रा-स्पर्शाः+तु कौन्तेय ! शीत+उष्ण-सुख-दुःख-दाः । आगम+अपायिनः+अनित्याः+तान्+तितिक्षस्व भारत !

मात्रा-स्पर्शाः=(पुं०) प्र० ब० व०=इन्द्रियों और विषयों के संयोग । मात्राओं के सम्बन्ध ।

[१—मात्रा=(स्त्री०) आभिः मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि=शब्दादिविषयों को जिनसे मापा या जाना जाता है। ऐसी श्रोत्रादि इन्द्रियां मात्रा कहलाती हैं ।

मात्राणां स्पर्शाः (षष्ठी तत्पु०)=इन्द्रियों के स्पर्श या संयोग या सम्बन्ध ।

२—अथवा मात्रा च स्पर्शाः च=जिनका स्पर्श किया जाता है अर्थात् शब्दादि विषय । (मात्रा) श्रोत्रादि इन्द्रियाँ और (स्पर्श) शब्दादि विषय।

३—√मा (मापना)+त्रन्+टाप्=मात्रा=विषयों का ज्ञान कराने वाली (नेत्रादि इन्द्रियाँ) ।

४—मात्रा=इन्द्रियों से मापे जाने वाले "रूप" आदि ग्राह्य पदार्थ भी मात्रा कहलाते हैं ।

स्पर्शाः=(पुं०)√स्पृश्+अच् अथवा√स्पर्श+घञ्+प्र० ब० व०= लगाव, सम्बन्ध, संयोग, मेल ।]

तु=(अव्यय) और । तो ।

कौन्तेय !=(पुं० सम्बो०) कुन्ती+ढक् (एय)=हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन) !

शीत+उष्ण-सुख-दुःख-दाः=(वि०) शीतोष्णं च सुखदुःखं च ददति ये ते= शीत (सर्दी), उष्ण (गर्मी), सुख और दुःख को देने वाले । (पुं०) प्र० ब० व० ॥

[शीत कभी सुख रूप होता है जैसे गर्मी के दिनों में बर्फ और ठण्डी हवा। और कभी दुःख रूप होता है जैसे जाड़े में कड़ाके की सर्दी ।

इसी प्रकार उष्ण भी कभी सुख देने वाला होता है । कभी दुःख देने वाला ।

परन्तु दुःख सदा दुःख ही देता है और सुख सदा सुख ही देता है। इस तरह इन दोनों में व्यभिचार या फेरफार कभी नहीं होता । इसलिए सुख-दुःख से अलग शीत और उष्ण का ग्रहण किया गया है ।]

[शीत=(नपुं०)√श्यै+क्त=सर्दी । ठण्डक ।

उष्ण=(पुं०)√उष्+नक्=गर्मी ।

सुख=(नपुं०)√सुख्+अच्=मन की वह उत्तम तथा प्रिय अनुभूति जिसके द्वारा अनुभवकर्ता का विशेष समाधान और सन्तोष होता है

और जिसके निरन्तर बने रहने की उसे सदा अभिलाषा बनी रहती है। आनन्द। हर्ष।

दुःख=(नपुं०)√दुःख्+अच् वा घञ्=कष्ट। क्लेश।]

आगम+अपायिन:=(वि०) आगमिन: अपायिन: च (इतरेतर द्वन्द्व०) आने और जाने वाले। (पुं०) प्र० ब० व०

[आगम=(पुं०) आ√गम्+घञ्=आगम=आना। आने।

अपायिन:=(वि०) अप् √इण् (जाना)+अच्=अपाय+इनि=अपायिन्+(पुं०) प्र० ब० व०=जाने वाले।]

अनित्या:=(वि०) न नित्या: (नञ् तत्पु०)। नियमेन भव:=नित्य:, नि+त्यप्=नित्य। प्र० ब० व०, अनित्या:=नाशवान्। अनित्य। सदा न रहने वाले।

तान्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=उनको।

तितिक्षस्व=√तिज् (भ्वा० आत्म० सक०=सहन करना)+स्वार्थे सन् प्रत्यय=तितिक्ष्+लोट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) सहन कर।

भारत !=(पुं०, सम्बो०) हे भरतवंशी अर्जुन !

अर्थ—हे (महान् प्रभावशालिनी बूआ) कुन्ती के पुत्र (अर्जुन) ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रियों और विषयों के संयोग तो आने-जाने वाले (क्षणभङ्गुर) तथा अनित्य हैं। इसलिये हे (महान् भरतवंश में उत्पन्न हुए) अर्जुन ! (तू) उनको सहन कर ॥१४॥

व्याख्या—भगवान् बोले—हे अर्जुन ! तू तो उस कुन्ती का पुत्र है, जो अत्यन्त प्रभावशालिनी है और जिसने तुझको देवराज इन्द्र से प्राप्त किया है। इससे तू मेरे उपदेश को शीघ्र समझ जाएगा और उस पर आचरण भी करेगा।

देखो हाथ, पाँव, वाणी, गुदा और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। कुछ दर्शन मन को भी कर्मेन्द्रिय मानते हैं। इन दसों इन्द्रियों और ग्यारहवें मन के साथ किसी न किसी रूप में जो भी स्पर्श (सम्बन्ध या संसर्ग) होते हैं वे ही गर्मी-सर्दी और सुख-दुःख आदि की अनुभूति कराते हैं। ये गर्मी, सर्दी, सुख-दुःख आदि अन्तःकरण के विषय हैं।

जिन योगयुक्त जनों ने अपनी अन्तरात्मा को मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों से अलग कर लिया है, तथा जीवितावस्था में विदेह हो चुके हैं उन पर इस गर्मी, सर्दी, सुख, दुःख आदि का कुछ भी प्रभाव नहीं

होता। ये सब गर्मी सर्दी आदि क्षणभङ्गुर और नाशवान हैं। कभी आ जाते हैं कभी चले जाते हैं। तू तो उस महान् भरतवंश में उत्पन्न हुआ है जिसमें अनेक प्रतापी और धीर-वीर पुरुष जन्म ले चुके हैं। इसलिए तू भी उनके अनुरूप ही धीर-वीर और बुद्धिमान् है। अतः तू इन सर्दी, गर्मी और सुख-दुःख देने वाली मात्राओं और उनके स्पर्शों को सहन कर।

भगवान् अर्जुन को इस श्लोक में मातृ-कुल और पितृ-कुल दोनों वंशों की याद दिलाने वाले शुभ नामों से सम्बोधन करके उसके अन्तःकरण में उत्साह का संचार करते हैं।

अन्तःकरण या मन के साथ सुख-दुःखादि का सम्बन्ध इस श्रुति से भी प्रकट होता है :—

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा-
धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवेति ॥"

अर्थात् इच्छा, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि (ज्ञान की वृत्ति) तथा भय ये सब मन रूप ही हैं।

यह श्रुति कामादि विकारों का मन के साथ अभेद बतलाती है। मात्रा-स्पर्श सुख-दुःखादि के देने वाले हैं। और उन सुख-दुःख आदि की उत्पत्ति अन्तःकरण में होती है और इनके कारण भूत मात्रास्पर्श अनित्य, नाशवान् और आने-जाने वाले हैं जो अन्तःकरण पर ही अपना प्रभाव डाल सकते हैं आत्मा पर नहीं। आत्मा तो परमात्मा का ही अंश है। जो नित्य अविनाशी और निर्विकार है। उस पर तो ये मात्रास्पर्श कोई प्रभाव डाल ही नहीं सकते।

गीतारहस्य में महाराज तिलक कहते हैं—

"जिस पुरुष को ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान नहीं हुआ और इसलिए जिसे नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या नहीं जान पड़ा है उसके द्वारा बाह्य पदार्थों और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले शीत-उष्ण आदि या सुख-दुःख आदि विकारों को सत्य मानकर, आत्मा में उनका अध्यारोप किया जाता है और इस कारण से उसको दुःख पीड़ा होती है। परन्तु जिसने यह जान लिया है कि ये सभी विकार प्रकृति के हैं, आत्मा अकर्ता और अलिप्त है; उसे सुख और दुःख एक से हैं। अतः अर्जुन से भगवान् यह कहते हैं कि इस सम-बुद्धि से तू उनको सहन कर ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

यम्+हि न व्यथयन्ति+एते पुरुषम्+पुरुष+ऋषभ ! । सम-दुःख-सुखम्+धीरम्+सः+अमृतत्वाय कल्पते ॥

यम्=(सर्व०) यद्+(पुं०) द्विती० ए० व०=जिसको ।

हि=(अव्यय) क्योंकि ।

न=न । नहीं ।

व्यथयन्ति=√व्यथ् (भ्वा० आत्म० अक०=दुःख होना)+णिच्+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=दुःख देते हैं ।

एते=(सर्व०) एतद्+(पुं०) प्र० ब० व०=ये ।

पुरुषम्=(पुं०) पुरति=अग्रे गच्छति, √पुर् (तुदा० पर० अक०=आगे जाना) +कुषण्=पुरुष+द्विती० ए० व०=पुरुष को ।

पुरुष+ऋषभ !=(पुं०) सम्बो० ए० व० । पुरुषाणाम् ऋषभः (षष्ठी तत्पु०) । हे पुरुषों में श्रेष्ठ (अर्जुन) !

[√ऋष् (तुदा० पर० सक० अक०)+अभच्—कित्=ऋषभ (पुं०)= सांड । श्रेष्ठ (वि०) ।

सम्-दुःख-सुखम्=(वि०) समे दुःखसुखे यस्य तं समदुःखसुखम् (दुःखसुखप्राप्तौ हर्षविषाद-रहितम्)=सुख-दुःख को समान समझने वाले । सुख-दुःख की प्राप्ति में हर्ष-विषाद से रहित ।

धीरम्=(वि०) धी+रा+क=धीर+(पुं०) द्विती० ए० व०=धीर को । बुद्धिमान् को । परमात्मा को प्राप्त हुए को ।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह ।

अमृतत्वाय=अमृत+त्व (भावे)=अमृतत्व+चतु० ए० व०=अमृतत्वाय । अमृतभावाय । मोक्षाय । मोक्ष के लिए ।

कल्पते=कल्प (नामधातु)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=समर्थ होता है । योग्य होता है ।

अर्थ—क्योंकि हे पुरुषों में श्रेष्ठ (अर्जुन) ! दुःख, सुख को सम समझने वाले जिस धीर (बुद्धिमान्) पुरुष को ये (मात्रास्पर्श या इन्द्रियों के विषय) दुःख नहीं देते हैं वह अमृतत्व (मोक्ष या ब्रह्म) में स्थिति के लिये समर्थ या योग्य होता है ॥१५॥

व्याख्या—श्री कृष्ण भगवान् अर्जुन से कहते हैं हे अर्जुन ! तू तो पुरुषों में श्रेष्ठ है अर्थात् तेरे पास बुद्धिरूप धन की विपुलता है । मैं नारायण हूँ, तू मेरा संगी नर है । इसी से तू शूरवीर और धीर है । बुद्धिमान् है । अतः तुझको दुःख-सुख में समान रहना चाहिए । तुम्हें तो इन्द्रियों के संयोग या सम्बन्ध अथवा विषयों के स्पर्श दुःखी नहीं कर सकते तो फिर किस कारण से तुम

इस समय विषाद को प्राप्त हो रहे हो। इस विषाद का त्याग कर अपने असली रूप को पहचानो। परमात्मा की प्राप्ति के पात्र तथा बुद्धिमान् बनो और मात्रास्पर्श से अतीत और अक्षुभितवृत्ति हो जाओ। अपने ध्येय और लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर मोक्ष के भागी बनो।

जिस पुरुष के लिए दुःख और सुख एकसमान हैं अर्थात् जो पुरुष दुःख और सुख दोनों में से किसी से भी प्रभावित नहीं होता। भाव यह कि जो न दुःख से क्षुभित और चलायमान होता है तथा न सुख से किसी प्रकार के विकार को प्राप्त होता है वह पुरुषों में अति श्रेष्ठ पुरुष है। वह कभी इन्द्रियों और उनके विषयों का दास नहीं बनता, अपितु सब इन्द्रियाँ और उनके विषय-भोग उसके अनुचर बन जाते हैं। ऐसा महापुरुष अपनी जीवात्मा को परमात्मा में विलीन करने का भागी बन जाता है तथा जन्म-मरणादि क्लेशों से मुक्त हो जाता है अर्थात् प्रभु के परम धाम को प्राप्त हो जाता है जहाँ पहुँचकर फिर कभी वापस लौटा नहीं जाता। भगवान् ने अपने उस धाम का परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है—

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।" (गी० १५।६॥)

॥१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

न+असतः+विद्यते भावः+न+अभावः+विद्यते सतः। उभयोः+अपि दृष्टः+अन्तः+तु+अनयोः+तत्त्व-दर्शिभिः ॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

असतः=(वि०) [नञ्०]√अस्+शतृ=सत्+षष्ठी ए० व०=सतः। न सतः=असतः=असत् का। जिसका अस्तित्व न हो, उसका। अविद्यमान का। मिथ्या का। (कारण का नहीं) कार्य का। जो प्रतीत होने के पहले न हो, और प्रतीत होने से बाद भी न रहे, वह असत् है। इसलिये एक परमेश्वर के बिना सब कुछ असत् है, उस सब कुछ का। शरीरों, उनकी इन्द्रियों, उनके विषयों, सुख-दुःखों, शीतोष्णों आदि का। सूर्य, चन्द्र, तारागण, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश, इन्द्र, ब्रह्मा आदि दृश्यमान और अदृश्यमान ब्रह्माण्ड समेत उसके भीतर के सब पदार्थों का।

विद्यते=√विद् (दिवा० आत्म० अक०=होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =होता है। है।

भावः=(पुं०)√भू+घञ्=भाव+प्र० ए० व०=भावः [भावयति, चिन्तयति, ज्ञापयति√भू+णिच्+अच्]=अस्तित्व। विद्यमानता। होना।

न=न। नहीं।

अभावः=(पुं०) न भावः=अभावः (नञ्० तत्पु०)=अविद्यमानता। न होना।

विद्यते=होता है। है।

सतः=(पुं० वि०)√अस्+शतृ=सत्+षष्ठी ए० व०=सत् का। सबके द्रष्टा का। परब्रह्म परमेश्वर का। आत्मतत्त्व का। सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक नित्य आत्मतत्त्व का।

उभयोः=(सर्व०) (वि०)√उभ्+अयट्=उभय+(पुं०) षष्ठी द्वि० व०=दोनों का।

अपि=(अव्यय) भी। ही।

दृष्टः=(वि०)√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+क्त=दृष्ट+(पुं०) प्र०, ए० व०=देखा गया है।

अन्तः=(अव्यय) तत्त्व। निर्णय।

तु=(अव्यय) तो। परन्तु।

अनयोः=(सर्व०) इदम्+(पुं०) षष्ठी द्वि० व०=इन (दोनों) का।

तत्त्व-दर्शिभिः=(वि०, पुं०) तद् इति सर्वनाम, सर्वं च ब्रह्म, तस्य नाम तद्, इति तद्भावः तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यं तद् द्रष्टुं शीलं येषां ते तत्त्वदर्शिनः तैः तत्त्वदर्शिभिः [श्री स्वामी शंकराचार्य जी] अर्थात् 'तत्' यह सर्वनाम है और 'सर्व' ब्रह्म ही है। अतः उसका नाम 'तत्' है। उसके भाव को अर्थात् ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को 'तत्त्व' कहते हैं। उस 'तत्त्व' को देखना जिनका स्वभाव है, वे "तत्त्व-दर्शी" हैं। उनके द्वारा। तत्त्वदर्शियों के द्वारा। तत्त्व (ब्रह्म) को देखने वालों द्वारा।

तत्त्व=(नपुं०)√तन्+क्विप्, तुक् पृषो० साधुः, तस्य भावः, तत्+त्व=तत्त्व=वास्तविकता। असलीयत। यथार्थ। सच्चाई। ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप।

दर्शिभिः=(वि०)√दृश्+णिनि=दर्शिन्+(पुं०) तृती० ब० व०=दर्शिभिः=देखने वालों द्वारा।

अर्थ—असत् (जो वस्तु नहीं है उस) का भाव (अस्तित्व) नहीं है। परन्तु सत् (सबके द्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी तथा नित्य आत्मतत्त्व) का अभाव (अविद्यमानता) नहीं है। इन दोनों (सत् और असत्) का अन्त (असलीयत,

भेद, सिद्धान्त, निर्णय) तत्त्व (ब्रह्म) को देखने वालों (या प्रत्यक्ष किए हुओं) द्वारा देखा गया है ॥१६॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! भीष्मादि जो सम्बन्धी तथा अन्य पुरुष किंवा दूसरे जीव-जन्तु या पदार्थ इस समय दिखाई दे रहे हैं; वे अपने वर्तमान अस्तित्व से पहले कहां थे ? अर्थात् कहीं भी नहीं थे। अपने पिण्डों (शरीरों) के नाश होने के बाद कहाँ होंगे ? कहीं भी नहीं होंगे। अर्थात् उनके ये वर्तमान शरीर कहीं भी दिखाई नहीं देंगे ॥

अतः ये सब शरीरादि, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख असत् हैं क्योंकि ये सब आगमापायिन् अर्थात् आने-जाने वाले हैं। इनकी प्रतीति कुछ समय के लिए ही होती है। वास्तव में तो ये कुछ भी नहीं हैं। असत् वस्तु की सत्ता नहीं है तथा उसकी स्थिरता नहीं है। वह अनित्य है। इसलिये उसके नष्ट या अदृष्ट हो जाने पर शोक करना भी व्यर्थ है क्योंकि यह नाम-रूपात्मक सारा जगत् ही मिथ्या और नश्वर होने से असत् है और इसे सदा इसी अवस्था में स्थिर रखना नितान्त असंभव है। केवल एक ब्रह्म ही सत् है जो अनादि है, अनन्त है और नित्य है। शेष सब कुछ उसका केवल स्फुरण मात्र ही है। सत् और असत् के भेद को अथवा सिद्धान्त या निर्णय को केवल तत्त्वदर्शी विज्ञानी ही जानते हैं।

ये तत्त्वदर्शी विज्ञानी दो प्रकार के हैं। एक तो उन सौ तत्त्वों की छानबीन करने वाले हैं जिनके द्वारा इस दृश्यमान जगत् का रचा जाना माना जाता है। ये लोग जगत् के उपकार के लिये नाना प्रकार के आविष्कार करते रहते हैं और अपनी बुद्धि के बल से आकाशमण्डल के पिण्डों तक पहुँचने में प्रयत्नशील हैं परन्तु इनके अनुसंधान भावी विनाश की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं।

इनके ये स्वप्न साकार होकर भी असत् रूप हैं क्योंकि इनका यह सारा धन्धा ही असत् का खेल है।

दूसरी प्रकार के तत्त्वदर्शी वे विज्ञानी हैं जिन्होंने सत् का अनुसंधान किया है और उन सब शक्तियों को स्व-शरीरों में केन्द्रित किया हुआ है; जिनसे पहली तरह के विज्ञानी काम लेते हैं। असत् तो नित्य नाशवान् है, परन्तु सत् का कभी नाश नहीं होता। इसलिये सत् के ये खोजी परमपद को प्राप्त हो जाते हैं और दूसरों को भी उसकी प्राप्ति कराने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं।

दोनों प्रकार के विज्ञानी हमारी श्रद्धा के पात्र हैं क्योंकि पहली प्रकार के विज्ञानी यद्यपि असत् के अनुसंधान में लगे हुए हैं परन्तु तो भी इस पृथ्वी को

स्वर्ग के रूप में बदल देना चाहते हैं और लोगों को बिना मृत हुए ही जीवितावस्था में ही स्वर्ग-प्राप्ति कराने में प्रयत्नशील हैं। ये लोग वर्तमान युग के विश्वामित्र बने हुए हैं अथवा परशुराम का रूप धारण किए हुए हैं।

परन्तु स्वर्ग भी असत् ही है क्योंकि नाशवान् है।

दूसरी प्रकार के विज्ञानी अत्युत्तम हैं जिन्होंने सत् का अनुसंधान किया है। जिस सत् की प्राप्ति से जन्म-मरण के सब टंटे बखेड़े मिट जाते हैं और शाश्वत शान्ति प्राप्त हो जाती है।

हे अर्जुन ! और भी सुनो—जो कुछ काल की सीमा में है, देश की सीमा में है और वस्तु रूप में है, वह निरन्तर एकरूप या एकरस न रहने से 'असत्' है। मिथ्या है। नाशवान् है। खोटा है। नकली है।

निरन्तर एकरस रहने वाला सत् है। निर्विकार है। सत् का किसी काल में भी अभाव नहीं है परन्तु असत् का किसी समय ही भास मात्र होता है। जैसे रात्रि के अन्धकार में जब कोई रस्सी पड़ी हुई होती है और फिर उस पर जब किसी प्रकार का प्रकाश पड़ता है तो वह किसी को सर्प और किसी को छड़ी आदि कोई अन्य वस्तु दिखाई देती है। इसी प्रकार यह मिथ्या जगत् भी भ्रमवश सत् ही प्रतीत होता है। परन्तु वह स्व-प्रकाश, नित्य परब्रह्म परमेश्वर ही सत् है जिसकी सर्वव्यापकता से यह मिथ्या असत् संसार भी सत् की भाँति भासमान और प्रतीत होता है जैसे दर्पण में दिखाई दे रहा प्रतिबिम्ब बिम्ब के समान ही दिखाई देता है जिसे देखकर मूर्ख चिड़िया उसे सचमुच की या असली चिड़िया समझती है और उससे लड़ने के लिए दर्पण पर निरन्तर चोंचें मारती है और चिरकाल तक भ्रान्त होकर यह व्यर्थ कार्य करती रहती है। उसे उसका प्रतिबिम्ब भी लड़ता और चोंचें मारता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार अज्ञानी पुरुष प्रभु-सत्ता से भासमान इस असत् जगत् को सत् समझकर इसमें फँसा रहता है और सत् को प्राप्त न करके अपने जीवन को व्यर्थ खो देता है।

कहते हैं एक गोल भवन की दसों दिशाओं में दीवारों पर दर्पण लगे हुए थे। दैवयोग से एक कुत्ता उसमें प्रविष्ट हो गया। उसने चारों ओर दृष्टि डाली तो उसे सब ओर अपने जैसे कुत्ते खड़े दिखाई दिए। उसने दुम को ऊपर उठाकर भोंकना प्रारम्भ कर दिया तब उसके अनुरूप ही उसके सब प्रतिबिम्ब भी भोंकने लगे। अन्त में जब वह थक गया तो उसने भोंकना बन्द कर दिया और अपनी दुम दबाकर पेट के साथ लगा ली, उसके सब प्रतिबिम्बों ने भी वैसा ही कर लिया। ठीक इसी प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड भी एक गोल भवन के समान है जिसमें हमें सब ओर अपनी आत्मा के प्रतिबिम्ब ही दिखाई देते

हैं। जिन्हें हम अपने से भिन्न समझ रहे हैं और जिसका प्रतिबिम्ब हम स्वयं हैं वही सबका कारण रूप प्रभु सत् है और कार्य रूप जगत् मिथ्या और असत् है। 'छान्दो० ३०' में लिखा है—

"अन्नेन सौम्य ! शुंगेनापो मूलमन्विच्छ, अद्भिः सौम्य ! शुंगेन तेजो मूलमन्विच्छ, तेजसा सौम्य ! शुंगेन सन् मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा इति।"

अर्थात् हे सौम्य (प्रियदर्शन श्वेतकेतु) इस पृथ्वीरूप कार्य करके तू जलरूप कारण का निश्चय कर। जलरूप कार्य करके तू तेजरूप कारण का निश्चय कर। तेजरूप कार्य करके तू सत् वस्तुरूप कारण का निश्चय कर। हे सौम्य ! यह सारी प्रजा उस सत् वस्तु (अनन्त विभु) से ही उत्पन्न होती है तथा उस सत् वस्तु में ही लय को प्राप्त हो जाती है।

इस श्रुति द्वारा पृथ्वी आदि सब विकारों की कल्पना केवल एक सत् वस्तु में ही कही गई है। इसलिये एक ही सत् वस्तु के ज्ञान द्वारा माया कल्पित असत् की निवृत्ति करके मोक्षरूप अमृतत्व की प्राप्ति के योग्य हो जाना चाहिए।

हे अर्जुन ! तू भी तत्त्वदर्शी पुरुषों की बुद्धि का आश्रय लेकर शोक और मोह को छोड़ दे और नियत और अनियत रूप शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन कर तथा इन सबको विकार और असत् समझ ले ॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अविनाशि तु तत्+विद्धि येन सर्वम्+इदम्+ततम्। विनाशम्+ अव्ययस्य+अस्य न कश्चित्+कर्तुम्+अर्हति ॥

अविनाशि=(वि०) न विनष्टुं शीलम् अस्य इति-(नपुं०) न विनाशि। वि √नश्+घञ्+इ=विनाशि+द्विती० ए० व०=अविनाशी। न नाश होने वाला। नाशरहित।
(सत् का विशेषण)।

तु=(अव्यय) तो। 'तु' शब्द 'असत्' से 'सत्' की विशेषता दिखाने के लिए है।
तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उसको।
विद्धि=√विद् (अदा० पर० अक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व० =(तू) जान।
येन=(सर्व०) यद्+तृती० ए० व०=जिससे। जिसके द्वारा। जिस सत् शब्दवाच्य ब्रह्म से।

सर्वम्=(सर्व०) सर्व+(नपुं०)+प्र० ए० व०=सारा (जगत्)।
इदम्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह।
ततम्=√तन् (तना० उभ० सक०=फैलाना)+क्त=तत+(नपुं०) प्र० ए० व०=व्याप्त है। फैला हुआ है। फैलाया हुआ है। व्याप्त किया हुआ है।
विनाशम्=(पुं०) वि√नश्+घञ्=विनाश+द्विती० ए० व०=विनाश को। अभाव।
अव्ययस्य=न व्येति, उपचयापचयौ न याति, इति अव्ययं तस्य अव्ययस्य= जिसका व्यय नहीं होता अर्थात् जो घटता-बढ़ता नहीं उसका नाम अव्यय है। (उस) अव्यय का। अपरिवर्तनशील का। अक्षय का। सदैव एकरस रहने वाले का। अविनाशी परमात्मा का। (षष्ठी ए० व०)।
अस्य=(सर्व०) इदम्+(पुं० नपुं०) षष्ठी ए० व०=इसका।
न=न। नहीं।
कश्चित्=(सर्व०) कम्+(पुं०) प्र० ए० व०=कः+चित्=कोई। कोई भी।
कर्तुम्=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+तुमुन्=करने के लिए।
अर्हति=√अर्ह् (भ्वा० पर० सक०=योग्य या समर्थ होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=योग्य है। समर्थ है।

अर्थ—(तू) उस (सत् शब्द वाच्य ब्रह्म) को तो अविनाशी जान। जिससे यह सारा (जगत्) व्याप्त है। इस (अविनाशी सत् शब्द वाच्य ब्रह्म) का विनाश करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है॥ [कोई भी अर्थात् स्वयं ईश्वर भी अपने आपका विनाश करने के लिए समर्थ नहीं है] ॥१७॥

व्याख्या—वह परमेश्वर अविनाशी है, महान् है। अपार है। अनन्त है। सत्य है। सर्वान्तर्यामी है। विज्ञानमय है। ज्ञान स्वरूप है। सत् है। ब्रह्म नाम वाला है। श्रुति में कहा है—

"महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवेति सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" इति॥

शरीर, इन्द्रियाँ, भोग-सामग्री तथा भोग-स्थान आदि समस्त दृश्य और अदृश्य चेतन-जड़ वर्गादि नाम रूपादि ब्रह्माण्ड या आकाशसहित प्रपंच जिसे वेद-शास्त्रों ने नाशवान् कहा है। केवल उस अविनाशी सत् का स्फुरण-मात्र है। यह जीव माता के गर्भ में अपने पूर्व कर्मों के वशवर्ती हुआ अपने नवीन शरीर की स्वयं स्वाभाविक ही रचना कर लेता है चाहे उसकी ऐसा

करने की कोई इच्छा या जानकारी नहीं होता। यह शरीर-रचना-कार्य वह प्रकृति की प्रेरणा और सहायता से बिना जाने बूझे ही पूरा करता है। इस कार्य में उसका अपना कोई वश या दखल नहीं होता। कृषक के बैल की भाँति विवश हुआ निरन्तर दिनरात वह इस शरीर-रचना रूपी रहट को चलाता रहता है। इस जीव-शरीर के भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मानचित्र विद्यमान होता है जिसे योग-समाधि द्वारा शरीर के भीतर देखा जा सकता है।

जैसे गृहिणी (उड़ने वाला एक विशेष कीट) अपने ऊपर अपने गृह की रचना करता है अथवा जैसे रेशम का कीड़ा अपने शरीर से एक विशेष रस निकालकर उससे रेशम का तार बनाता है और फिर उसे अपने शरीर पर लपेट लेता है। मकड़ी भी अपना जाला इसी प्रकार तनती है। ऐसे ही अपने स्वतः सिद्ध संकल्प मात्र से वह अविनाशी 'सत्' शब्द वाच्य ब्रह्म ब्रह्माण्ड का फैलाव करता है जिसकी कोई सीमा नहीं होती जिसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और पृथ्वियाँ असंख्य होती हैं जिनके कण-कण में अलिप्त सत् विराजमान रहता है। यह परमात्मा ही स्वयं आत्मारूप है। इसका विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं। यह नित्य है और यह सारा प्रपंच अनित्य है तथा इसी 'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' का रचा हुआ है। ऐन्द्रजालिक की माया स्वयं उसे ही कैसे मोहित कर सकती है? या उस पर किसी प्रकार का अच्छा या बुरा प्रभाव डाल सकती है? जब प्रलयकाल में सारा प्रपंच अदृश्य होकर उस सत् के स्वरूप में लीन हो जाता है और वह सत् स्वयं केवल अकेला ही रह जाता है अर्थात् अपनी सारी माया को संवृत कर लेता है तो भी उसका नाश नहीं होता और वह स्वयं भी अपना नाश करने के लिये समर्थ नहीं है। वास्तव में यह सारा संसार उस अविनाशी का खेल या तमाशा है और जो कुछ यहाँ हो रहा है उस सबका करण-कारण वही एक विभु है। इसलिये हे अर्जुन! तू युद्ध में मरने मारने के सम्बन्ध में किंचिन्मात्र भी चिन्ता न कर ॥१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

अन्तवन्तः+इमे देहाः+नित्यस्य+उक्ताः+शरीरिणः। अनाशिनः+अप्रमेयस्य तस्मात् युध्यस्व भारत! ॥

अन्तवन्तः=(वि०) अन्तो (विनाशो) विद्यते येषां ते (बहुव्री०)=जिनका अन्त या विनाश होता है वे।

√अम् (भ्वा० पर० सक०=जाना)+तन्=अन्त+मतुप् (वत्)=

अन्तवत्+(पुं०) प्र० ब० व०=अन्त वाले। जाने वाले। नाश वाले। मृत्यु धर्म वाले।

['मतुप्' प्रत्यय से पूर्व यदि 'अ' या 'आ' हो तो 'म' को 'व' हो जाता है।]

इमे=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ब० व०=ये।

देहाः=(पुं०, नपुं०) देग्धि प्रतिदिनं √दिह् (अदा० उभ० सक०=लेप करना)+घञ्=देह+प्र० ब० व०=देह। शरीर।

नित्यस्य=(वि०) नियमेन भवः, नि+त्यप् नित्य+(पुं०) षष्ठी० ए० व० =सदा रहने वाले के। नित्य के। नित्य (आत्मा) के।

उक्ताः=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+क्त=उक्त+(पुं०) प्र० ब० व०=कहे गए हैं।

शरीरिणः=(वि० पुं०)√शृ (क्र्या० पर० सक०=नाश होना)+ईरन्= शरीर+इनि=शरीरिन्+षष्ठी ए० व०=शरीरधारी के। देही के। जीवात्मा के।

शरीर=(नपुं०) जिसकी वृद्धि और क्षय हो। प्राणियों के सब अंगों का समूह।

स्थूल और सूक्ष्म भेद से शरीर दो प्रकार का होता है। स्थूल शरीर माता-पितृज है। मरने पर इसका नाश हो जाता है, सूक्ष्म शरीर बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच तन्मात्राओं अर्थात् इन अठारह के सार से मिलकर बना होता है जो मादी-वस्तु न होने से दिखाई नहीं देता और स्थूल शरीर के मरने के बाद भी जीवित रहता है और मृतक शरीर से बाहर निकलकर किसी माता के गर्भ में अपने लिए एक नवीन स्थूल शरीर की रचना करता है। परन्तु जब योग-युक्ति से इस सूक्ष्म शरीर का भी नाश कर दिया जाता है तो फिर नवीन स्थूल शरीर की रचना करने वाला कोई नहीं होता। पीछे केवल एक निर्लेप आत्मा ही रह जाती है जो फिर अपने मूलस्वरूप परमात्मा में मिल जाती है जिससे वह जन्म-मरण से रहित हो जाती है। इसी का नाम मोक्ष है॥

अनाशिनः=(वि०) नास्ति नाशो यस्य तस्य (नञ् बहुव्री०) न नाश होने वाले के।

[√नश् (दिवा० पर० अक०=नाश होना)+णिच्+णिनि=नाशिन् +(पुं०) षष्ठी ए० व०=नाशिनः=नाश होने वाले के। अनाशिनः =न नाश होने वाले के]

अप्रमेयस्य=(वि०) न प्रमेयस्य (नञ् तत्पु०) जो नापा न जा सके—असीम। जो यथार्थ रूप से न जाना या समझा जा सके। जाँच के अयोग्य। स्वतः सिद्ध। प्रमाण, अनुमान और शास्त्र आदि किसी भी साधन से जिसका स्वरूप स्पष्ट न किया जा सके। प्रमाण का अविषय। प्रमेय न होकर जो प्रमाता हो। बुद्धि आदि का अविषय।

[प्र√मा (अदा० पर० सक०=मापना)=प्रमा=यथार्थ ज्ञान। जो यथार्थ ज्ञान का भी विषय न हो वह अप्रमेय+षष्ठी ए० व०=अप्रमेय को।]

तस्मात्=इसलिए

युध्यस्व=√युध् (दिवा० आत्म० अक०=युद्ध करना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) युद्ध कर।

भारत !=(पुं०) भरतस्य गोत्रापत्यम्, भरत+अण्=भारत+सम्बो० ए० व०=हे भरतवंशज (अर्जुन) !

["नित्यस्य" और "अनाशिनः" ये दोनों शब्द यद्यपि एक ही अर्थ वाले हैं परन्तु इनके भाव पृथक्-पृथक् हैं। इसलिये इस श्लोक में कोई पुनरुक्ति नहीं है। जैसे शरीर जलकर भस्मीभूत हुआ अदृश्य होकर भी "नष्ट हुआ" कहलाता है और रोगादि से कृश और दुर्बल हुआ शरीर भी "नष्ट हुआ" कहलाता है। इसलिये नाश दो प्रकार का होने से यहाँ उक्त दोनों पदों में पुनरुक्ति नहीं है।]

अर्थ—हे भरतवंशज (अर्जुन) ! नित्य, अविनाशी अप्रमेय जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिए (तू) युद्ध कर ॥१८॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू उस भरत के वंश में उत्पन्न हुआ है जो पाँच वर्ष की आयु में ही शेरों (सिंहों) के मुख खोलकर उनके दाँत गिना करता था। डर, भय, चिन्ता या क्षोभ किञ्चितमात्र भी उसके मन में नहीं थे। तेरी नाड़ियों में भी वही रुधिर बह रहा है। तो फिर तू क्यों इस उदासी और क्षोभादि की लपेट में आया हुआ है ? देखो भीष्म, द्रोणादि सब सम्बन्धियों के जितने भी शरीर हैं, ये सब नाशवान् और अनित्य हैं। शरीर का अर्थ है—वृद्धि करने वाला और नाश होने वाला। तो फिर जिसका स्वभाव ही बढ़ने के बाद नाश होना है उसके लिये शोक कैसा ? स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों प्रकार के शरीर नाशवान् हैं। मनुष्य स्वप्न में अनेक शरीरों और सृष्टियों की रचना करता है परन्तु जागने पर वह अकेला ही होता है। इस प्रकार प्रभु की रचना जो यह जगत् है, यह भी उस अनन्त भगवान् का एक स्वप्न ही

है। वास्तव में यहाँ का सब कुछ नाशवान् है। अविनाशी तो केवल एक शरीरी ही है जिसके सम्बन्ध में श्रुति इस प्रकार कहती है—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा, कर्माध्यक्षः, सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।" अर्थात् एक अद्वितीय आत्मदेव सारे शरीरों में गूढ़ होकर स्थित है। सर्वव्यापी है। सब भूतों का अन्तरात्मा है। पुण्य-पाप कर्मों का फलप्रदाता है। सारे भूतों का अधिवास (अधिष्ठान) है। सबका साक्षी है। चैतन्यस्वरूप है। अद्वितीय और निर्गुण है॥

सब शरीरों में उसी का प्रकाश है। शरीर का ही नाश होता है परन्तु शरीरी का किसी काल में भी नाश नहीं होता।

एक और श्रुति इस प्रकार है—

"एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवमप्रमेयं न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानीयात्॥"

अर्थात् यह चैतन्य आत्मा एक प्रकार से देखने योग्य है। यह अप्रमेय है। निश्चयपूर्वक अप्रमेय है। उस (स्वयंज्योति आत्मा) में सूर्य भी प्रकाश नहीं करता है, चन्द्रमा और तारा-समूह भी प्रकाश नहीं करते हैं तथा उसमें बिजली भी प्रकाश नहीं करती है। यह अग्नि तो क्या प्रकाश कर सकती है! उस स्वयंज्योति आत्मा के प्रकाश का ही आश्रय लेकर (पश्चात् यह सूर्य चन्द्र आदि पदार्थ) भासमान् होते हैं तथा उस आत्मदेव के स्वयंज्योति-प्रकाश के द्वारा ही ये सूर्य चन्द्रमा आदि सम्पूर्ण प्रकाशमान् होकर सारे संसार को प्रकाशमान् करते हैं और जिस स्वयंज्योति आत्मा के द्वारा यह लोक इन सब पदार्थों को जानता है, उस सबके द्रष्टा विज्ञाता आत्मा को यह जीव किस प्रकार जान सकता है? अर्थात् किसी प्रकार भी जान नहीं सकता।

हे भारत! तू आत्मा और अनात्मा को भली-भाँति जान ले। बेकार शोक और मोह को त्याग दे तथा युद्ध कर क्योंकि यह तुझ क्षत्रिय का धर्म है। इसी में तेरा कल्याण है॥१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥

यः+एनम्+वेत्ति हन्तारम्+यः+च+एनम्+मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतः+न+अयम्+हन्ति न हन्यते॥

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

एनम्=(सर्व०) एतद् या इदम्+द्विती० ए० व०=इसको। =इस आत्मा को।

['इदम्' और 'एतद्' सर्वनाम शब्दों का अन्वादेश (एक आज्ञा के बाद दूसरी आज्ञा) होने पर द्विती० के तीनों वचनों में, तृती० के ए० व० और षष्ठी, सप्त० के द्वि० व० में 'एन' आदेश होता है। यह नियम तीनों लिङ्गों के रूपों पर लागू होता है। इससे यहाँ "एनम्" शब्द प्रयुक्त हुआ है।]

वेत्ति=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=जानता है।

हन्तारम्=(वि०)√हन् (अदा० पर० सक०=मार डालना)+तृच्=हन्तृ मारने वाला+(पुं०) द्विती० ए० व०=मारने वाले को।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

च=(अव्यय) और।

एनम्=(सर्व०) द्विती० ए० व०=इसको।

मन्यते=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=जानना, मानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=जानता है। मानता है। समझता है।

हतम्=√हन् (अदा० पर० सक०=मारना, मरना)+क्त=हत+प्र०, द्विती० ए० व०=मारा हुआ। मरा हुआ।

उभौ=(सर्व०) उभ+(पुं०) प्र० द्वि० व०=दोनों ही।

तौ=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० द्वि० व०=वे।

न=न। नहीं।

विजानीतः=वि√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+लट्०, प्र० पु०, द्वि० व०=(असलीयत को) जानते हैं।

न=न। नहीं।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह।

हन्ति=हन्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=मारता है।

न=न। नहीं।

हन्यते=√हन्+णिच्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=मारा जाता है॥

अर्थ—जो इस (आत्मा) को मारने वाला समझता है [अर्थात् हनन क्रिया का कर्ता मानता है] और जो इस (आत्मा) को मरा हुआ मानता है [अर्थात् हनन क्रिया का कर्म जानता है।] वे दोनों (ही) (आत्मा की असलीयत को) नहीं जानते हैं क्योंकि यह (आत्मा) न (किसी को) मारती है। न (किसी के द्वारा) मारी जाती है॥१९॥

व्याख्या—यह श्लोक कठ उपनिषद् अध्याय १ वल्ली २ मन्त्र १९ से मिलता-जुलता है जो इस प्रकार है—

"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।"

अर्थ—चेत् (यदि कोई) हन्ता (मारने वाला व्यक्ति) हन्तुम् (अपने को मारने के लिए समर्थ) मन्यते (मानता है, और) चेत् (यदि) हतः (कोई मारा जाने वाला व्यक्ति) हतम् (अपने को मारा हुआ) मन्यते (समझता है) (तो); तौ उभौ (वे दोनों ही) न विजानीतः (आत्मस्वरूप को नहीं जानते क्योंकि) अयम् (यह आत्मा) न हन्ति (न तो किसी को मारती है) न हन्यते (न मारी ही जाती है) ।।

श्लोक और मन्त्र के शब्द में थोड़ा अन्तर अवश्य है परन्तु भावार्थ समान है । प्रत्येक जीव देह और देहधारी से मिलकर बना हुआ है । इनमें से देह या शरीर तो अनित्य और नाशवान् है परन्तु देही (आत्मा) अजर, अमर और अविनाशी है । इसलिए जो लोग आत्मा को मारने वाला या मरा हुआ अथवा मरने वाला समझते हैं वे आत्मा की असलीयत को नहीं जानते हैं क्योंकि यह आत्मा तो अलिप्त है । तटस्थ और साक्षी है । यह न कभी किसी को मारती है न कभी मरती है । इस आत्मतत्त्व को यथार्थ रूप में ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं ।

कल्याण के गीता तत्त्वांक में प्रश्न किया गया है कि "यदि आत्मा न किसी को मारती है, न मरती है तो फिर मरने और मारने वाला कौन है ?"

उत्तर इस प्रकार दिया है—

"स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर के वियोग को 'मरना' कहते हैं । अतः मरने वाला स्थूल शरीर है । इसलिये पहले 'अन्तवन्त इमे देहाः' कहा गया है । इस तरह मन बुद्धि के सहित जिस स्थूल शरीर की क्रिया से किसी दूसरे स्थूल शरीर के प्राणों का वियोग होता है उसे मारने वाला कहते हैं । अतः मरने वाला शरीर ही है आत्मा नहीं । किन्तु शरीर के धर्मों को अपने में अध्यारोपित करके अज्ञानी लोग आत्मा को मारने वाला (कर्ता) मान लेते हैं इसलिए उनको उन कर्मों का फल भोगना पड़ता है ।।"

इस विषय में लोकमान्य तिलक जी कहते हैं—

"यह आत्मा नित्य और स्वयं अकर्ता है । खेल तो सब प्रकृति का ही है ।"

महाभारत में लिखा है—"कि काल से सब ग्रसे हुए हैं । इस काल की क्रीड़ा ही यह 'मारने, मरने' की लौकिक संज्ञाएँ हैं ।।"

स्वयं भगवान् गी० ११।१३ ।। में कहते हैं—

"मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् !"

अर्थात् ये सब शूरवीर पहले ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं। युद्ध करना जिसके बाएँ हाथ का खेल है, हे ऐसे अर्जुन ! तू तो केवल निमित्तमात्र बन।

इससे सिद्ध होता है सब शरीर भगवान् से प्रेरित किए हुए काल या प्रकृति द्वारा ही प्राणों से रहित किए जाते हैं ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्+न+अयम्+भूत्वा भविता वा न भूयः। अजः+नित्यः शाश्वतः+अयम्+पुराणः+न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

जायते=√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना। जन्म लेना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=जन्म लेता है। जन्मता है।

म्रियते=√मृ (तुदा० आत्म० अक०=मरना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व० =मरता है।

वा=(अव्यय)√वा+क्विप्=या। अथवा। और।

कदाचित्=(अव्यय) कस्मिन्नपि काले, कम्+दा+चित्=किसी काल में भी। कभी।

न=न। नहीं।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह (आत्मा)।

भूत्वा=√भू+क्त्वा=होकर।

भविता=√भू+लुट्० (अनद्यतन भविष्य)+प्र० पु०, ए० व०=होगा। होने वाला है।

वा=(अव्यय) या। अथवा। और।

न=न। नहीं।

भूयः=(अव्यय) भुवे भावाय यस्यति यतते, भू√यस्+क्विप्=भूयस्= फिर। पुनः।

अजः=(वि०) न जायते। (नञ् तत्पु०),√जन्+ड=अज+(पुं०) प्र० ए० व०=जन्मरहित। अजन्मा।

नित्यः=(वि०) नियमेन भवः, नि+त्यप्=नित्य+(पुं०) प्र० ए० व०= सदा रहने वाला। अविनाशी। नित्य।

अर्थात् ये सब शूरवीर पहले ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं। युद्ध करना जिसके बाएँ हाथ का खेल है, हे ऐसे अर्जुन ! तू तो केवल निमित्तमात्र बन।

इससे सिद्ध होता है सब शरीर भगवान् से प्रेरित किए हुए काल या प्रकृति द्वारा ही प्राणों से रहित किए जाते हैं ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्+न+अयम्+भूत्वा भविता वा न भूयः। अजः+नित्यः शाश्वतः+अयम्+पुराणः+न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

जायते=√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना। जन्म लेना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=जन्म लेता है। जन्मता है।

म्रियते=√मृ (तुदा० आत्म० अक०=मरना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व० =मरता है।

वा=(अव्यय)√वा+क्विप्=या। अथवा। और।

कदाचित्=(अव्यय) कस्मिन्नपि काले, कम्+दा+चित्=किसी काल में भी। कभी।

न=न। नहीं।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह (आत्मा)।

भूत्वा=√भू+क्त्वा=होकर।

भविता=√भू+लुट्० (अनद्यतन भविष्य)+प्र० पु०, ए० व०=होगा। होने वाला है।

वा=(अव्यय) या। अथवा। और।

न=न। नहीं।

भूयः=(अव्यय) भुवे भावाय यस्यति यतते, भू√यस्+क्विप्=भूयस्= फिर। पुनः।

अजः=(वि०) न जायते। (नञ् तत्पु०),√जन्+ड=अज+(पुं०) प्र० ए० व०=जन्मरहित। अजन्मा।

नित्यः=(वि०) नियमेन भवः, नि+त्यप्=नित्य+(पुं०) प्र० ए० व०= सदा रहने वाला। अविनाशी। नित्य।

शाश्वतः=(वि०) शश्वद् भवः, शश्वत्+अण्=शाश्वत+(पुं०) प्र० ए० व०=सदा स्थिर रहने वाला। सदा एकरस रहने वाला।

पुराणः=(वि०) पुरा भवः, पुरा+ट्यु, नि० वा पुरा नीयते, पुरा√नी+ड =पुराण+(पुं०) प्र० ए० व०=पुराना। प्राचीन। पुरातन।

['पुराण' इस शब्द से, अपक्षय (क्षय होना) के विपरीत जो वृद्धिरूप विकार है उसका भी प्रतिषेध किया जाता है। जो पदार्थ किसी अवयव की उत्पत्ति से पुष्ट होता है, वह "बढ़ता है", "नया हुआ है" ऐसे कहा जाता है। परन्तु यह आत्मा तो अवयवरहित होने के कारण पहले भी नई थी; अतः 'पुराण है' अर्थात् बढ़ती नहीं। (श्री स्वामी शंकराचार्य जी)]।

न=न। नहीं।

हन्यते=√हन् (अदा० पर० सक०=वध करना, मार डालना)+णिच्+ लट्०, प्र० पु०, ए० व०=मारा जाता है।

हन्यमाने=(वि०)√हन्+य+शानच्=हन्यमान+(पुं०, नपुं०) सप्त०, ए० व०=मारे जाने पर।

शरीरे=(नपुं०)√शॄ+ईरन्=शरीर+सप्त० ए० व०=शरीर में। शरीर के। देह के।

अर्थ—यह (आत्मा) न कभी जन्मती है, और न (कभी) मरती है, तथा न (यह आत्मा) होकर फिर होने वाली है। यह अजन्मा है। नित्य (अविनाशी) है। शाश्वत (सदा एकरस) है। पुरातन (अनादि) है। शरीर के मारे जाने पर भी (यह) मरती नहीं है॥२०॥

व्याख्या—कठ उपनिषद् १।२।१८॥ वाला यह मन्त्र भी इस श्लोक से मिलता-जुलता है—

"न जायते म्रियते वा विपश्चिन्
नायं कुतश्चिन् न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥"

अर्थ—विपश्चित् (नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा) न जायते (न तो जन्मती है) वा न म्रियते (और न मरती है) अयं न (यह न तो स्वयं) कुतश्चित् (किसी से हुआ है) [इससे] न कश्चित् (न कोई भी) बभूव (हुआ है) [अर्थात् यह न तो किसी का कार्य है और न ही कारण है]। अयम् (यह आत्मा) अजः (अजन्मा), नित्यः (नित्य-अविनाशी), शाश्वत (सदा एकरस रहने वाली) [और] पुराणः (पुरातन-अनादि-क्षय और वृद्धि से रहित है)।

शरीरे हन्यमाने (शरीर के नाश किए जाने पर भी इस आत्मा का) न हन्यते (नाश नहीं किया जा सकता।) ॥

सांख्य शास्त्र के कथनानुसार वस्तुओं में छः प्रकार के विकार होते हैं—१—वस्तु की उत्पत्ति होती है। २—फिर उसका अस्तित्व या स्थिति होती है। ३—उसकी वृद्धि होती है। ४—फिर विपरिणाम या रूपान्तर होने लगता है। इस अवस्था में रूप में परिवर्तन होता है। ५—इसके बाद अपक्षय होने लगता है, जिसमें वस्तु क्षीण और कमजोर होती जाती है। ६—इस अन्तिम अवस्था में नाश या मृत्यु होती है।

सब नाशवान् पदार्थों को इन छः अवस्थाओं में से होकर लांघना पड़ता है। परन्तु आत्मा पर तो इन छः में से किसी का भी प्रभाव नहीं होता ऐसा ही भगवान् ने इस श्लोक में कहा है। आत्मा में उनके प्रभाव का अभाव प्रकट करने के लिये श्लोक में छः प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है—

'न जायते' कहकर आत्मा का 'अजन्मा' होना दर्शाया गया है। 'अजः' कहकर इसकी पुष्टि की गई है।

"अयं भूत्वा भूयः न भविता" यह पहले से ही एक बार होकर फिर कभी होने वाला नहीं होता अर्थात् यह आत्मा पहले से जो कुछ है वही कुछ सदा रहती है। यह पुनः और कुछ नहीं बनती। तात्पर्य यह कि यह सदा पूर्ववत् स्थिर रहती है।

'पुराणः' से भाव यह है कि यह पुरातन और अनादि है तथा वृद्धि और क्षय से रहित है।

"शाश्वतः" कहने से तात्पर्य यह है कि सदा एकरस स्थिर और स्थित रहता है। कभी विपरिणाम को प्राप्त नहीं होता। 'नित्यः' कहने से अपक्षय या क्षीणता का अभाव बताया गया है।

"न म्रियते वा कदाचिन्" तथा "न हन्यते शरीरे हन्यमाने" कहकर आत्मा में मृत्यु के अभाव की पुष्टि की गई है। इस श्लोक में इस प्रकार निर्विकार, अनादि और अविनाशी आत्मा का स्वरूप वर्णन किया गया है।

मैत्रेयी से याज्ञवल्क्य ने भी कहा था—

"अविनाशी वा अरेऽयमात्मा !"

अर्थात् हे मैत्रेयी ! यह आत्मा अविनाशी है ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

वेद+अविनाशिनम्+नित्यम्+यः+एनम्+अजम्+अव्ययम्। कथम्+सः+पुरुषः पार्थ ! कम्+घातयति हन्ति कम्? ॥
वेद=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=जानता है।

√विद् के लट्० में रूप

प्र०	वेत्ति	वित्तः	विदन्ति
म०	वेत्सि	वित्थः	वित्थ
उ०	वेद्मि	विद्वः	विद्मः

इस धातु के लट्लकार में विकल्प से लिट्लकार के समान भी प्रत्यय हो जाते हैं—

प्र०	वेद	विदतुः	विदुः
म०	वेत्थ	विदथुः	विद
उ०	वेद	विद्व:	विद्मः

अविनाशिनम्=(वि०) न विनाशो यस्य तम् (बहुव्री०)=अविनाशिन्+(पुं०) द्वितीο ए० व०=अविनाशी को। विनाशरहित को।
नित्यम्=(वि०) नित्य+(पुं०) द्वितीο ए० व०=नित्य को।
यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।
एनम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्वितीο ए० व०=इस (आत्मा) को।
अजम्=(पुं०) द्वितीο ए० व०=अजन्मा को।
अव्ययम्=(पुं०) द्वितीο ए० व०=विकाररहित को।
कथम्=(अव्यय) कैसे। किस तरह।
सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।
पुरुषः=(पुं०) प्र० ए० व०=मनुष्य। पुरुष।
पार्थ !=हे पृथापुत्र (अर्जुन) !
कम्=(सर्व०) किम्+(पुं०) द्वितीο ए० व०=किसको।
घातयति=√हन्+णिच्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=मरवाता है। मरवा सकता है।
हन्ति=√न+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=मारता है।
कम्=(सर्व०) किम्+(पुं०) द्वितीο ए० व०=किसको।

अर्थ—हे पृथापुत्र (अर्जुन) ! जो (पुरुष) इस (आत्मा) को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय (विकाररहित) जानता है, वह पुरुष कैसे ? किसको मरवाता है ? और कैसे किसको मारता है ? ॥२१॥

व्याख्या—इस श्लोक में 'अविनाशिनम्', 'नित्यम्', 'अजम्', और 'अव्ययम्' द्वितीयान्त शब्दों का अर्थ सब टीकाकारों ने प्रथमा विभक्ति में किया है जैसे "जो पुरुष इस (आत्मा) को अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय जानता है ।।" इसके स्थान पर अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—"जो पुरुष इस अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय (आत्मा) को जानता है । अर्थात् इससे परिचित है ।।" यह अधिक उपयुक्त है क्योंकि एक तो इस श्लोक के शब्द इस अर्थ के अधिक अनुकूल हैं, दूसरे भगवान् इससे पूर्व श्लोकों में आत्मा के उक्त गुण वर्णित कर चुके हैं । इस श्लोक में इन चार गुणों से युक्त आत्मा को जान लेने पर बल दिया गया है तथा कहा गया है कि जो उक्त गुणों वाला आत्मा से परिचित हो जाता है वह किसी को मरवाने या मारने की बात सोच ही कैसे सकता है ? अथवा उसे धर्म-युद्ध भी करना पड़े तो वह क्या किसी (आत्मा) को मरवाता या मारता है ? कदापि नहीं, क्योंकि आत्मा को मरवाने या मारने वाला तो कोई है ही नहीं । क्योंकि आत्मा तो अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है । परन्तु तत्त्वों से बने हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियों के संघात रूप शरीर जब संसार की शान्ति को भंग करते हैं पाप और अत्याचारों से धरती को नरकतुल्य बना देते हैं । सृष्टि के नाश और अपकार करने में लग जाते हैं तथा न्यायसंगत कार्य नहीं करते । तो उन शरीरों में मिले हुए असन्तुलित तत्त्वों को पृथक्-पृथक् करना परम आवश्यक हो जाता है । जैसे गुत्थमगुत्था हुए व्यक्तियों को अलग-अलग कर देने से उनका झगड़ा मिट जाता है । इसी प्रकार पापी, अत्याचारी तथा कलंकी पुरुषों के शरीर जिन तत्त्वों के मिलने से बने हुए होते हैं, उनके मेलजोल में कोई न्यूनता या त्रुटि रह जाती है जिससे वह ठीक कार्य न करके घृणित कार्य करते हैं । जिस प्रकार कोई इंजन, मशीन या कोई और उपकरण त्रुटि या दोषपूर्ण हो जाए तो वह अपने आसपास के लोगों को ही मार लेता है । इसलिए उसको तोड़फोड़ देना या वहाँ से हटा देना ही ठीक उपचार है । गिरने वाले हानिकारक भवन को गिरा देना ही उचित कार्य होता है । इसी प्रकार जिस शरीर या जिन शरीरों की रचना उत्तम या सन्तुलित तत्त्वों से न हुई हो, वे संसार के सब जीवों के दुःख के कारण बने रहते हैं । ऐसे शरीर या शरीरों को युद्ध या फाँसी आदि उपयुक्त दण्डों द्वारा छिन्न-भिन्न करके उसमें मिले हुए तत्त्वों को फिर से मूल तत्त्वों में मिला देना ही उचित होता है । इसलिए हे अर्जुन ! कौरव और उनके साथी भी ऐसे ही त्रुटिपूर्ण तत्त्वों के संघात रूप शरीरों से युक्त हैं जिससे वे लोग अत्याचारी और अन्यायी हैं । इसलिए इस समय युद्ध में मारकर उनके शरीरों को मूल तत्त्वों में बदल देना

ही उचित है और इस कार्य के लिये इस समय केवल युद्ध करना ही एक उत्तम उपाय है। तुम पाण्डव तो धर्मात्मा लोग हो। अतः तुम्हारी जय ही होगी। आत्मा तो अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है। इससे अच्छी तरह परिचित हो जाओ। इससे तुम्हें कोई पाप न होगा और न ही तू अपने विपक्षी सम्बन्धियों को मरा हुआ मानेगा तथा न ही अपने को उनके मरवाने या मारने वाला समझेगा ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरः+अपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि+अन्यानि संयाति नवानि देही ॥

वासांसि=(नपुं०)√वस् (अदा० आत्म० सक०=ओढ़ना, ढकना)+असुन्—णित्=वासस्+द्विती० ब० व०=वासांसि=वस्त्राणि=वस्त्रों को। कपड़ों को। पोशाकों को। पहनने के कपड़ों को।

जीर्णानि=(वि०)√जॄ (दिवा० पर० अक०=पुराना होना)+क्त=जीर्ण+(नपुं०) द्विती० ब० व०=जीर्णानि=दुर्बलतां गतानि= जीर्णों को। फटे हुओं को। बुदे हुओं को। गले पचे हुओं को। बूढ़े हुओं को। पुरानों को।

यथा=(अव्यय) जैसे (जगत् में)।

विहाय=वि√हा (जुहो० पर० सक०=छोड़ना, त्यागना)+ल्यप्=विहाय, परित्यज्य=छोड़कर। त्यागकर। उतारकर।

नवानि=(वि०)√नु (अदा० पर० सक०=प्रशंसा करना)+अप्=नव+(नपुं०) द्विती० ब० व०=नवानि, अभिनवानि=नवीनों को। नयों को। दूसरे नये वस्त्रों को।

गृह्णाति=√ग्रह् (क्रया० उभ० सक०=ग्रहण करना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=गृह्णाति, उपादत्ते=धारण करता है। ग्रहण करता है। पहन लेता है।

नरः=(पुं०)√नॄ (क्रया० पर० सक०=ले जाना)+अच्=नर+प्र० ए० व०=पुरुष। मनुष्य। आदमी। नर।

अपराणि=(वि०) नञ् तत्पु०। (नपुं०) द्विती० ब० व०=अन्यानि। न परो यस्मात् तानि। (जिससे परे तीसरा नहीं अर्थात्) दूसरों को।

तथा=(अव्यय) तद्वत् । उसी तरह । वैसे ही ।

शरीराणि=(नपुं०)√शॄ (क्र्या० पर० सक०=नाश होना) ईरन्=शरीर +द्विती० ब० व०=शरीरों को ।

(प्राणियों के सब अङ्गों के समूहों को ।)

विहाय=छोड़कर । त्यागकर ।

जीर्णानि=(वि०) नपुं०, द्विती० ब० व०=पुरानों को । बुढे हुओं को । जीर्ण-शीर्णों को । रुग्णों को । बूढ़ों को ।

अन्यानि=(वि०)√अन् (अदा० पर० अक०)+य=अन्य+(नपुं०) द्विती० ब० व०=दूसरों को । अन्यान्यों को ।

संयाति=सम्+√या+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=संगच्छति । प्राप्त करता है ।

नवानि=(वि०) नपुं०, द्विती० ब० व०=नवीनों को । नयों को ।

देही=(वि०) देह+इनि=देहिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=देही । देह धारण करने वाला । आत्मा । जीवात्मा ।

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नवीन वस्त्रों को धारण कर लेता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नवीन शरीरों को (उत्तरोत्तर) प्राप्त होता है ॥२२॥

व्याख्या—जब कि अबोध शिशु की माता उसके शरीर पर से पुराने वस्त्र उतारकर नवीन वस्त्र धारण करवाने लगती है तो वह चीखता, चिल्लाता और रोता है और समझता है कि इस समय शायद क्या होने वाला है । ऐसा करने से कहीं कोई पहाड़ ही सिर पर न टूट पड़े । इस अबोध शिशु की भाँति अज्ञानी पुरुष भी देह से प्राणों के पृथक् होने के समय रुदन करता और दुःखी होता है । परन्तु ज्ञानी पुरुष तो देहत्याग करते समय शान्त चित्त और धैर्य-वान् बना रहता है । कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक सुन्दर कविता में जीवन और मृत्यु को माता के दोनों स्तनों से उपमा दी है । आप कहते हैं—कि जीवन माता का दक्षिण (दाहिना) स्तन है और मृत्यु माता का वाम स्तन है । जब माता अपने बच्चे को दक्षिण स्तन से पृथक् करती है तो वह चीखता-चिल्लाता, रोता और दुःखी होता है परन्तु फिर जब वह उसे वाम स्तन से लगा लेती है तो वह फिर पूर्ववत् आनन्द और सुख का अनुभव करता है । अज्ञानी लोग भी इसी प्रकार मृत्यु को निकट आते देखकर असलीयत को न जानने के दोष से दुःखी होते हैं ।

महाभारत में एक स्थल पर देह को गृह से उपमा दी गई है । कहा गया है कि जब किसी का घर गिर जाता है या जीर्ण हो जाता है तो उसमें रहने

वाला दूसरे नवीन गृह में प्रवेश करके रहने लगता है। इसी प्रकार जब किसी का शरीर अकस्मात् दुर्घटना के कारण टूट-फूट जाता है अथवा किसी रोग विशेष से दुर्बल या क्षीण हो जाता है किंवा बुढ़ापे से निर्बल और अशक्त हो जाता है तो जीवात्मा उसे त्याग देता है और उस देह के द्वारा किए हुए पुण्य पापों के अनुसार दूसरी नवीन देह को धारण कर लेता है। सदैव ऐसा ही करता रहता है।

उसे चाहे नवीन देह तुच्छ प्राणी च्यूंटी मच्छर आदि की मिले, चाहे हाथी गेंडे जैसा दीर्घाकार शरीर प्राप्त हो, चाहे मनुष्य देह मिले किंवा देव, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस शरीर की प्राप्ति हो अथवा लता वृक्ष पौधे या घास में प्रविष्ट हो। सब शरीरों के वह अनुकूल हो जाता है। जैसे हवा आदि गैसों को जितनी जगह मिले वह उसी में समा जाती हैं, जल जैसे तरल पदार्थ जैसे पात्र में डाले जाएं वैसी आकृति धारण कर लेते हैं। आत्मा तो वायु, जल आदि की अपेक्षा निराकार, अलिप्त और अत्यन्त सूक्ष्मतर होती हैं। उसका अन्य सब शरीरों में फिट हो जाना सहज स्वभाव ही सरल होता है।

एक अमेरिकन ग्रन्थकार ने लिखा है कि जिस प्रकार किसी पुस्तक की पुरानी जिल्द तोड़कर फेंक दी जाती है और फिर उस पर नवीन जिल्द जोड़ या बांध दी जाती है। इसी प्रकार पुस्तक की तरह जीवात्मा पुरानी जिल्दरूप पुराने शरीर को त्यागकर नवीन जिल्दरूप नए शरीर में रहने लगता है।

कुछ अज्ञानी लोग तर्क करते हैं कि जब कोई घर ढह जाता है तो उसमें रहने वाला प्राणी भी मलबे में दबकर मर जाता है। इस प्रकार देह के साथ ही जीवात्मा का नाश भी हो जाता होगा।

परन्तु ऐसा समझना उनकी भूल और महा अज्ञानता है क्योंकि गृह और देह दोनों तो नाशवान् तत्त्वों से बने हुए होते हैं, इसलिये नाश हो जाते हैं। परन्तु जीवात्मा तो अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है तथा गृह या देह की भाँति किसी नाशवान् तत्त्व से बना हुआ नहीं है। इसलिये यह नाश होने वाली देह के साथ नष्ट नहीं होता है बल्कि उस पहली देह को त्यागकर उत्तरोत्तर अन्य नवीन देहों को प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार सदैव अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय ही बना रहता है।

श्लोक में "वासांसि" और "शरीराणि" दोनों पद बहुवचनान्त कहने से अभिप्राय यह है कि पुरुष जैसे एक ही समय में धोती, टोपी, कुरता आदि कई वस्त्र पहनता है उसी प्रकार जीवात्मा भी एक ही समय में स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन शरीरों को धारण करता है तथा जीवात्मा आदि काल से जन्म जन्मान्तरों में अनेक शरीरों को धारण करता चला आ रहा है और

मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त यही खेल खेलता रहता है। इससे दोनों पदों में बहुवचन को प्रयुक्त किया जाना युक्तियुक्त और यथार्थ है।

कल्याण के गीता तत्त्वांक में लिखा है—

जब जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है तब स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीर ही बदल जाते हैं। मनुष्य जैसा कर्म करता है उसके अनुसार ही उसका स्वभाव (प्रकृति) बनता जाता है। कारण शरीर में स्वभाव ही मुख्य है। प्रायः स्वभाव के अनुसार ही अन्तकाल में संकल्प होता है। और संकल्प के अनुसार ही सूक्ष्म शरीर बन जाता है।

कारण और सूक्ष्म शरीर के सहित ही यह जीवात्मा इस शरीर से निकलकर सूक्ष्म के अनुरूप ही स्थूल शरीर को प्राप्त होता है। इसलिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों के परिवर्तन होने के कारण से 'शरीराणि' में बहुवचनान्त प्रयोग ठीक ही है।

स्वामी चिद्घनानन्द गिरि जी की इस श्लोक पर विचित्र व्याख्या का सार इस प्रकार है—

"हे अर्जुन! जैसे विक्रिया से रहित हुआ यह पुरुष पहले निकृष्ट जीर्ण वस्त्र उतारकर दूसरे उत्कृष्ट नवीन वस्त्रों को धारण कर लेता है, वैसे उत्तम धर्मों के करने वाले भीष्मादिक नामधारी लोग शरीर का परित्याग करके पूर्ण सम्पादित पुण्य कर्मों के फल भोगने के लिये सबसे उत्कृष्ट 'देवता' आदि शरीरों को प्राप्त होंगे। इस सम्बन्ध में श्रुति कहती है—

> "अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं
> वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मणं वा।"
> इति।

अर्थात् "यह जीवात्मा पहले शरीर का परित्याग करके पुण्य कर्मों के प्रताप से पितृलोक में, या गन्धर्वलोक में, या देवलोक में, अथवा प्रजापति-लोक में किंवा ब्रह्मलोक में दूसरे नवीनतर बहुत कल्याण करने वाले उत्कृष्ट दिव्य शरीर को प्राप्त होता है॥"

भीष्म, द्रोण इन वर्तमान कमजोर और बूढ़े शरीरों को छोड़े बिना, किए हुए पुण्यों के फलों को भोगने के लिये तब तक समर्थ नहीं हो सकते, जब तक देहों को त्यागकर वे स्वर्गादिक लोकों को प्राप्त नहीं कर लेते। अतः तुम धर्म-युद्ध करो जिससे भीष्म द्रोणादि के जीर्ण शरीरों का परित्याग उनके जीवात्मा कर सकें और वे उत्तम लोकों में जाकर दिव्य देहों को धारण कर सकें तथा अपने किए हुए पुण्यों तथा तपों के फलों को भोग सकें। इसलिये युद्ध में भीष्म

द्रोणादि को मारने से तुम्हारा उन पर उपकार होगा उलटा पाप नहीं लगेगा। अतः उनके मारने से लगने वाले बुद्धि-भ्रमरूपी दोष को त्याग दो ।।२२।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२३।।

न+एनम्+छिन्दन्ति शस्त्राणि न+एनम्+दहति पावकः। न च+एनम्+क्लेदयन्ति+आपः+न शोषयति मारुतः ।।

न=न। नहीं।

एनम्=(सर्व०) इदम् या एतद्+(पुं०) द्विती० ए० व०=इस (आत्मा) को।

छिन्दन्ति=√छिद् (रुधा० पर० सक०=काटना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व० =काटते हैं। काट सकते हैं।

शस्त्राणि=(नपुं०)√शस् (भ्वा० पर० सक०=मार डालना)+ष्ट्रन्=शस्त्र+प्र० ए० व०=हथियार। शस्त्र।

न=न। नहीं।

एनम्=(सर्व०) पुं०, द्विती० ए० व०=इस (आत्मा) को।

दहति=√दह् (भ्वा० पर० सक०=जलाना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०= जलाता है। जलाती है।

पावकः=(पुं०)√पू (भ्वा० आत्म०, क्र्या० उभ० सक०=पवित्र करना) +ण्वुल्=पौ+अक=पावक+(पुं०) प्र० ए० व०=अग्नि। आग।

न=न। नहीं।

च=और।

एनम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=इस (आत्मा) को।

क्लेदयन्ति=√क्लिद् (दिवा० पर० अक०=गीला होना)+णिच्+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=गीला करते हैं। गिलाते हैं।

आपः=(स्त्री०)√आप्+क्विप्=आप्+प्र० ब० व०=आपः=सब प्रकार के जल।

न=न। नहीं।

शोषयति=√शुष् (दिवा० पर० अक०=सूखना)+णिच्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=सुखाता है।

मारुतः=(पुं०) म्रियते प्राणी यस्याभावात्, √मृ (तुदा० आत्म० अक०= मरना)+उत्=मरुत्+अण्=मारुत+प्र० ए० व०=वायु, पवन, हवा ।।

अर्थ—न इस (देही-जीवात्मा) को शस्त्र काटते हैं। न इसको अग्नि जलाती है। न इसको जल (कोई भी तरल पदार्थ) गीला करते (या गिलाते) हैं। और न इसको वायु सुखाती है ॥२३॥

व्याख्या—यह सारी पृथ्वी तीन प्रकार के पदार्थों से बनी हुई है—१—ठोस, २—तरल, ३—गैस। पृथ्वी तत्त्व में सब प्रकार की धातुएँ लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी, निकल, अल्युमीनियम, प्लाटिनम और यूरेनियम आदि तथा गन्धक, पोटाश, कार्बन, शोरा प्रभृति बहुत से ऐसे पदार्थ पाए जाते हैं जिनसे नाना प्रकार के विनाश तथा विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्र बनाए जाते हैं। ये सभी अस्त्र-शस्त्र भी जीवात्मा को काट या मार नहीं सकते क्योंकि यह जीवात्मा निरवयव है जिससे कोई खड्ग, तीर, तोप, बन्दूक, बम, एटम बम, उद्जन बम या वज्र इसको छू तक नहीं सकता और न उस पर अच्छा-बुरा किसी प्रकार का प्रभाव डाल सकता है क्योंकि जीवात्मा में पृथ्वी का कोई तत्त्व भी विद्यमान नहीं है।

दूसरी प्रकार के पदार्थ 'तरल' या 'द्रव' हैं। ये भी नाना प्रकार के हैं। जैसे ऐटमी भट्ठियों में काम आने वाले भारी पानी; समुद्रों, खाड़ियों, सरोवरों और झीलों तथा कूपों के नाना प्रकार के मीठे, खारी, कड़वे, ठण्डे और गर्म जल, कई प्रकार के तेल, नाना प्रकार के तेजाब (अम्ल), तरह-तरह के क्षार (अलकलीपूर्ण तरल), दूध, बूटियों और फलों के रस और पारा इत्यादि। 'आप:' शब्द बहुवचनान्त होने से उसमें इन सब प्रकार के तरलों का समावेश समझना चाहिए। ये सब तरल प्राय: सब पदार्थों को गीला कर देते हैं तथा गिलाकर नष्ट कर देते हैं। इन तरल पदार्थों से दूसरों को मारने के लिए अनेक ढंगों से काम लिया जाता है। तेजाबी बल्ब शत्रुओं पर फेंके जाते हैं। सोना, चांदी, ताँबा, लोहा, जस्त आदि तेजाबों में घोलकर मारे जाते हैं। कई वस्तुएँ अलकली मिले तरलों में घोलकर रूपान्तर की जाती हैं। नमक, खाण्ड आदि अनेक वस्तुएँ तो साधारण जल में घुलकर ही लुप्त हो जाती हैं। कुछ पदार्थ नमकीन जल में ही गलपच जाते हैं। कोई एक तरल पदार्थ किसी एक को गीला और नष्ट कर देता है तो दूसरा कोई तरल किसी दूसरे को गीला और नष्ट करता है। अथाह समुद्रों और वेगवती गहरी नदियों में बड़े-बड़े जहाज डूबकर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु इन सब प्रकार के तरलों में से कोई भी तरल पदार्थ जीवात्मा को न गीला कर सकता है न गिला सकता है और न डुबो सकता है। अर्थात् सब प्रकार के तरल पदार्थ भी जीवात्मा को नाश करने में असमर्थ और अशक्त हैं क्योंकि यह जीवात्मा तो अजर, अमर, अलिप्त और अविनाशी है।

तीसरी प्रकार के पदार्थ गैसें हैं जिनकी गणना प्राचीन वैज्ञानियों ने उनचास की थी। आजकल भी दस से अधिक गैसों का पता लगाया जा चुका है जिनमें से हाइड्रोजन या उद्‌जन गैस के परमाणु शेष सम्पूर्ण तत्त्वों के परमाणुओं से सूक्ष्मतम और हलके होते हैं जिनसे अत्यन्त विनाशकारी उद्‌जन बम बनाए जाते हैं। ये उद्‌जन बम शेष सब युद्धायुधों से अधिक शक्ति-शाली, विध्वंसक और विनाशकारी होते हैं। ये उद्‌जन बम भी जीवात्मा का नाश करने में असमर्थ हैं। इस प्रकार किसी प्रकार की वायु या उससे बना हुआ कोई भी उपकरण या आयुध इस जीवात्मा को सुखा नहीं सकता अथवा सुखाकर उसका विनाश नहीं कर सकता।

संसार में अग्नि एक महान् शक्ति है जिससे सब पदार्थों और सम्पूर्ण प्राणियों को प्रकाश और ताप प्राप्त होता है। अग्नि द्वारा ही सम्पूर्ण तत्त्वों में विलयन और विघटन होता है तथा यह अग्नि आक्सिजन की सहायता से लोहे, पीतल और अन्य सब धातुओं के मोटे-मोटे डण्डों को भी लट-लट करके जला देती है। साधारण वस्तुओं को जलाकर भस्म कर देना तो उसके लिए एक साधारण सी बात है। ईंटों के भट्ठों में पड़ी हुई बहुत सी ईंटें इसी अग्नि के द्वारा जल-भुन और पिघलकर टेढ़ी-मेढ़ी और लम्बी हो जाती हैं। कहने का भाव यह है कि यह अग्नि सारे संसार को जलाने की शक्ति रखती है जिसका प्रमाण यह है कि जब यह धरती सूर्य से पृथक् हुई थी तो अग्नि के द्वारा जलते हुए एक बहुत बड़े गोले के रूप में थी जिसके ऊपर का तल करोड़ों वर्षों में ठण्डा हुआ था और अब भी जिसके भीतर दस बीस मील की दूरी पर आग ही आग भरी हुई है जिसमें जलता और पिघला हुआ लावा भरा हुआ है। जो कभी-कभी ज्वालामुखी पर्वत बनकर बाहर निकलने लगता है तथा भूकम्प का हेतु हो जाता है। स्वयं हमारा यह सूर्य और नभमण्डल के अन्य अरबों सूर्य इसी अग्नि की लपेट में आए हुए हैं और अनन्त काल से धक-धक जल रहे हैं परन्तु इतना शक्तिशाली अग्नि देवता भी इस जीवात्मा को जला नहीं सकता।

रह गया पाँचवाँ तत्त्व बेचारा आकाश। सो उसकी तो शक्ति ही क्या है। जो स्वयं ही शून्य या सिफर (ZERO) है। वह तो कभी आत्मा का कुछ बिगाड़ कर ही नहीं सकता। इसलिये मैंने पहले चार तत्त्वों को असमर्थ कहा है। पाँचवें बेचारे का तो नाम भी नहीं लिया है हे अर्जुन! जब यह जीवात्मा किसी प्रकार भी मर नहीं सकता; तो फिर तुम्हें युद्ध करने में क्या अड़चन है? जबकि इस आत्मा को न शस्त्र काटते हैं, न अग्नि जला सकती है, न कोई जल गीला करके नष्ट कर सकता है और न कोई गैस सुखाकर मार

सकती है। इस प्रकार आपस में एक दूसरे का नाश कर देने वाले पञ्चभूत इस आत्मा का नाश करने के लिये समर्थ नहीं हैं ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अच्छेद्यः+अयम्+अदाह्यः+अयम्+अक्लेद्यः+अशोष्यः+एव च। नित्यः सर्व-गतः स्थाणुः+अचलः+अयम्+सनातनः ॥

अच्छेद्यः=(वि०) न छेद्यः (नञ् तत्पु०)√छिद् (रुधा० पर० सक०=काटना) +यत्=अच्छेद्य+(पुं०) प्र० ए० व०=न काटने योग्य। न कटने योग्य।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह (जीवात्मा)।

अदाह्यः=(वि०) न दाह्यः (नञ् तत्पु०)√दह्+ण्यत्=अदाह्य+(पुं०) प्र० ए० व०=न जलाये जाने वाला। न जलने योग्य।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह (जीवात्मा)।

अक्लेद्यः=(वि०) न क्लेद्यः (नञ् तत्पु०),√क्लिद् (दिवा० पर० अक०=गीला करना, गिलाना)+यत्=अक्लेद्य+(पुं०) प्र० ए० व०=न गीला होने योग्य। न गीला किया जाने वाला। न गलने या गिलाने योग्य।

अशोष्य=(वि०) न शोष्य (नञ् तत्पु०)√शुष् (दिवा० पर० अक०=सूखना)+यत्=अशोष्य+(पुं०) प्र० ए० व०=न सूखने या सुखाने योग्य।

एव=(अव्यय) ही। भी।

च=(अव्यय) और।

नित्यः=(वि०) नियमेन भवः, नि+त्यप्=नित्य+(पुं०) प्र० ए० व०= नित्यः=अविनाशी।

सर्व-गतः=(वि०) सर्वस्मिन् गतः (सप्त० तत्पु०) सर्व—√गम्+क्त+ (पुं०) प्र०, ए० व०=सर्वव्यापक।

स्थाणुः=(वि०) √स्था (भ्वा० पर० अक०=स्थिर रहना)+नु, पृषो० णत्व =स्थाणु+(पुं०) प्र० ए० व०=स्थिर रहने वाला। स्थिर।

अचलः=(वि०) न चलः (नञ् तत्पु०) √चल्+अच्+(पुं०) प्र० ए० व० =अचल। टिकाऊ।

अयम्=(सर्व०) पुं०, प्र० ए० व०=यह (आत्मा)।

सनातनः=(वि०) सदा+ट्युल्, तुट्, नि० दस्य नः=सनातन+(पुं०) प्र० ए० व०=अनादि। प्राचीन। सनातन ॥

अर्थ—यह (जीवात्मा) अच्छेद्य है। यह अदाह्य है। अक्लेद्य और अशोष्य भी है। यह (जीवात्मा) नित्य, सर्व-गत, स्थाणु (स्थिर), अचल और सनातन है ॥२४॥

व्याख्या—शस्त्रादि कोई साधन इस आत्मा को काट नहीं सकता। इसलिए यह अच्छेद्य है। इस आत्मा को अग्नि आदि कोई साधन जलाकर नष्ट नहीं कर सकता। इसलिए यह अदाह्य है। किसी प्रकार का भी तरल पदार्थ इसे गीला नहीं कर सकता, न गिला सकता है तथा न अपने में डुबोकर नष्ट कर सकता है। इसलिए वह अक्लेद्य है। किसी प्रकार की वायु या गैस इसे सुखाकर उड़ा नहीं सकती। इसलिए यह अशोष्य है। यह आत्मा एकरस तथा सदा रहने वाली है। इसलिए नित्य है। सर्वव्यापक है। इसलिये सर्व-गत है। सदैव टिके रहने वाली है। खम्भे या खूंटे की भाँति एक स्थान से हिलने या कांपने वाली नहीं है। इसलिए स्थाणु कहलाती है। अनादि काल से सर्वत्र एकरस विद्यमान है। अतः अचल है। किसी को कुछ भी पता नहीं है कि यह आत्मा कब से विद्यमान है। इसलिए सनातन कहलाती है।

यह आत्मा तो निराकार और निर्विकार है और इसकी रचना किसी भौतिक तत्त्व से नहीं हुई है। इसलिए कोई भी भौतिक तत्त्व—ठोस, तरल, गैस, अग्नि या आकाश दूसरों के साथ मिलकर अथवा अकेला इसमें परिवर्तन या इसका नाश नहीं कर सकता। एक ही स्थान पर रहते हुए कांपते रहना 'हिलना' कहलाता है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना 'चलना' है। इन दोनों क्रियाओं का आत्मा में अभाव है। इसलिए वह स्थाणु और अचल कहलाती है। श्रुति में कहा है—

"आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः वृक्ष इव
स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः निष्कलं शान्तम्"
इति।

अर्थात् यह आत्मा आकाशवत् सर्वव्यापक नित्य, वृक्ष के समान स्तब्ध (स्थाणु या अचल) हुई स्थित है। अपने स्वप्रकाश में लीन है। एक या अद्वितीय है। निरवयव है। निष्क्रिय है। और शान्त स्वरूप है॥

जिस वस्तु के अङ्ग हों अथवा तत्त्वों या परमाणुओं के मिलने से बनी हुई हो वही काटी जा सकती है अथवा कूट-पीटकर टुकड़े-टुकड़े की जा सकती है। उसी में अग्नि का प्रवेश हो सकता है। उसी में जल घुस सकता है। उसी में हवा प्रवेश करके उसे सुखा सकती है परन्तु आत्मा तो उक्त श्रुति के अनुसार निरवयव है। इसमें किसी भौतिक तत्त्व पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि या आकाश

का प्रविष्ट होना सम्भव नहीं है। वह तो स्वयं इन सबमें रहती हुई भी इन सबसे अलिप्त रहती है। जैसा कि इस श्रुति में कहा है—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो योऽप्सु
तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसो-
ऽन्तरो यो वायौ तिष्ठन्वायोऽन्तरः" इति ॥

अर्थात् जो आत्मा पृथ्वी में रहती हुई पृथ्वी से रहित है, जो जलों में रहती हुई जलों से अलग है, जो अग्निरूप तेज में रहती हुई अग्निरूप तेज से पृथक् है, जो वायु में स्थित हुई भी वायु से भिन्न है॥

इसलिए हे अर्जुन ! तू आत्मा को अच्छी तरह भली-भाँति जान ले और धर्म-युद्ध में जुट जा। तुझे भीष्म द्रोणादि को मारने का कोई पाप न लगेगा॥

श्री स्वामी शंकराचार्य जी लिखते हैं—

"इन श्लोकों में पुनरुक्ति के दोष का आरोप नहीं करना चाहिए, क्योंकि "न जायते म्रियते वा" इस एक श्लोक के द्वारा ही आत्मा की नित्यता और निर्विकारिता तो कही गई, तो फिर आत्मा के विषय में जो भी कुछ कहा जाए वह इस श्लोक के अर्थ से अतिरिक्त नहीं है। कोई शब्द से पुनरुक्त है और कोई अर्थ से पुनरुक्त है॥

परन्तु आत्मतत्त्व बहुत दुर्बोध है। सहज ही समझ में आने वाला नहीं है। इसलिए बारंबार प्रसंग उपस्थित करके दूसरे-दूसरे शब्दों से भगवान् वासुदेव उसी तत्त्व का निरूपण करते हैं। यह सोचकर कि किसी भी तरह वह अव्यक्त तत्त्व इन संसारी पुरुषों के बुद्धिगोचर होकर संसार की निवृत्ति का कारण हो॥" ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अव्यक्तः+अयम्+अचिन्त्यः+अयम्+अविकार्यः+अयम्+उच्यते ।
तस्मात्+एवम्+विदित्वा+एनम्+न+अनुशोचितुम्+अर्हसि ॥

अव्यक्तः=(वि०) सर्व-करणाविषयत्वाद् न व्यज्यते इति अव्यक्तः=(यह आत्मा बुद्धि आदि) सब कारणों का विषय न होने के कारण व्यक्त नहीं होती अर्थात् जानी नहीं जा सकती, अतः अव्यक्त है। न व्यक्तः (नञ् तत्पु०)। वि √अञ्ज् (रुधा० पर० सक०=प्रकाशित करना)+क्त= अव्यक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=अव्यक्तः=जो प्रत्यक्ष न हो। अगोचर। अज्ञेय। अचिन्त्य।

[जो पदार्थ नेत्रादि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का विषय होता है वह प्रत्यक्ष या व्यक्त कहलाता है। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श वाली सोचने योग्य सब वस्तुएँ व्यक्त होती हैं परन्तु आत्मा या परमात्मा में इनमें से कोई भी गुण नहीं है। इसलिये इसका नाम अव्यक्त है।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह (आत्मा)।

अचिन्त्यः=(वि०) यद् इन्द्रियगोचरं वस्तु तत् चिन्ताविषयत्वम् आपद्यते। अयं तु आत्मा अनिन्द्रियगोचरत्वाद् अचिन्त्यः=जो पदार्थ इन्द्रियगोचर होता है, वही चिन्तन का विषय होता है। यह आत्मा इन्द्रियगोचर न होने से अचिन्त्य है।

√चिन्त+यत्+(पुं०) प्र०, ए० व०=चिन्त्यः। न चिन्त्यः=अचिन्त्यः (नञ् तत्पु०)।

जो पदार्थ अनुमान प्रमाण-जन्य ज्ञान का विषय हो वह 'चिन्त्य' कहलाता है और जो वस्तु अनुमान प्रमाण-जन्य ज्ञान का विषय न हो उसे 'अचिन्त्य' कहते हैं॥

अयम्=(सर्व०) (पुं०) प्र० ए० व०=यह (आत्मा)।

अविकार्यः=(वि०) यथा क्षीरं दध्यातञ्चनादिना विकारि, न तथा अयम् आत्मा=जैसे दही के जामन आदि से दूध विकारी हो जाता है वैसे यह आत्मा नहीं।

वि√कृ+यत्+(पुं०) प्र० ए० व०=विकार्यः। न विकार्यः=अविकार्यः (नञ् तत्पु०)। विकार होने के अयोग्य। परिवर्तन होने से रहित।

अयम्=(सर्व०) (पुं०) प्र० ए० व०=यह (आत्मा)।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना) कर्मवाच्य, लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है।

तस्मात्=इससे। इसलिए।

एवम्=(अव्यय) √इ+वमु=इस प्रकार।

विदित्वा=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+क्त्वा=जानकर।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अनुशोचितुम्=अनु√शुच् (भ्वा० पर० अक०=शोक करना)+तुमुन्=शोक करने के लिए।

अर्हसि=√अर्ह् (भ्वा० पर० सक०=योग्य होना)+लट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) योग्य है॥

अर्थ—यह (आत्मा) अव्यक्त (बुद्धि आदि का अविषय), अचिन्त्य (मन का अविषय) और अविकार्य (निराकार होने से विकारों से रहित) कही जाती है। इसलिये (इस आत्मा को) इस प्रकार जानकर (तू) शोक करने के लिये योग्य नहीं है ॥२५॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! आत्मा किसी समय भी नेत्रादि इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान का विषय नहीं है। इसलिये उपनिषदों और वेद शास्त्रों में इसे 'अव्यक्त' कहा गया है।

इसी प्रकार मन का अविषय होने से आत्मा को अचिन्त्य कहा गया है क्योंकि आत्मा के स्वरूप, आकार और शक्ति के सम्बन्ध में कुछ भी सोचा नहीं जा सकता। आत्मा निरवयव या निराकार है। इसलिए उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिये उसे अविकार्य कहा जाता है। अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय जो यह स्थूल शरीर है उसका नाम व्यक्त है। इस स्थूल शरीर से आत्मा नितांत भिन्न है। इसलिये उसका नाम अव्यक्त कहा गया है।

रूपादि के प्रकाश-रूप-कार्य के द्वारा अनुमान करने योग्य जो नेत्रादि का समुदाय सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर है उसका नाम 'चिन्त्य' है। इस लिङ्ग शरीर से भी यह आत्मा सर्वथा भिन्न है। इसलिये श्रुति द्वारा इसे 'अचिन्त्य' कहा गया है।

स्थूल, सूक्ष्मरूप कार्यभाव करके स्थित होने योग्य जो त्रिगुणात्मकमूलक अज्ञानरूप कारण शरीर है उसका नाम विकार्य है। आत्मा उससे भी सर्वथा भिन्न है। अतः वेद शास्त्रों द्वारा अविकार्य कहा गया है।

आत्मा के दो रूप कहे गये हैं—एक आत्मा। दूसरा जीवात्मा। इनमें से जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों के सूक्ष्म तत्त्वों से बने हुए लिङ्ग शरीर तथा कारण शरीरों के साथ एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त होता है। ठीक इसी प्रकार से जैसे तीव्र वायु के वेग से बहते हुए जल में बुदबुदे बन जाते हैं जिनके ऊपर पानी का छिलका या गिलाफ होता है और भीतर हवा भरी हुई होती है और बीच वाली हवा और बाहर वाली हवा में कोई अन्तर नहीं होता। इसी प्रकार जीवों या प्राणियों के भीतर वाली आत्मा और सर्वव्यापक आत्मा में भी कोई अन्तर नहीं है। तो भी भीतर वाली आत्मा—'जीवात्मा' कहलाती है और सर्वव्यापक केवल 'आत्मा' कहा जाता है जैसे बुदबुदों के टूट जाने से उनके भीतर और बाहर की वायु में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता इसी प्रकार शरीरों के नष्ट हो जाने पर जीवात्मा और आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। इन बुदबुदों की भाँति बार-बार शरीर बनते और बिगड़ते रहते हैं और शरीरों के भीतर रमण करने वाला जीवात्मा

देही या देहधारी कहलाता है। सर्वव्यापक आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा या परन्तम एक ही अनन्त का नाम है। परन्तु कार्यरूप में कुछ भेद है जैसे एक ही व्यक्ति सम्बन्धों के विचार से पुत्र भी है, भाई भी है, पिता भी है, डाक्टर भी है, और अपने-अपने स्थान पर उसका व्यवहार भी भिन्न-भिन्न होता है। इसी प्रकार यह देही शरीरधारी होकर सगुण कहलाता है और शरीर से बाहर होकर निर्गुण कहलाता है। परमात्मा जो निराकार, निर्विकार आदि गुणों वाला है, शब्दों द्वारा उसका ठीक-ठीक वर्णन तो हो ही नहीं सकता केवल 'गोश्रृङ्गग्राहिका न्याय' से ही किया जाता है। जैसे किसी मनुष्य ने किसी दूसरे मनुष्य से पूछा, हमारी गाय कौन सी है। उत्तर देने वाले व्यक्ति ने एक गाय का सींग पकड़कर कहा कि तुम्हारी गाय यह है। परन्तु केवल एक सींग मात्र तो उसकी गाय नहीं है। किन्तु गाय वाले ने कहने वाले व्यक्ति का आशय तो अवश्य समझ लिया है और अपने चेहरे के उतार-चढ़ाव से इस बारे में अपना सन्तोष भी व्यक्त कर दिया है। ब्रह्म को समझाने के लिये भी कुछ इसी प्रकार की युक्ति, उक्तियों से गुरु को काम लेना पड़ता है। यदि शिष्य के भाग्य की प्रबलता हो तो उसका बेड़ा पार हो जाता है॥

इसलिये हे अर्जुन ! जब आत्म—नित्य, सर्वगत, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार है तब फिर उसके लिए तेरा शोक करना व्यर्थ है। श्रुति में कहा है—

"तरति शोकमात्मवित्" अर्थात् आत्मा के वास्तव स्वरूप को जानने वाला सब शोकों को तर जाता है ॥२५॥

टिप्पणी—भगवान् ने २५ श्लोक तक आत्मा या परमात्मा का ठीक स्वरूप अर्जुन को समझाने का प्रयत्न किया है। अब अगले श्लोक से अज्ञानी मनुष्य की गलत धारणा को ठीक बतलाकर उसके अनुसार ही अर्जुन को समझाते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथ च+एनम्+नित्य-जातम्+नित्यम्+वा मन्यसे मृतम् । तथापि त्वम्+महाबाहो ! न+एवम्+शोचितुम्+अर्हसि ॥

अथ=(अव्यय) यदि ।

च=(अव्यय) और ।

एनम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्विती० ए० व०=इस (आत्मा) को ।

नित्य-जातम्=(वि०) नित्यं जातम्=सदा जन्मता हुआ। सदा जन्मने वाला। [√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+क्त+द्वितीं० ए० व०=जातम्=उत्पन्न हुआ। नियमेन भवः, नि+त्यप्=नित्य। सदा।]

नित्यम्=(वि०) द्वितीं०, ए० व०=हर रोज। सदा। नित्य।

वा=(अव्यय) या। अथवा।

मन्यसे=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=जानना, मानना)+लट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) मानता है।

मृतम्=√मृ (तुदा० आत्म० अक०=मरना)+क्त+मृत+प्र०, द्वितीं० ए० व०=मरा हुआ। मरने वाला।

तथा+अपि=(अव्यय) तो भी।

त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र० ए० व०=तू।

महा-बाहो!=(पुं० सम्बो० ए० व०) महान्तौ बाहू यस्य सः (बहुव्री०)। हे लम्बी भुजाओं वाले (अर्जुन)! हे बड़ी पहुँच वाले (अर्जुन)!

[√मह्+अति='महत्'—इस महत् शब्द का समास में 'आत्व' हो जाने से 'महा' रूप हो जाता है। बाधते शत्रून्, √बाध्+कु, हकारादेशः=बाहु (पुं०)।]

न=(अव्यय) न। नहीं।

एवम्=(अव्यय) इस प्रकार।

शोचितुम्=√शुच् (भ्वा० पर० अक०=शोक करना)+तुमुन्=शोक करने के लिए।

अर्हसि=√अर्ह् (भ्वा० पर० सक०=योग्य होना)+लट्०, म० पु०, ए० व० =योग्य है।

अर्थ—और यदि तू इस (आत्मा) को (शरीरों के साथ ही) सदा जन्मने वाला अथवा सदा मरने वाला मानता है। हे विशाल भुजाओं वाले (अर्जुन)! तो भी तू इस प्रकार शोक करने के लिए योग्य नहीं है ॥२६॥

व्याख्या—हे महाबाहो (अर्जुन)! तू तो लम्बी भुजाओं वाला है। जिसकी भुजाएँ लम्बी हों वह तो ईश्वरांशावतार माना जाता है। वह कभी तेरी तरह अज्ञानियों जैसी बातें नहीं किया करता। दूसरे तुम तो अधिक पहुँच वाले (=महाबाहु) हो जिसका सारथी और सखा स्वयं साक्षात् परमात्मा है। फिर भी तेरी बुद्धि महामोहरूप दलदल में फँसी हुई है, यह बड़े आश्चर्य की बात है। तुम तो महाज्ञानी (=महाबाहु) भी हो। परन्तु मेरे द्वारा आत्मतत्त्व अच्छी तरह समझाए जाने पर भी तुम उसे समझ नहीं सके हो

क्योंकि यदि तुम समझ गए होते तो यह अवश्य कहते कि मैं इस आत्मा के तत्त्व को समझ गया हूँ। मेरे द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को सुनकर भी अभी तक चुप साधे बैठे हो। यद्यपि आत्मा का जो स्वरूप मैंने तुम्हारे प्रति कथन किया है वही ठीक और यथार्थ है। परन्तु मुझे ऐसा मालूम होता है कि तूने उसे स्वीकार नहीं किया और अपने मनमाने पक्ष पर ही अड़े हुए हो। ठीक है —हे महाबाहो! आपके रोने-धोने और शोक करने से हम थोड़ी देर के लिये यह बात मान लेते हैं कि शरीर के मरने के साथ ही आत्मा भी मर जाती है और फिर शरीर के जन्मने के साथ ही नई आत्मा भी जन्म धारण करती है। अर्थात् आत्मा जन्मी हुई भी होती है और मरी हुई भी होती है। तो फिर इस विषय में भी तुझको चिन्ता या शोक न करना चाहिए क्योंकि यह मृत्यु केवल भीष्मादि की न होगी अपितु सब प्राणियों की ही होगी। जो भी जन्मेगा वह अवश्य ही मरेगा। तू तो महाबाहु अर्थात् सब मनुष्यों में श्रेष्ठ है। इसलिए तू तो किसी प्रकार शोक करने के लिये योग्य नहीं है ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जातस्य हि ध्रुवः+मृत्युः+ध्रुवम्+जन्म मृतस्य च। तस्मात्+अपरिहार्ये +अर्थे न त्वम्+शोचितुम्+अर्हसि ॥

जातस्य=(वि०) √जन्+क्त+(पुं०) षष्ठी ए० व०=जन्मे हुए की।
हि=(अव्यय) क्योंकि।
ध्रुवः=(वि०)√ध्रु (भ्वा० पर० अक०=स्थिर होना)+क=ध्रुव+(पुं०) प्र० ए० व०=निश्चित।
मृत्युः=(पुं०)√मृ (तुदा० आत्म० अक०=मरना)+त्युक्=मृत्यु+प्र० ए० व०=मौत। मृत्यु।
ध्रुवम्=(वि०) ध्रुव+(नपुं०) प्र० ए० व०=निश्चित।
जन्म=(नपुं०)√जन्+मनिन्=जन्मन्+प्र० ए० व०=जन्म। उत्पत्ति।
मृतस्य=(वि०)√मृ+क्त+(पुं०) षष्ठी ए० व०=मरे हुए का।
च=(अव्यय) और।
तस्मात्=इसलिए।
अ-परिहार्ये=(वि०) न परिहार्ये (नञ् तत्पु०)।
[परि√हृ (भ्वा० उभ० सक०=हर लेना। दूर करना)+ण्यत्= परिहार्य+(नपुं०, पुं०) सप्त० ए० व० ॥]

जिसका परिहार न किया जा सके। जिससे न बचा जा सके। बिना उपाय वाले। अटल (बात) में। न हटने वाली (बात) में ॥

अर्थे=√अर्थ् (चुरा० आत्म० सक०=मतलब होना)+अच्=अर्थ+सप्त० ए० व०=अर्थ में। मतलब में। बारे में। विषय में।

न=न। नहीं।

त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र० ए० व०=तू।

शोचितुम्=शोक करने के लिए।

अर्हसि=योग्य है ॥

अर्थ—क्योंकि (आत्मा को जन्मता हुआ और मरता हुआ मान लेने पर भी) जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म (होना भी) निश्चित है। इसलिए (इस) न हटाए जाने वाले (ला-इलाज) विषय में तू शोक करने के लिए योग्य नहीं है ॥२७॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यह ठीक है कि आत्मा सत्, नित्य, अज, अविकार्य, अचिन्त और निर्गुण है और सगुण होने के लिये शरीरों में प्रविष्ट होती है। पूरबले कर्मों के अनुसार शरीरों की रचना होती है। शरीर का नाश होने पर आत्मा नवीन बन रहे शरीर को प्राप्त हो जाती है। संचित कर्मों के अनुसार सदा ऐसा ही होता रहता है। परन्तु ज्ञान-अग्नि के द्वारा जब ये शुभाशुभ कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं तो यह आत्मा अपने परब्रह्म स्वरूप में मिलकर निर्गुण स्वरूप को प्राप्त हो जाती है। जैसे नदियों का जल समुद्र के जल में जाकर अपनी हस्ती या व्यक्तित्व खो देता है अथवा पानी के बुदबुदे में बन्द हुई वायु, वायुमण्डल में मिलकर अपने अलग अस्तित्व या नाम को खो देती है। इसका नाम मोक्ष या जन्म-मरण से छुटकारा पाना है। मुक्त हुआ मनुष्य प्रभु के परमधाम को प्राप्त हो जाता है और वह परमधाम कहीं किसी दूर के स्थान का नाम नहीं है। वह तो हमारे भीतर, बाहर और सर्वत्र विद्यमान है। परन्तु 'न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः" (गी० १५।६॥) अर्थात् सूर्य की धूप (या प्रकाश) जैसे दूसरी वस्तुओं को हमारे दृष्टिगोचर कर सकती है वैसे उस परमधाम (परमात्मा) को प्रकाश में नहीं ला सकती है। न चन्द्रमा की चाँदनी उसे प्रकाशित कर सकती है और न अग्नि ही उस पर अपना प्रकाश डाल सकती है चाहे वह गैस के लैम्प में जल रही हो, चाहे वह बिजली के बल्ब या स्टिक के रूप में प्रकाश दे रही हो।

मैं मानता हूँ तू आर्य है। अपने धर्म के विरुद्ध किसी भी मान्यता को मान नहीं सकता। परन्तु आत्मा सम्बन्धी मेरे उपदेश को सुनकर तू चुप हो

रहा है। इसलिए तू मुझसे आत्मा सम्बन्धी अनार्य पक्ष को सुनने का भी इच्छुक मालूम होता है। सो भी सुन—

यद्यपि आत्मा जन्मने और मरने वाली नहीं है तो भी कुछ देर के लिए यदि इसको ऐसा भी मान लिया जाए तो फिर भी यह तो अटल नियम है कि जिसका जन्म होता है उसका मरना भी निश्चित है। पृथ्वी से कोई भी वस्तु सदा के लिए नष्ट या लुप्त नहीं होती। सब वस्तुएं केवल अपने रूप बदलती हैं। जैसे पानी कभी तरल होता है, तो कभी गैसों (ऑक्सिजन और हाइड्रोजन) का रूप धारण कर लेता है और कभी ठोस बर्फ या ओलों के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यही इस पानी का जन्मना और मरना है। सोना आदि धातुएँ खानों से निकाली जाती हैं जो प्रयोग में आकर मिट्टी हो जाती हैं। किसी धातु या वस्तु का भण्डार समाप्त नहीं होता क्योंकि वे सब मरकर फिर उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार आत्मा को भी यदि तू मरने वाला और उत्पन्न होने वाला समझता है तो भीष्मादि सम्बन्धी भी युद्ध में मरकर फिर किसी रूप में उत्पन्न हो जाएंगे। तो फिर तू क्यों उनके मरने की चिन्ता और शोक करता है। इस जन्मने और मरने में तेरा वश भी क्या है? उनका यह मरना भी तुम्हारे किसी उपाय से रुक या टल नहीं सकता। इसलिये तू शोक मत कर।

"महाभारत आदि० १६०।२॥" में लिखा है—

"अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः।
अवश्यं भाविन्यर्थे वै सन्तापो नेह विद्यते॥"

अर्थात् इस लोक में सब मनुष्यों द्वारा अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होना है इसलिए इस अवश्य होने वाली बात के लिए निश्चय ही इस संसार में सन्ताप के लिये कोई स्थान नहीं है॥ ऐसा ही "अध्यात्मरामायण अयो० ७।६९॥" में भी कहा है—

"जन्मवान् यदि लोकेऽस्मिंस्तर्हि तं मृत्युरन्वगात्।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे मृत्युर्जन्मवतां सदा॥"

अर्थात् यदि इस लोक में सब जन्म लेने वाले मृत्यु को प्राप्त होते रहे हैं तो फिर इससे सब जीवों की मृत्यु निश्चित है॥

इसलिये इस सम्बन्ध में थोड़ा भी शोक न करना चाहिए। तुम्हें अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए सदा धर्म-युद्ध ही करना चाहिए॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥२८॥

अव्यक्त+आदीनि भूतानि व्यक्त-मध्यानि भारत !। अव्यक्त-निधनानि +एव तत्र का परिदेवना ।।

अव्यक्त+आदीनि=(वि०) अव्यक्तम् अदर्शनम् अनुपलब्धिः आदिः येषां (भूतानां) तानि (बहुव्री०)=अव्यक्त (न दिखाई देना या उपलब्ध न होना) ही जिनका आदि है वे सब (भूत) हैं। [नपुं०, प्र०, ब० व०]
[अव्यक्त=(वि०) न व्यक्त (नञ् तत्पु०)।
वि √अञ्ज् (भ्वा० उभ० सक०)+क्त=व्यक्त।
अव्यक्त=अस्पष्ट। अगोचर। इन्द्रियों के गोचर न होने वाले। अप्रकट।
आदीनि=(वि०) आ √दा+कि=आदि+प्र० ब० व०=आदि वाले]
अप्रकट हैं आदि जिनके वे हैं। जन्म से पहले न दिखाई देने वाले अर्थात् जन्म से पहले बिना शरीर वाले।

भूतानि=(नपुं०) √भू+क्त=भूत+प्र० ब० व०=सारे प्राणी। सारे जन्मे हुए जीव।

व्यक्त-मध्यानि=(वि०) व्यक्तं दर्शनम् उपलब्धिः मध्यं येषां (भूतानां) तानि (बहुव्री०)=व्यक्त (दिखाई देते हुए) हैं मध्य में जो वे हैं (सब भूत)। [नपुं०, प्र० ब० व०]। प्रकट है मध्य जिनका। बीच में शरीरधारी दिखाई देने वाले हैं। मध्य प्रकट वाले।
[मध्य=(वि०)√मन्+यक्, नि० ह्स्य धः=बीच। बीच का समय। मध्यवर्ती काल में]
मध्यवर्ती काल में प्रकट या शरीरों वाले हैं।

भारत !=(पुं०, सम्बो० ए० व०) हे भरतवंश में उत्पन्न अर्जुन ! ।।

अव्यक्त-निधनानि=(वि०) अव्यक्तम् अदर्शनं निधनं मरणं येषां तानि (बहुव्री०)। अव्यक्त निधन है। अदृश्य होना ही जिनका निधन (मरण) है। मरने के बाद भी अदृश्य ही हो जाते हैं।
जिनके नाश या मरण अप्रकट (बिना शरीर वाले) हैं। वे हैं ।।
[नि√धा+क्यु=निधन=नाश। मरण। अवसान। समाप्ति।]

एव=(अव्यय) ही।

तत्र=(अव्यय) वहाँ। इस विषय में। इस बारे में। ऐसी स्थिति में।

का=(सर्व०) किम्+(स्त्री०) प्र० ए० व०=कौन सी। कैसी। क्या।

परिदेवना=(स्त्री०) परि√दिव्+न+टाप्=परिदेवना+प्र० ए० व०= चिन्ता। विलापिता। बहुत अधिक रोना-धोना।

अर्थ—हे भरतवंश में उत्पन्न हुए अर्जुन ! सब प्राणी अप्रकट आदि वाले (जन्म से पहले बिना शरीर वाले), प्रकट मध्य वाले (बीच में शरीर वाले

अर्थात् जन्म लेकर शरीर वाले), और अप्रकट अन्त वाले (मरने के अनन्तर भी बिना शरीर वाले) ही हैं। फिर ऐसी स्थिति में रोने-धोने या शोक करने से क्या लाभ है ?॥२८॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब तक जीव गर्भ में नहीं आता तब तक उसका कोई शरीर नहीं होता अर्थात् तब वह अव्यक्त या अप्रकट होता है। जन्म से पहले की अवस्था ही जीव की आदि अवस्था है।

जब प्राणी गर्भ से बाहर आता है तो सुन्दर शिशु के रूप में पहली बार उसके दर्शन होते हैं। फिर वह बढ़कर कुमारावस्था को प्राप्त होता है। तदनन्तर युवक बनता है। अन्त में बूढ़ा होकर मरणावस्था तक पहुँच जाता है। जन्म से मरण पर्यन्त का समय प्राणी का जीवनकाल कहलाता है। जीव का यह जीवनकाल ही यहाँ उसकी मध्यावस्था कही गई है। जिसमें वह जीता-जागता, खाता-पीता और श्वास लेता हुआ इन्द्रियगोचर रहता है। इन्द्रियों के गोचर होने का नाम ही व्यक्त या प्रकट होना है ॥

मरणोपरान्त उसकी मृतक देह को भी भस्म कर दिया जाता है। उस समय वह फिर अव्यक्त या अप्रकट हो जाता है। अर्थात् उस समय हमारी इन्द्रियों को उसकी सत्ता का कोई अनुभव या ज्ञान नहीं होता है।

कोई मनुष्य जब स्वप्न देखता है तो कभी-कभी उसको स्वप्न में अपने दिवंगत प्रियजनों से भी मिलाप होता है। उस स्वप्नावस्था में दिवंगत लोग व्यक्त होते हैं। परन्तु स्वप्न के पूर्व और पीछे वे सब अव्यक्त होते हैं। इसी प्रकार यह जगत् भी एक बड़ा स्वप्न है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने से अन्य जीवों को व्यक्त से अव्यक्त होते हुए और फिर व्यक्त होते हुए देखता है और उनसे प्रभावित होकर ठीक इसी प्रकार हँसता और रोता है जिस प्रकार प्रियजनों के मरण का स्वप्न देखता हुआ पुरुष रोता है और पुत्रजन्म का स्वप्न देखता हुआ आनन्द और खुशी का अनुभव करता है। परन्तु जागने पर न शोक शेष रहता है और न आनन्द और खुशी बाकी रहते हैं। यही बात ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् होती है।

यह संसार एक बहुत बड़े गोल विशाल भवन के समान है जिसका फर्श पृथ्वी है और ऊपर और सब दिशाओं में नीला आकाश प्याले की तरह उलटाकर रखा हुआ है। सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र पूर्व में निकलते हैं और सारे आकाश पर चलकर पश्चिम में अस्त हो जाते हैं। उदय होने से पूर्व और अस्त होने के बाद ये सब अव्यक्त होते हैं। केवल इस ऊपर के आकाश में चलते हुए ही व्यक्त होते हैं। इस जीव-संसाररूपी भवन के भी दो द्वार हैं। पूर्व का द्वार तो माता के उदर के साथ है जिसे लाँघकर जीव व्यक्त होता है और

पश्चिम का द्वार जलता हुआ श्मशान है जिसे लाँघकर जीव फिर उसी अव्यक्त या घोर अन्धकार में समा जाता है जहाँ से इस संसार में आया था। पूर्वी द्वार का नाम जन्म-द्वार है और पश्चिमी द्वार का नाम मरण-द्वार है। जीव जन्म-द्वार में दाखिल होने से पहले किसी को दिखाई नहीं देता। अतः वह आदि में अव्यक्त होता है और जीवनकाल में व्यक्त होता है। मरण-द्वार से बाहर जाकर पुनः अव्यक्त हो जाता है। हे अर्जुन भीष्म द्रोणादि सब भूत सदा इसी प्रकार अव्यक्त से व्यक्त और फिर व्यक्त से अव्यक्त होते रहते हैं। इसलिये सब प्राणियों के शरीर मायामय होने से अनित्य हैं। इसलिये इन शरीरों के नाश को सोचकर शोक करना उचित नहीं है। क्योंकि हे अर्जुन! प्रत्येक जीव की यह यात्रा तो सदा चलती ही रहती है। इसलिये किसी के मरने पर रोना-धोना या शोक करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है॥

महाभारत में स्त्रीपर्व के दूसरे अध्याय में विदुर ने कहा है—

"अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना॥"

अर्थात् अदर्शन से आए हुए या जन्म से पहले जो अप्रकट थे और फिर (मरकर) अदर्शन को प्राप्त हो गये हैं। ये न तेरे हैं और न तू उनका है। फिर उनके मरने पर तेरा यह रोना-धोना और शोक करना व्यर्थ है।

शास्त्र में यह भी कहा है—

"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा॥"

अर्थात् जो पदार्थ आदि काल में तथा अन्त काल में नहीं होता वह पदार्थ मध्य काल में भी नहीं होता। इस प्रकार यह शरीर भी जब आदि और अन्त में नहीं होता तब मध्य काल में भी इसकी स्थिरता नहीं होती। ऐसे मिथ्या और अत्यन्त तुच्छ शरीर के लिये दुःख और शोक करना किसी प्रकार भी तेरे लिए उचित नहीं है।

"महाभारत ११।२।६॥" में इस भाव को इस प्रकार प्रकट किया गया है—

"अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत!
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥"

अर्थात् हे अर्जुन! सभी प्राणी आदि में भी अभाव वाले होते हैं और अन्त में भी अभाव वाले होते हैं। केवल मध्य में ही भाव वाले होते हैं तो फिर इस सम्बन्ध में रोना-धोना कैसा?॥२८॥

इस श्लोक के बाद श्री स्वामी शंकराचार्य जी लिखते हैं—

"दुर्विज्ञेयः अयं प्रकृत आत्मा किं त्वाम् एव
एकम् उपालभे साधारणे भ्रान्ति निमित्ते।
कथं दुर्विज्ञेयः अयम् आत्मा इति आह॥"

अर्थात् जिसका प्रकरण चल रहा है वह यह आत्मा दुर्विज्ञेय है। सर्व-साधारण को भ्रान्ति करा देने वाले विषय में केवल एक तुझे ही क्या उलाहना दूँ? यह आत्मा दुर्विज्ञेय कैसे है? सो अगले श्लोक में कहते हैं॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

आश्चर्यवत्+पश्यति कश्चित्+एनम्+आश्चर्यवत्+वदति तथा+एव च+अन्यः। आश्चर्यवत्+च+एनम्+अन्यः+शृणोति श्रुत्वा+अपि+एनम्+वेद न च+एव कश्चित्॥

आश्चर्य-वत्=(वि०) आश्चर्यम् अद्भुतम् अकस्माद् दृश्यमानं तेन तुल्यम्=आश्चर्यवद्=आश्चर्यम् इव=पहले जो न देखा गया हो, ऐसे अद्भुत पदार्थ का नाम आश्चर्य है, उसके सदृश का आश्चर्यवत् है।

[आ√चर् (चुरा० पर० सक०=शक करना)+ण्यत्, सुट्=आश्चर्य (वि०)=विस्मय। हैरानी।

वत्=(अव्यय) √वा+डति=वत्। सदृश। समान। जैसा। सा।]

आश्चर्य सा। हैरान सा। आश्चर्य में डूबा हुआ सा। हैरान करने वाला सा।

पश्यति=√दृश्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=देखता है।

कश्चित्=(सर्व०) किम्+(पुं०) प्र० ए० व०=कः+चित्=कश्चित्=कोई (महापुरुष)।

एनम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्वितीο ए० व०=इसको। इस (आत्मा) को।

आश्चर्य-वत्=१—हैरान हुआ सा। चकित हुआ सा। २—हैरान करने वाला सा। चकित करने वाला सा।

वदति=√वद्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहता है।

तथा=(अव्यय) वैसे।

एव=(अव्यय) ही।

च=(अव्यय) और।

अन्यः=(सर्वं०) अन्य+(पुं०) प्र० ए० व०=दूसरा। दूसरा (कोई महापुरुष)।

आश्चर्य-वत्=आश्चर्य सा। आश्चर्य करने वाला सा।

च=(अव्यय) और।

एनम्=इसको। इस (आत्मा) को।

अन्यः=√अन् (दिवा० आत्म० अक०=प्राण धारण करना)+य+(पुं०) प्र० ए० व०=दूसरा (कोई महापुरुष)।

शृणोति=√श्रु (स्वा० पर० सक०=सुनना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व० =सुनता है।

श्रुत्वा=√श्रु+क्त्वा=सुनकर।

अपि=(अव्यय) भी।

एनम्=इसको। इस (आत्मा) को।

वेद=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०= जानता है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

च=और।

एव=ही।

कश्चित्=कोई (अभागा पुरुष)।

अर्थ—इस (आत्मा) को कोई (महापुरुष) आश्चर्यवत् (१—आश्चर्य हुआ सा। २—आश्चर्य करने वाला सा) देखता है। और दूसरा (कोई महापुरुष) इस (आत्मा) को आश्चर्यवत् (१—हैरान सा २—अद्भुत वस्तु की तरह) देखता है। और दूसरा (कोई अधिकारी पुरुष) इस आत्मा को आश्चर्यवत् सुनता है। और कोई (अभागा पुरुष) इस (आत्मा को महापुरुषों से) सुनकर भी समझता ही नहीं है॥२९॥

व्याख्या—'आश्चर्यवत्' पद 'एनम्' (इस आत्मा को) का विशेषण भी माना जा सकता है और 'देखने', 'कहने' और 'सुनने' वाले तीनों कर्ताओं का विशेषण भी समझा जा सकता है। तथा यह पद 'पश्यति', 'वदति' और 'शृणोति' क्रियाओं का क्रियाविशेषण भी है। इससे उसका भाव कर्ता और कर्म दोनों में अपने आप ही आ जाता है।

पहला अर्थ करने में विशेषता यह है कि आत्मा ऐसी वस्तु का नाम है जो बहुत अनोखी, विचित्र और अद्भुत है तथा अति दुर्बोध है। इसलिये आश्चर्य या हैरानी में डालने वाली है। विलक्षण और विस्मयजनक है।

उसका ठीक स्वरूप जानना, देखना अथवा कहना अति कठिन है क्योंकि यह आनन्द स्वरूप आत्मा दुःखी हुई सी प्रतीत होती है। विद्यमान भी अविद्यमान सा हुआ है। चेतनरूप भी जड़वत् भासमान हो रहा है। विकारों से रहित होता हुआ भी विकारवान मालूम होता है। इस प्रकार अनेक प्रकार की आश्चर्यरूपिता आत्मा में भासमान होती है इसलिये ऐसी अद्भुत आत्मा का साक्षात्कार सहस्रों में से कोई एक ब्रह्मज्ञानी ही करता है।

दूसरे अर्थ में विशेषता यह है कि आत्मा का ठीक स्वरूप देखने वाले योगीजन भी आश्चर्यवत् (हैरान हुए से) हैं। कथन या उसका वर्णन करने वाले महात्मा, विद्वान्, विज्ञानी तथा ब्रह्मवेत्ता लोग भी दांतों तले अंगुली दबाए हुए सोच रहे हैं कि क्या कहा जाए अथवा क्या न कहें। सुनने वाले भी आश्चर्यान्वित हुए सोच रहे हैं कि हम क्या सुन रहे हैं वह आत्मा जो कभी शरीरों को धारण करती है और कभी छोड़ती सी प्रतीत होती है वह निर्लेप, निष्पक्ष और अकर्ता कैसे हो सकती है। इस प्रकार देखने, कहने और सुनने वाले तीनों आत्मा के विषय में आश्चर्यवत् हैं।

एक ऐसे अभागे मन्दबुद्धि लोग भी हैं जो महात्माओं के मुखारविन्द से बार-बार सुनकर भी उसको समझ नहीं पाते हैं। परन्तु हे अर्जुन ! तू तो ऐसा मूर्ख, अज्ञानी और अभागा नहीं है जो मुझसे सुनकर भी आत्मा के स्वरूप से अवगत नहीं हुआ है।

इसलिये ज्ञानी बनो और शोक को त्यागकर इस समय के युद्धरूप कर्तव्य का पालन करो। आत्मा के सम्बन्ध में यह एक श्रुति है—

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"

क्योंकि आत्मा को न पाकर वहाँ से मन सहित वचन वहाँ से लौट आते हैं। इससे आत्मा अति दुर्बोध और दुर्विज्ञेय है।

कठोपनिषद् का यह मन्त्र भी इस श्लोक के भाव को प्रदर्शित करता है—

"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वतोऽपि बहवो यं न विदुः।
आश्चर्यो वक्ता, कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥"
(१।२।७॥)

अर्थ—जो (आत्मा) बहुतों द्वारा सुनने के लिये भी प्राप्त नहीं होती, अर्थात् जिस आत्मा के सम्बन्ध में सुनना भी बहुतों को उपलब्ध नहीं होता और बहुत से सुनने वाले भी जिसे जान नहीं पाते उस आत्मा का वर्णन करने वाला भी कोई पुरुष आश्चर्ययुक्त ही होता है। उसको प्राप्त करने वाला भी कोई कुशल पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

देही नित्यम्+अवध्यः+अयम्+देहे सर्वस्य भारत ! । तस्मात्+सर्वाणि भूतानि न त्वम्+शोचितुम्+अर्हसि ॥

देही=(वि०) देह+इनि=देहिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=देही=शरीरधारी (आत्मा)।

नित्यम्=(अव्यय) नित्य ही। प्रतिदिन। हर रोज। सदा। हमेशा।

अवध्यः=(वि०) न वध्यः (नञ्०)। वधम् अर्हति=वध्यः। √हन्+अप् वधादेशः। वध+यत्=वध्य+(पुं०) प्र० ए० व०=वध्यः।

अवध्यः=जिसका वध नहीं किया सकता। जो मारा नहीं जा सकता।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०= यह।

देहे=(नपुं०, पुं०) दिह् (अदा० उभ० सक०=लेप करना। भ्रष्ट करना)+ घञ्=देह+सप्त० ए० व०=देह में। शरीर में।

सर्वस्य=(वि०) सर्व+(पुं०) षष्ठी ए० व०=सबके।

भारत !=हे भरतवंश में उत्पन्न अर्जुन !।

तस्मात्=इसलिये।

सर्वाणि=(सर्व० वि०) सर्व+(नपुं०) द्विती० ब० व०=सबको।

भूतानि=(नपुं०)√भू+क्त=भूत+द्विती० ब० व०=भूतों को। प्राणियों को।

न=न। नहीं।

त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र० ए० व०=तू।

शोचितुम्=√शुच्+तुमुन्=शोक करने के लिए।

अर्हसि=√अर्ह्+लट्०, म० पु०, ए० व०=योग्य है॥

अर्थ—हे (उत्तम) भरतवंश में उत्पन्न हुए अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीर में सदा ही अवध्य है। इसलिये सब प्राणियों के लिये तू शोक करने को योग्य नहीं है॥३०॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू उस भरत के वंश में उत्पन्न हुआ है जो शूर-वीर प्रतापी महाराज दुष्यन्त के पुत्र थे। इसलिये आत्मा सम्बन्धी ज्ञान को समझने के लिये तू योग्य है। हे अर्जुन ! देहधारी यह जीवात्मा किसी समय भी मारा जाने वाला नहीं है और किसी भी उपाय से मारा नहीं जा सकता। यह संसार में सद् अव्यक्त या व्यक्त रूप में वर्तमान रहता है। यह जानकर भी

फिर तुझे भीष्म द्रोण आदि सम्बन्धियों के मरने की चिन्ता क्यों हो रही है ? और उनके मरने से पहले ही शोक क्यों कर रहे हो। क्या तेरे रोने-धोने या शोक करने पर उनके ये दृश्यमान शरीर सदा स्थिर रह सकेंगे। कदापि नहीं। यदि यही बात है तो शोक और चिन्ता को त्यागकर अपने कर्तव्य का पालन करते हुए युद्ध को करो।

•

स्वामी चिद्घनानन्द गिरि जी लिखते हैं—

"हे अर्जुन ! ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त जितने भी प्राणी हैं उन सबके शरीरों के नाश होने पर भी यह लिङ्ग शरीररूप उपाधि वाला आत्मा नाश को प्राप्त नहीं होता। जैसे घटरूप उपाधियों के नाश होने पर भी उन घड़ों में स्थित आकाश का नाश नहीं होता। जिस कारण से यह बात नियमपूर्वक है उसी कारण से भीष्म-द्रोणादि-भाव को प्राप्त हुए ये स्थूल, सूक्ष्मरूप आकाशादि सारे भूत हैं। उन भूतों को उद्देश्य करके तू शोक करने को योग्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि इस स्थूल शरीर का तो अवश्य ही नाश होगा और उस नाश को हटा सकने में कोई भी समर्थ नहीं है। इसलिये इस नाशवान् स्थूल शरीर का शोक करना तेरे लिये उचित नहीं है और सूक्ष्म शरीर तो आत्मा की भाँति शस्त्रादि से नाश को प्राप्त नहीं होता। इससे इस लिङ्ग देह का भी शोक करना तेरे लिए ठीक नहीं है। इसलिये स्थूल देह, लिङ्ग देह, कारण देह तथा आत्मा इन सबका ही शोक करना उचित नहीं है।"

इस श्लोक पर लोकमान्य तिलक की टीका और व्याख्या इस प्रकार है :—

(३०) सबके शरीर में (रहने वाला) शरीर का स्वामी (आत्मा) सर्वदा अवध्य अर्थात् कभी भी वध न किया जाने वाला है। अतएव हे भारत (अर्जुन) ! सब अर्थात् किसी भी प्राणी के विषय में शोक करना तुझे उचित नहीं है ॥

[अब तक यह सिद्ध किया गया कि सांख्य या संन्यास मार्ग के तत्त्वज्ञानानुसार आत्मा अमर है और देह तो स्वभाव से ही अनित्य है। इस कारण कोई मरे, या मारे, उसमें शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

परन्तु इससे यदि कोई यह अनुमान कर ले कि कोई किसी को मारे तो इसमें भी 'पाप' नहीं; तो यह भयंकर भूल होगी। मरना या मारना, इन दो शब्दों के अर्थों का यह पृथक्करण है, मरने या मारने में जो डर लगता है उसे पहले दूर करने के लिए ही यह ज्ञान बतलाया है। मनुष्य तो आत्मा और देह का समुच्चय है। इनमें आत्मा अमर है। इसलिए मरना या मारना ये दोनों

शब्द इसे उपयुक्त नहीं होते। बाकी रह गई देह, सो वह तो स्वभाव से ही अनित्य है। यदि उसका नाश हो जाये तो शोक करने योग्य कुछ है ही नहीं। परन्तु यदृच्छा या काल की गति से कोई मर जाये या किसी को कोई मार डाले, तो उसका सुख दुःख न मानकर शोक करना छोड़ दें तो भी इस प्रश्न का निपटारा हो नहीं जाता कि युद्ध जैसा घोर कर्म करने के लिये जानबूझकर, प्रवृत्त होकर, लोगों के शरीरों का नाश हम क्यों करें। क्योंकि देह यद्यपि अनित्य है तथापि आत्मा का पक्का कल्याण या मोक्ष सम्पादन कर देने के लिये देह ही तो एक साधन है। अतएव आत्महत्या करना अथवा बिना योग्य कारणों के किसी दूसरे को मार डालना, ये दोनों शास्त्रानुसार घोर पातक ही हैं। इसलिये मरे हुए का शोक करना यद्यपि उचित नहीं है, तो भी इसका कुछ न कुछ प्रबल कारण बतलाना आवश्यक है कि एक दूसरे को क्यों मारें। इसका नाम धर्माधर्म-विवेक है और गीता का वास्तविक प्रतिपाद्य विषय भी यही है। अब जो चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था सांख्य-मार्ग को ही सम्मत है उसके अनुसार भी युद्ध करना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू मरने मारने का शोक मत कर। इतना ही नहीं बल्कि लड़ाई में मरना या मार डालना ये दोनों बातें क्षत्रिय धर्मानुसार तुझको आवश्यक ही हैं॥] ॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

स्व-धर्मम्+अपि च अवेक्ष्य न विकम्पितुम्+अर्हसि। धर्म्यात्+हि युद्धात् +श्रेयः+अन्यत्+क्षत्रियस्य न विद्यते॥

स्व-धर्मम्=(नपुं० पुं०) स्वस्य धर्मम् (षष्ठी तत्पु०) अपने धर्म को। अपने युद्ध करने के क्षत्रिय धर्म को। [√धृ+मन्=धर्म+द्वितीo एo वo =धर्म को]।

अपि=(अव्यय) भी।

च=(अव्यय) और।

अवेक्ष्य=अव√ईक्ष्+ल्यप्=देखकर।

न=(अव्यय) न। नहीं।

विकम्पितुम्=वि√कम्प्+तुमुन्=कांपने के लिये। डोलने के लिए। भय करने के लिये।

अर्हसि=√अर्ह्+लट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) योग्य है।

धर्म्यात्=(वि०) धर्म+यत्=धर्म्य+पंच० ए० व०=धर्मयुक्त से। धर्म वाले से।

हि=(अव्यय) क्योंकि ।

युद्धात्=(नपुं०)√युध्+क्त=युद्ध+पंच० ए० व०=युद्ध से। युद्ध से बढ़कर।

श्रेयः=(वि०) अतिशयेन प्रशस्यः। प्रशस्य+ईयसुन्, श्र आदेश=श्रेयस्+प्र०, ए० व०=श्रेयः। बेहतर। उत्कृष्टतम्। कल्याणमय। श्रेष्ठ। कल्याणकारक (कर्तव्य)।

अन्यत्=(नपुं०)√अन्+यत्=अन्यत्+प्र०, ए० व०=दूसरा।

क्षत्रियस्य=(पुं०)√क्षण्+क्विप्, क्षत् ततः त्रायते,√त्रै+क=क्षत्र+घ—इ=क्षत्रिय+षष्ठी ए० व०=क्षत्रिय के लिये। क्षत्रिय जाति के लिए। क्षत्रिय का।

न=(अव्यय) न। नहीं।

विद्यते=√विद् (दिवा० आत्म० अक०=होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=होता है। है॥

अर्थ—और अपने (क्षत्रिय) धर्म को देखकर भी (तू) कांपने (डोलने या डरने) के लिये योग्य नहीं हैं क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से श्रेष्ठतम (या कल्याणमय) क्षत्रिय का दूसरा (कोई कर्तव्य) नहीं है॥ ३१॥

व्याख्या—अर्जुन ने धर्म के विषय में इस अध्याय और पहले अध्याय में जिन विचारों को प्रकट किया था; भगवान् ने आत्मा की नित्यता, शाश्वतता और अवध्यता आदि गुणों का वर्णन करके अर्जुन का भ्रम दूर कर दिया है और अब वे कहते हैं कि क्षत्रिय लोग अपने धर्म अर्थात् धर्मयुद्ध को उपस्थित हुआ देखकर घबराया नहीं करते, न कांपते हैं, न भय खाते हैं और न कायरता दिखाते हैं। क्षत्रियों के लिए धर्मयुक्त युद्ध करने से बढ़कर और कोई श्रेष्ठतम धर्म नहीं है जिसका उपदेश महाभारत और स्मृतियों में स्थान-स्थान पर किया गया है। आगे चलकर गीता अध्याय १८, श्लोक ४३ में भी क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म इस प्रकार कहे गये हैं—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥"

"महाभारत शान्ति० ५५।१४॥" में लिखा है—

"ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण! समरे देहपातनम्॥"

अर्थात् भगवान् कृष्ण के प्रति भीष्म जी कहते हैं—हे कृष्ण ! जैसे ब्राह्मणों का धर्म—दान, तप और वेद-शास्त्रों को पढ़ना है वैसे क्षत्रियों का धर्म युद्ध में स्वदेह त्यागना है ।

और भी—

"अधर्मः क्षत्रियस्यैषः यच्छय्या मरणं भवेत् ।
विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ॥"

[महा० शां ६७।२३]

अर्थात् हे युधिष्ठिर ! थूकते तथा मल-मूत्र त्यागते हुए दीनता से रोते हुए क्षत्रिय का (बीमार होकर) जो बिछौने पर मरना होता है वह इस क्षत्रिय का अधर्म है ॥

भगवान् मनु ने भी कहा है—

"समोत्तमाधमैः राजा चाहूतः पालयन् प्रजाः ।
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥"

(मनु० ७।८७ ॥)

अर्थात् अपनी प्रजा का पालन करता हुआ क्षत्रिय अपने समान, अधिक शक्तिशाली अथवा कमजोरों से संग्राम करने के लिए ललकारा या आवाहन किया हुआ अपने क्षत्रिय धर्म को याद करता हुआ युद्ध से पीछे न हटे ।

इत्यादि शास्त्रोक्त अनेक वचनों से प्रकट होता है कि क्षत्रिय योद्धा, धर्म-युद्ध से कभी मुँह न मोड़े चाहे मरना ही क्यों न पड़े ।

इसलिए हे अर्जुन ! अपने क्षत्रिय धर्म को विचारकर युद्ध करने के लिए तैयार हो जाओ ॥३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

यदृच्छया च+उपपन्नम्+स्वर्ग-द्वारम्+अपावृतम् । सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! लभन्ते युद्धम्+ईदृशम् ॥

यदृच्छया=(स्त्री०) यद्+√ऋच्छ् (तुदा० पर० सक०=जाना)+अ+टाप्=यदृच्छा+तृती० ए० व०=यदृच्छया । अप्रार्थितया । अनिच्छा से । बिना माँगे । स्वेच्छा से । अपने आप । अकस्मात् ।

च=(अव्यय) और ।

उपपन्नम्=(वि०) उप√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=प्राप्त होना । जाना)+क्त=उपपन्न+(नपुं०) द्वितीय० ए० व०=उपपन्नम् । आगतम् । प्राप्तम् । प्राप्त हुए को । मिले हुए को ।

स्वर्ग-द्वारम्=(नपुं०) स्वर्गस्य द्वारम् (षष्ठी तत्पु०) स्वर्ग के द्वार को। स्वर्ग द्वार रूप को। [स्वरतः गीयते (स्वर सहित गाया जाता है) √गै+ क व सु √ऋज्+घञ्=स्वर्ग। देवलोक।

√द्वृ+णिच्+अच्=द्वार+द्विती० ए० व०=द्वार को। द्वार रूप को।]

अपावृतम्=(वि०) अप—आ√वृ (भ्वा० पर०+सक०)+क्त=अपावृत+ (नपुं०) द्विती० ए० व०=अपावृतम्। उद्घाटितम्। खुले हुए को।

सुखिनः=(वि०) √सुख्+इनि=सुखिन्+(पुं०) प्र० ब० व०=सुखी। भाग्यवान्।

क्षत्रियाः=(पुं०) प्र० ब० व०=क्षत्रिय लोग (ही)।

पार्थ!=हे माता कुन्ती के (भाग्यवान्) पुत्र (अर्जुन)!।

लभन्ते=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना। पाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त करते हैं। पाते हैं।

युद्धम्=(नपुं) √युध्+क्त=युद्ध+द्विती० ए० व०=युद्ध को। संग्राम को।

ईदृशम्=(वि०) इदम्+√दृश्+क्विप्, 'इ' दीर्घः+द्विती० ए० व०=इस प्रकार के—को॥

अर्थ—हे कुन्ती माता के (भाग्यवान्) पुत्र (अर्जुन)! अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के (धर्म-) युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग (ही) प्राप्त करते हैं॥३२॥

व्याख्या—पृथापुत्र कहकर भगवान् ने अर्जुन को उसकी वीर माता का स्मरण कराया है तथा कुन्ती के उस वीरोचित सन्देश की ओर ध्यान दिलाया है जो सन्धि-वार्ता में विफल हुए भगवान् कृष्ण के हस्तिनापुर से लौटते समय उनके द्वारा पाण्डवों को दिया गया था। माता कुन्ती ने कहा था—

"एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥"

[महा० उ०, १३७।९।]

अर्थात् धनञ्जय नामधारी अर्जुन से तथा नित्य उद्योगशील वृकोदर नाम वाले भीम से यह कहना—कि जिस कार्य के लिये क्षत्रिय-माता पुत्र को जन्म देती है अब उस कार्य के करने का यह समय आ गया है॥

अपने आप ही यह युद्ध आप लोगों को प्राप्त हुआ है क्योंकि तुम लोग तो कौरवों के साथ लड़ना ही नहीं चाहते थे। पाँच ग्राम लेकर भी सन्धि करने के लिये तैयार थे। परन्तु तुम्हारे शत्रु तो तुम्हें सूई के छेद जितनी भूमि भी देना नहीं चाहते थे। छल-बल तथा धोखे आदि सभी उपायों से

तुम्हारा नाश करना चाहते थे और तुम लोगों को मारकर अकण्टक राज्य करना उन कौरवों का ध्येय और मुख्य उद्देश्य था। अतः यह युद्ध उन शत्रुओं के द्वारा तुम्हारे गले मढ़ दिया गया है। अब बिना युद्ध किये तुम्हारे लिये और कोई चारा या मार्ग नहीं रह गया है। इसलिये यह युद्ध तुम्हें स्वयं अपने आप ही आकर प्राप्त हो गया है। ऐसा धर्मयुद्ध क्षत्रिय के लिये खुले हुए स्वर्गद्वार के समान होता है अर्थात् युद्ध में मरने के पश्चात् उसे तत्काल स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। दान-पुण्य और यज्ञादि के करने से भी स्वर्ग की प्राप्ति तो होती है परन्तु वह तत्काल या इतनी जल्दी नहीं होती। यह भी पता नहीं कि कितने वर्षों के बाद मृत्यु हो और फिर तब कहीं जाकर स्वर्ग मिले। यह भी पता नहीं कि किया हुआ हवन, दान, पुण्य और यज्ञादि सफल भी हुआ है अथवा नहीं? प्रभु को पसन्द भी आया है या नहीं? अभिमान या किसी अन्य कारण से विफल तो नहीं हो गया है? जिससे स्वर्ग ही न हो सके। परन्तु युद्ध में वीरगति पाने वाले तो तत्क्षण ही स्वर्ग में प्रवेश करते हैं। इसलिए यहाँ भगवान् ने युद्ध को 'स्वर्ग का खुला हुआ द्वार' कहा है ॥

महाभारत के पर्व ६ अध्याय १७ श्लोक ९, १० में लिखा है—

"इदं वः क्षत्रिया ! द्वारं स्वर्गायापावृतं महत् ।
गच्छध्वं तेन शक्रस्य ब्रह्मणः सह लोकताम् ॥
एष वः शाश्वतः पन्थाः पूर्वैः पूर्वतरैः कृतः ।
सम्भावयध्वमात्मानमव्यग्रमनसो युधि ॥"

अर्थात् हे क्षत्रियो ! तुम्हारे लिए यह बड़ा स्वर्ग का द्वार खुला हुआ है। उसी से इन्द्र और ब्रह्मलोकों को जाओ ॥९॥

पहले ऋषियों ने तुम्हारे लिये पहले ही शाश्वत् मार्ग प्रदर्शित किया है। इसलिये तुम सावधान-चित्त होकर युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ ॥१०॥

हे अर्जुन ! वे क्षत्रिय लोग बहुत भाग्यशाली और सुकृति होते हैं जिनको धर्मयुद्ध में लड़ने का अवसर प्राप्त होता है। इसलिए अब तुम इस यदृच्छया उपपन्न युद्ध में लड़ने के लिए कटिबद्ध हो जाओ। इसी में तेरा कल्याण है। इसी में तेरी भलाई है ॥३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अथ चेत्+त्वम्+इमम्+धर्म्यम्+संग्रामम्+न करिष्यसि। ततः स्वधर्मम्+कीर्तिम्+च हित्वा पापम्+अवाप्स्यसि ॥

अथ=(अव्यय)√अर्थ्+ड, पृषो० र लोप=और।

चेत्=(अव्यय)√चित्+विच्=यदि।

त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र० ए० व०=तू।

इमम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

धर्म्यम्=(वि०) धर्मात् अनपेतः, धर्म+यत्=धर्म्य+(पुं०) द्विती० ए० व० =धर्मयुक्त को। धर्म से ओतप्रोत को।

संग्रामम्=(पुं०)√संग्राम् (चुरा० उभ० सक०=युद्ध करना)+अच्= संग्राम+द्विती० ए० व०=संग्राम को। युद्ध को।

न=(अव्यय) न। नहीं।

करिष्यसि=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लृट्०, म० पु०, ए० व० =करेगा। (तू) करेगा।

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=तब। तो।

स्व-धर्मम्=(नपुं०, पुं०) स्वं धर्मम्। स्वस्य धर्मम्। अपने धर्म को। अपने क्षत्रिय धर्म को।

[√धृ+मन्=धर्म+द्विती० ए० व०=धर्म को।]

कीर्तिम्=(स्त्री०)√कॄत् (चुरा० पर० सक०=प्रशंसा करना। यश होना) +क्तिन्=कीर्ति+द्विती० ए० व०=कीर्ति को। महादेव आदि के साथ युद्ध करने से प्राप्त हुई कीर्ति को। यश को।

च=(अव्यय) और।

हित्वा=√हा (जुहो० पर० सक०=छोड़ना)+क्त्वा=त्यागकर। छोड़कर। खोकर।

पापम्=(नपुं०) पाति=रक्षति अस्मात् आत्मानम्। √पा (अदा० पर० सक०=बचाना)+प=पाप+द्विती० ए० व०=पाप को। बुरे कामों से प्राप्त होने वाले फल को। बुरी गति को।

अवाप्स्यसि=अव√आप् (चुरा०, स्वा०, पर० सक०=प्राप्त होना)+लृट्०, म० पु०, ए० व०=प्राप्त होगा।

अर्थ—और यदि तू इस धर्ममय युद्ध को नहीं करेगा तो अपने (क्षत्रिय) धर्म को और (महादेव आदि के साथ युद्ध करने से प्राप्त हुई) कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा ॥३३॥

व्याख्या—हे अर्जुन! यह युद्ध तेरे लिये धर्मयुद्ध है क्योंकि कौरवरूप शत्रुओं ने आप लोगों का स्वत्व द्यूतादि के मिस अधर्म द्वारा छीन लिया है।

उसको वापस लेना तेरे जैसे क्षत्रियों का परम धर्म है। क्षत्रिय के लिए शत्रुओं से निपटने के साम, दाम, भेद और दण्ड चार उपाय होते हैं, जिनमें से पहले तीन का तो प्रयोग करके आप लोगों ने देख लिया है जो विफल हो चुके हैं। अब केवल शत्रुओं को दण्ड देना या युद्ध करना ही शेष रह गया है। इस समय सामने खड़े शत्रु तुम्हें युद्ध के लिए ललकार रहे हैं और क्षात्र-धर्म भी तुम्हें युद्ध से पीछे हटने की आज्ञा नहीं देता। इस समय दोनों पक्षों के सब योद्धा लोग लड़ने के लिए रणभूमि में उतर चुके हैं। देवता लोग भी अपने निर्निमेष नेत्रों के द्वारा युद्ध कौतुक देखने के लिये विमानों द्वारा नभमण्डल में भ्रमण कर रहे हैं। देवांगनाएँ वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धाओं को वरण करने के लिये करों में पुष्पमालाएँ लिए उत्सुक और उद्यत हो चुकी हैं। नील गगन पर मेला लगा हुआ है। पृथ्वी खून की प्यासी हो रही है। रणचण्डी उतावली होकर युद्धभूमि में इधर-उधर चक्कर लगा रही है। सब योद्धाओं के हृदयों में विवाह की भाँति उत्साह भर गया है। इसलिये यह महान् युद्ध शीघ्र प्रारम्भ होने वाला है और उसमें तेरा भाग लेना परमावश्यक है। अब भी यदि तू इस धर्मयुद्ध को नहीं करेगा तो तेरा क्षात्र-धर्म नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा जिसके सम्बन्ध में महाराज मनु ने कहा है—

"यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किंचित् तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥" (मनु० ७।९४॥)

अर्थात् जो युद्ध में भयभीत होकर पीछे हटा हुआ (पुरुष) विपक्षियों द्वारा मारा जाता है वह अपने स्वामी (राजा) के किए हुए पापों को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह कि न लड़कर तेरे मारे जाने पर तू अपने धर्म को भी नाश करेगा और अपने स्वामी द्वारा किए हुए पापों के फल को भी पाएगा। शिवजी के साथ जो तूने वीरता के साथ युद्ध किया था तथा निवात कवचादि दानवों को युद्ध में मारकर जो ख्याति प्राप्त की थी जिससे तेरी कीर्ति त्रिलोकी में फैल रही है। अब इस समय उपस्थित धर्मयुद्ध को न करने से वह सारी मिट्टी में मिल जाएगी। तेरे शौर्य की सब गाथा धूमिल हो जायेगी और इस अवस्था में तेरे शत्रु और तेरे प्रशंसक दोनों तुझे कायर की उपाधि से अलंकृत कर देंगे तथा तेरे जन्म जन्मान्तरों में किए हुए पुण्य पाप में परिवर्तित हो जाएँगे क्योंकि धर्मशास्त्रों का यह स्पष्ट कथन है कि युद्ध से पराङ्मुख हुए क्षत्रिय के सब पुण्य उसके मारने वाले शत्रु या उसके स्वामी को मिल जाते हैं। जैसा कि मनु महाराज का कथन है—

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ।। (मनु० ७।९५)

अर्थात् (संग्राम में भयभीत होकर) पीछे हटे हुए और (शत्रु के द्वारा) मरे हुए के जो पुण्य कर्म स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किए हुए होते हैं वे सब उसके भर्ता या मारने वाले को मिल जाते हैं ।।

इसलिये हे अर्जुन ! अपने धर्म और अपनी कीर्ति की रक्षा करो । पाप की प्राप्ति से बचो । धर्मयुद्ध करो जिससे संसार में यश और परलोक में सुख मिले ।।३३।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।।३४।।

अकीर्तिम्+च+अपि भूतानि कथयिष्यन्ति ते+अव्ययाम् । संभावितस्य च+अकीर्तिः+मरणात्+अतिरिच्यते ।।

अकीर्तिम्=(स्त्री०) न कीर्तिम् (नञ् तत्पु०) ।√ कॄ+क्तिन्=कीर्ति । अकीर्ति +द्विती० ए० व०=अकीर्ति को । अपयश को । बदनामी को । निन्दा को । अपकीर्ति को ।

च=और ।

अपि=भी ।

भूतानि=(नपुं०) ।√भू+क्त=भूत+प्र० ब० व०=सब लोग ।

कथयिष्यन्ति=√कथ् (चुरा० उभ० सक०=कहना)+लृट्०, प्र० पु०, ब० व०=कथन करेंगे । कहेंगे ।

ते=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी ए० व०=तव, ते=तेरा । तेरी ।

अव्ययाम्=(वि०) यस्याः न व्ययः अस्ति (नञ्० बहुव्री०) वि√इण्+अच्+टाप्=अव्यया (स्त्री०)+द्विती० ए० व०=अव्यया को । अक्षय्या को । दीर्घकाला को । निरन्तर चिरकाल तक रहने वाली को ।

संभावितस्य=(वि०) सम्√भू+णिच्+क्त=संभावित+षष्ठी ए० व०= प्रतिष्ठा प्राप्त किए हुए पुरुष के (लिए) । संभावित पुरुष की । माननीय पुरुष की । इज्जतदार की ।

च=(अव्यय) और ।

अकीर्तिः=(स्त्री०) अकीर्ति+प्र० ए० व०=बदनामी । निन्दा । अपयश । अपकीर्ति । अकीर्ति । दुष्कीर्ति ।

मरणात्=(नपुं०)√मृ+ल्युट्+मरण+पंच० ए० व०=मरने से। मौत से। मृत्यु से।

अतिरिच्यते=अति√रिच्+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=बहुत अधिक (दुःखदायी) होती है। अधिक (बुरी) होती है।

अर्थ—और सब लोग तेरी चिरकाल तक रहने वाली अकीर्ति (निन्दा) को कथन करेंगे। सम्मानित पुरुष की अकीर्ति (बदनामी) मरने से भी अधिक (दुःखदायी) होती है ॥३४॥

व्याख्या—भगवान् कृष्ण ने इस बात को युधिष्ठिर से भी "महा० सभा० ७२।२४॥" में कहा था—

"कुलीनस्य च या निन्दा वधो वाऽमित्रकर्षणम्।
महागुणो वधो राजन्! न तु निन्दा कुजीविका॥"

अर्थात् हे राजन्! ऊँचे कुल वाले पुरुष की जो निन्दा या बदनामी का होना है, वह तो उसका वध है अथवा शत्रुओं के द्वारा उसको (टाँगों से पकड़कर भूमि पर मुँह के बल) घसीटना है। फिर भी ऐसा वध होना ही महान् गुण वाला है। परन्तु निन्दा या बदनामी का होना तथा कुजीविका से निर्वाह करना ये दोनों अत्यन्त दुःखदायी होते हैं॥

हे अर्जुन! यदि तू दत्तचित्त होकर इस महाभारत के युद्ध में भाग न लेगा तो सब भूत अर्थात् देवता, दानव, यक्ष-राक्षस, ऋषि-मुनि, गन्धर्व-किन्नर, उत्तम-अधम सभी मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, मिट्टी, जल, वायु, अग्नि और आकाश तुम्हें तुम्हारी निन्दा करते हुए भासमान होंगे और तेरे द्वारा सारा एकत्रित किया हुआ यश मिट्टी में मिल जायेगा। तेरे द्वारा किए हुए पुण्यों का फल नष्ट हो जायेगा और तेरी शूरवीरता ताक पर ही धरी रह जायेगी। तुम किसी को भी मुँह दिखाने के योग्य न रहोगे। मृत्यु के दिन बहुत लम्बे हो जाएँगे। असह्य बदनामी के दुःख को हटाने के लिये मुँहमाँगी मृत्यु न पा सकोगे॥

मरने का कष्ट तो घड़ी, पल अर्थात् अल्पकाल का ही होता है परन्तु बदनाम, निन्दित या अपमानित पुरुष तो जब तक जीवित रहता है उस पर प्रत्येक छोटे-बड़े की अँगुलियाँ उठती रहती हैं और उसे व्यंगपूर्ण और अपमान-सूचक शब्द सदा सुनने और सहने पड़ते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

"सम्भावित कहं अपजस लाहू।
मरण कोटि सम दारुण दाहू॥"

शूरवीर तो युद्ध में मरकर सदा के लिये अमर हो जाता है। कायर पुरुष नित्य नए सूर्य मरता है। उसका जीवन तो बिल्ले कुत्ते से भी निन्दनीय होता है। पापी पुरुष की भाँति वह सबसे लज्जा करता है और पुंश्चली नारी की तरह मुंह ढाँपकर सबसे छिपने का प्रयास करता है। उसकी कायरता की कथाएँ चिरकाल तक लोगों की बातचीत का विषय बनी रहती हैं।

लोग जिस पुरुष को अत्यन्त धर्मात्मा कहते हैं तथा अत्यन्त शूरवीर मानते हैं और जो उच्च पदाधिकारी होते हैं उन पुरुषों को संभावित पुरुष कहा जाता है। हे अर्जुन ! तुझमें भी ये सब संभावित पुरुषों जैसे गुण विद्यमान हैं। इसलिए तुम भी एक संभावित पुरुष हो। तो फिर तेरे जैसे संभावित पुरुषों की अपकीर्ति होना ठीक नहीं है। तू अपने अपयश को कदापि सहन न कर सकेगा तथा अपने क्षात्र-धर्म को त्यागकर पाप को भी प्राप्त हो जायेगा। इसलिए सदा रहने वाले अपयश से बचने के लिए और पाप से मुक्त होने के लिए धर्मयुद्ध में कूद पड़ो ॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

भयात्+रणात्+उपरतम्+मंस्यन्ते त्वाम्+महारथाः। येषाम्+च त्वम्+बहुमतः+भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

भयात्=(नपुं०)√भी+अच्=भय+पंच०, ए० व०=भय से। (कर्णादि के) डर से। [दया से नहीं]।

रणात्=(पुं०, नपुं०) रणन्ति शब्दायन्ते अत्र, √रण्+अप्=रण+पंच०, ए० व०=युद्धभूमि से। युद्ध से।

उपरतम्=(वि०) उप√रम् (भ्वा० आत्म० अक०=टिकना)+क्त=उपरत+(पुं०) द्वितो० ए० व०=उपराम हुआ। भगौड़ा हुआ। भागा हुआ। निवृत्त हुआ।

मंस्यन्ते=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=जानना। मानना)+लृट०, प्र० पु०, ब० व०=मानेंगे। जानेंगे।

त्वाम्=(सर्व०) युष्मद्+द्विती० ए० व०=तुझको।

महारथाः=(वि०) महत् शब्द को समास में आत्व हो जाने से 'महा' रूप हो जाता है। महान् रथः यस्य सः (बहुव्री०)। बहुत बड़ा जंगीरथ या टैंक है जिसका वह ॥ (पुं०) प्र० ए० व०। ऐटम बमों, मिसाइलों, राकेटों और अन्य अस्त्रों से भरे हुए टैंकों या जंगीरथों वाले विशेष युद्धविद्या

विशारद योद्धा लोग। सेनापति लोग। जरनैल। दस हजार या उससे अधिक सेना के अध्यक्ष।

येषाम्=(सर्व०) यद्+(पुं०) षष्ठी ब० व०=जिनके।

च=(अव्यय) और।

त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+प्र० ए० व०=तू।

बहु-मतः=(वि०) बहु+√मन्+क्त (पुं०) प्र० ए० व०=बहुत (बड़ा योद्धा) माना हुआ। अतिशय माननीय। बहुत माननीय। बहुमत अर्थात् बहुत से गुणों से युक्त।

भूत्वा=√भू+क्त्वा=होकर।

यास्यसि=√या (अदा० पर० सक०=जाना। प्राप्त होना)+लृट०, म० पु०, ए० व०=प्राप्त होगा।

लाघवम्=(नपुं०) लघोः भावः, लघु+अण्+द्विती० ए० व०=लाघव को। छोटाई को। हलकेपन को। लघुता को। तुच्छता को।

अर्थ—[युद्ध सामग्री से भरे हुए बड़े-बड़े रथों या टैंकों वाले युद्धकला के विशेषज्ञ] महारथी (सेनापति या जरनैल) लोग तुझको (कर्णादि के) भय से (दया से नहीं) रणभूमि से भागा हुआ (कायर पुरुष) मानेंगे और जिनका तू बहुत (बड़ा योद्धा) माना हुआ होकर भी तुच्छता को प्राप्त होगा ॥३५॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो तेरा यह कहना है कि मैं गुरुजनों और बन्धुओं को मारकर वंश का नाश नहीं करना चाहता यह ठीक नहीं है क्योंकि सच्चे क्षत्रिय का युद्धरूप धर्म त्यागकर तेरे मन में ब्राह्मण के धर्म दया का प्रादुर्भाव हुआ है। परन्तु तेरे शत्रु और प्रशंसक लोग यह कभी नहीं मानेंगे कि तू वंश के हित से दयावान् होकर युद्ध से उपरत या उपराम हुआ है। वे लोग तो यही समझेंगे कि कर्णादि बड़े-बड़े शूरवीरों को देखकर तू डर गया है और अपने प्राणों को बचाने के लिए रण से भाग निकला है। भीष्म, द्रोण, कर्ण, विराट, शल्य, द्रुपद आदि बड़े-बड़े जरनैल और सेनापति तुम्हें बहुत शूरवीर, महान् योद्धा और धर्मात्मा पुरुष समझते हैं जिससे तू उनसे सम्मानित और प्रशंसित है। सारे मित्र और शत्रु तेरा लोहा मानते हैं। समूचे संसार में तेरी वीरता की धाक बैठी हुई है। कोई व्यक्ति स्वप्न में भी यह विचार नहीं कर सकता कि कभी अर्जुन भी युद्ध से भाग निकलेगा। पृथ्वी तो अपना निश्चित मार्ग त्यागकर विचलित हो सकती है परन्तु अर्जुन कभी शत्रुओं के सम्मुख पीठ नहीं दिखा सकता ऐसा सब लोगों का विश्वास है ॥

परन्तु हे अर्जुन ! तेरा युद्ध न करने का निश्चय जब लोगों को ज्ञात होगा तो प्रत्येक व्यक्ति अवाक् रह जाएगा और विस्मित होकर दाँतों तले अँगुली दबा लेगा। किसी को भी इस बात का विश्वास न होगा कि तू सचमुच इस प्रकार युद्ध करने से उपराम हो गया है।

परन्तु जब सब लोगों को तुम्हारे युद्ध न करने के निश्चय का विश्वास हो जाएगा, तो तू सबकी दृष्टि से गिर जाएगा। जिन लोगों ने तुझे आज तक आँखों पर बिठा रखा था, वे सब प्रसिद्ध महारथियों सहित तुझको मृत्यु से डरा हुआ और प्राणों को बचाने के लिए रण से भागा हुआ कहेंगे। तब तुम्हारी कीमत दो कौड़ी भी न रह जाएगी। तेरे अपने भी पराए हो जाएँगे और इस युद्ध-संकट काल में तुम को साथ छोड़कर भाग जाने वाला समझेंगे। इसलिये तू अपने व्यर्थ के दयाभाव के विचार को इस समय तत्काल स्थगित कर दे और युद्ध में मरने मारने के लिए कमर कसकर तैयार हो जा। इसी में तेरा कल्याण है और इसी में तेरी शान है ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

अवाच्य-वादान्+च बहून् वदिष्यन्ति तव+अहिताः। निन्दन्तः+तव सामर्थ्यम्+ततः दुःखतरम्+नु किम् ?

अवाच्य-वादान्=(पुं०) अवाच्यान् वादान् (कर्मधारय०) द्विती० ब० व०= न कहने योग्य वचनों को।
[न वाच्य=अवाच्य (वि०)=√वच् ण्यत्=वाच्य।
√वद्+घञ्=वाद (पुं०)+द्विती० ब० व०]।

च=(अव्यय) और।

बहून्=(वि०)√बह्+कु=बहु+(पुं०) द्विती० ब० व०=बहुतों को। बहुत से।

वदिष्यन्ति=√वद् (भ्वा० पर० सक०=बोलना)+लृट्०, प्र० पु०, ब० व० =बोलेंगे। कहेंगे।

तव=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी ए० व०=तव, ते=तेरे।

अहिताः=(पुं०) न हिताः (नञ् तत्पु०)। प्र० ब० व०=न हित करने वाले लोग। भला न करने वाले लोग। शत्रु लोग। विरोधी लोग।

निन्दन्तः=(वि०)√निन्द् (भ्वा० पर० सक०=निन्दा करना)+शतृ= निन्दत्+(पुं०) प्र० ब० व०=निन्दा करते हुए। निन्दते हुए।

तव=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी ए० व०=तेरे।

सामर्थ्यम्=(वि०) सम् √अर्थ्+अच्=समर्थ+ष्यञ्=सामर्थ्य+(नपुं०)
द्विती० ए० व०=सामर्थ्य को। शक्ति को।

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=उससे।

दुःखतरम्=(नपुं०)√दुःख्+अच् वा घञ्=दुःख+तर+प्र० ए० व०=
अधिक दुःख।

नु=(अव्यय)√नुद्+डु=फिर। तो फिर।

किम्?=(सर्व०) किम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्या (होगा)?

अर्थ—और तेरा हित न करने वाले (अर्थात् तेरे शत्रु लोग) तेरे सामर्थ्य को निन्दते हुए (तेरे सम्बन्ध में) बहुत से न कहने योग्य वचनों को कहेंगे। तो फिर इससे अधिक दुःख (तेरे लिये) और क्या होगा? ॥३६॥

व्याख्या—तेरे द्वारा युद्ध न करने पर तेरे शत्रु दुर्योधन, कर्ण, शकुनी, जयद्रथ आदि तेरे मुँह पर तेरी निन्दा करेंगे। तुझे युद्ध से भागा हुआ कायर कहेंगे। निवात-कवचादि के साथ युद्ध करने में दिखलाए हुए तेरे सामर्थ्य को तुच्छ कहकर कथन करेंगे। तुझे राजा विराट के राजभवनों में नाचने वाला क्लीव कहकर पुकारेंगे। कहेंगे—तूने विराटनगर में नपुंसक का रूप धारण करके सचमुच ही अपने को हिजड़ा बना लिया है। इसलिये अब ये तेरे शत्रु तुझे जाता देखकर हिजड़ा कहकर कटाक्ष किया करेंगे। गालीगलौज देंगे। भाँति-भाँति के निन्दनीय आवाजें कसेंगे। व्यंग और काकु वचनों द्वारा तेरे जी को जलाएँगे। कहनी अनकहनी सभी प्रकार की बातें कहेंगे। तीक्ष्ण और हृदय-विदारक वचनों से तेरी नाक काटेंगे और तुम पर नाना प्रकार के वाग्बाणों की वर्षा करेंगे। इस प्रकार तुम्हें अपमानित करने के लिए कोई कसर बाकी न रखेंगे जिससे तुझे महापश्चात्ताप होगा। समय निकल जाने पर तुम्हें यह कहकर पछताना पड़ेगा कि अब पछताए क्या होत जब चिड़ियां चुग गईं खेत। ऐसी अवस्था में तुझ पर दुःख और शोक का पहाड़ टूट पड़ेगा। महाशोकसागर हृदय में उमड़ आएगा; तो फिर भला तुझे इससे अधिक दुःख और क्या हो सकता है। इसलिए इन सब बातों को, स्थिर किए हुए हृदय और ठण्डे किए हुए मस्तिष्क से विचारकर इस धर्मयुद्ध को दत्तचित्त हुआ डटकर लड़ ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

हतः+वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्+जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मात्+उत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृत-निश्चयः ॥

हतः=(वि०) √हन् (अदा० पर० सक०=मारना। वध करना)+क्त=
हत+(पुं०) प्र० ए० व०=मारा हुआ। मरा हुआ। वध किया हुआ।

वा=(अव्यय) √वा+क्विप्=वा। अथवा। या।

प्राप्स्यसि=प्र√आप् (स्वा० पर० सक०=पाना)+लृट्०, म० पु०, ए० व०=तू प्राप्त करेगा।

स्वर्गम्=(पुं०) स्वर्ग+द्विती० ए० व०=स्वर्ग को। देवलोक को। इन्द्रलोक को।

जित्वा=√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+क्त्वा=जीतकर।

वा=(अव्यय) वा। या। अथवा।

भोक्ष्यसे=√भुज् (रुधा० उभ० सक०=उपभोग करना। शासन करना)+लृट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) उपभोग करेगा। शासित करेगा।

महीम्=(स्त्री०) √मह् (भ्वा० पर० सक०=सम्मान करना। पूजन करना)+अच्+ङीष्=मही+द्विती० ए० व०=पृथ्वी को।

तस्मात्=(अव्यय) इसलिए।

उत्तिष्ठ=उत्√स्था (भ्वा० पर० अक०)+लोट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) उठ। (तू) उठ खड़ा हो। (तू) तैयार हो।

कौन्तेय !=(सम्बो० ए० व०, पुं०) कुन्ती+ढक् (एय)=हे कुन्ती के पुत्र (अर्जुन) !

युद्धाय=(नपुं०)√युध्+क्त=युद्ध+चतु०, ए० व०=युद्ध के लिए। संग्राम के लिए।

कृत-निश्चयः=कृतः निश्चयः येन सः भूत्वा (बहुव्री०) निश्चय करने वाला होकर। प्र० ए० व०।

अर्थ—(अपनी माता के सन्देश या उपदेश को मानने वाले) हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन) ! या (युद्ध में तू) मरा हुआ स्वर्ग को प्राप्त करेगा अथवा (शत्रुओं को) जीतकर पृथ्वी (के राज्यसुख) को भोगेगा। इसलिए युद्ध के लिए किए हुए निश्चय वाले होकर उठो ॥३७॥

व्याख्या—कौन्तेय सम्बोधन द्वारा भगवान् ने अर्जुन को माता कुन्ती का वह सन्देश पुनः स्मरण करा दिया है जो हस्तिनापुर से लौटते समय भगवान् कृष्ण के द्वारा पाण्डवों को दिया गया था कि वीर क्षत्रिय-स्त्रियाँ जिस दिन के लिए पुत्रों को जन्म दिया करती हैं वह युद्ध का दिन अब स्वयं आकर उपस्थित हो गया है। इसलिए आप लोग अपने क्षत्रिय-धर्म का पालन करते हुए इसमें पूरी तरह से जुट जाओ और मेरे स्तन से पान किए हुए दूध को सफल कर दो।

धर्मयुद्ध में मरने वाले वीर योद्धा लोग निश्चय ही स्वर्ग को प्राप्त करते हैं अथवा शत्रुओं को जीतकर पृथ्वी में राज्यसुख को भोगते हैं। इसलिए हे अर्जुन ! देखो—

"मौत हुई तो स्वर्ग है, जीत हुई तो राज।
हो कृतनिश्चय कौन्तेय, उठो युद्ध के काज ॥"

युद्ध करने से तेरे दोनों हाथों में लड्डू हैं। अतः बिना विचार किए युद्ध करो। इसी में आप लोगों का कल्याण है ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभ+अलाभौ जय+अजयौ। ततः युद्धाय युज्यस्व न+एवम् पापम्+अवाप्स्यसि ॥

सुख-दुःखे=(नपुं०) सुखं च दुःखं च ते (इतरेतर द्वन्द्व०) द्विती०, द्वि० व० =सुख और दुःख को।

[सुख=(नपुं०)√सुख्+अच् वा घञ्=मन की वह उत्तम तथा प्रिय अनुभूति, जिसके द्वारा अनुभवकर्ता का विशेष समाधान और सन्तोष होता है और जिसके बराबर बने रहने की उसे सदा अभिलाषा बनी रहती है। हर्ष। आनन्द।

दुःख=(नपुं०)√दुःख्+अच् वा घञ्=दुःख+द्विती० द्वि० व०=दुःखे =कष्ट। क्लेश। तकलीफ।]

समे=(वि०)√सम्+अच्=सम्+द्विती० द्वि० व०=समान। बराबर। तुल्य।

कृत्वा=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+क्त्वा=करके। मानकर। समझकर।

लाभ-अलाभौ=(पुं) लाभः च अलाभः च तौ (इतरेतर द्वन्द्व०)=लाभ और अलाभ (हानि) दोनों को। (द्विती० द्वि० व०)

[लाभ=(पुं०)√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना)+घञ्= लाभ। प्राप्ति। लब्धि। नफ़ा।

अलाभ=(पुं) न लाभ (नञ् तत्पु०) हानि। नुकसान।]

जय-अजयौ=(पुं०) जयः च अजयः च तौ। (इतरेतर द्वन्द्व०) द्विती० द्वि० व० =जय और अजय को। जीत और हार को। विजय और पराजय को।

[√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+अच्=जय (पुं०)। जीत। विजय।

अजय=(पुं०) न जय (नञ् तत्पु०)=हार। पराजय।]

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=उसके बाद। फिर।

युद्धाय=(नपुं०)√युध् (दिवा० आत्म० अक०=लड़ना)+क्त=युद्ध+चतु० ए० व०=युद्ध के लिए।

युज्यस्व=√युज् (दिवा० आत्म० अक०=जुड़ना। युक्त होना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=लग जा। जुड़ जा। युक्त हो। जुट जा।

न=(अव्यय) न। नहीं।

एवम्=(अव्यय)√इ+वमु=इस प्रकार।

पापम्=(नपुं०) पाति रक्षति अस्मात् आत्मानम्। √पा+प=पाप+द्विती० ए० व०=पाप को। गुनाह को।

[पाप—बुरे कामों से उत्पन्न होने वाला वह अदृष्ट जिससे मनुष्य बुरी गति को प्राप्त होता है।]

अवाप्स्यसि=अव√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=प्राप्त करना)+लृट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) प्राप्त होगा। पायेगा॥

अर्थ—सुख-दुःख, लाभ-अलाभ और जय-अजय को सम समझकर फिर युद्ध के लिए जुट जा। इस प्रकार (बन्धुओं को मारने के) पाप को (तू) प्राप्त नहीं होगा ॥३८॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यदि तू सुख और दुःख को एक समान समझेगा अर्थात् न सुख की कामना करेगा और न दुःख से ही दुःखी और परेशान होगा, न जीत की आकांक्षा करेगा न हार से खिन्न होगा तथा न लाभ को चाहेगा और न हानि की परवाह करेगा। इन सब में राग-द्वेष छोड़कर किंवा इन सब द्वन्द्वों को सम समझकर यदि तू वर्तमान होने वाले धर्मयुद्ध को करेगा, तो भीष्मादि बड़े-बूढ़ों और द्रोणादि गुरुओं तथा ब्राह्मण योद्धाओं के मारने का कोई पाप तुम्हें न लगेगा। लाभ और अलाभ दोनों विजय और पराजय के कारण होते हैं और विजय-पराजय सुख-दुःख के कारण होते हैं तथा सुख और दुःख दोनों अच्छे और बुरे कर्मों के फल होते हैं। जब ये सब कर्म निष्काम भाव से किए जाते हैं तो सुख-दुःख, लाभ-अलाभ और जय-पराजय आदि से मनुष्य का राग-द्वेष मिट जाता है। मनुष्य के हृदय में इन सबके प्रति सम भाव हो जाने से फिर पाप और पुण्य का कोई फल नहीं होता क्योंकि समदृष्टि पुरुष अपने सब कार्य केवल अपना कर्तव्य समझकर करता है। इस श्लोक की टिप्पणी में लोकमान्य तिलक महाराज इस प्रकार लिखते हैं—

"संसार में आयु बनाने के दो मार्ग हैं। एक सांख्य और दूसरा योग। इनमें से जिस सांख्य अथवा संन्यास मार्ग के आचार को ध्यान में लाकर अर्जुन युद्ध छोड़, भिक्षा मांगने के लिए तैयार हुआ था उस संन्यास मार्ग के तत्त्वज्ञानानुसार ही आत्मा का या देह का शोक करना उचित नहीं है। भगवान् ने अर्जुन को सिद्ध कर दिखाया है कि सुख और दुःखों को सम बुद्धि से सह लेना चाहिए एवं स्वधर्म की ओर ध्यान देकर युद्ध करना ही क्षत्रिय को उचित है। सम बुद्धि से युद्ध करने में कोई भी पाप नहीं लगता।

परन्तु इस मार्ग (सांख्य) का मत है कि कभी न कभी संसार छोड़कर संन्यास ले लेना ही प्रत्येक मनुष्य का इस जगत् में परम कर्तव्य है। इसलिए इष्ट जान पड़े तो अभी ही युद्ध छोड़कर "संन्यास क्यों न ले लें" अथवा "स्वधर्म का पालन ही क्यों करें" इत्यादि शंकाओं का निवारण सांख्य ज्ञान से नहीं होता; और इसी से यह कह सकते हैं कि अर्जुन का मूल आक्षेप ज्यों का त्यों बना है। अतएव अब भगवान् (अगले श्लोक में) कहते हैं—॥३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

एषा ते+अभिहिता सांख्ये बुद्धिः+योगे तु+इमाम्+शृणु। बुद्ध्या युक्तः+यया पार्थ! कर्म-बन्धम्+प्रहास्यसि॥

एषा=(सर्व०) एतद्+(स्त्री०) प्र० ए० व०=यह।

ते=(सर्व०) युष्मद्+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिये।

अभिहिता=(वि०) अभि√धा (जुहो० उभ० सक०=निर्देश करना। कहना) +क्त+(स्त्री०) प्र० ए० व०=[हि आदेश+टाप्] कही गई है।

सांख्ये=(नपुं० पुं०) सम्यक् ज्ञानम् अस्ति अत्र इत्यर्थे अण्, संख्या+अण् =सांख्य+सप्त० ए० व०=सांख्य के विषय में। परमार्थ वस्तु की पहचान के विषय में। ज्ञान-योग के विषय में।

[माया से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणी में रहते हैं, यह जानकर, तथा मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाली सारी क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित होकर, सर्वव्यापक सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहने का नाम—सांख्ययोग है। इसी को संन्यास और ज्ञानयोग आदि भी कहा जाता है।]

बुद्धिः=(स्त्री०) √बुध् (भ्वा०, दिवा०, उभ० सक०)+क्तिन्=बुद्धि+ प्र० ए० व०=बुद्धिः=समझ। मति। निश्चय। ज्ञान। विचार की बात। अभिप्राय।

योगे=(पुं०)√युज् (रुधा० दिवा० उभ० सक०=जुड़ना। एकाग्र चित्त होना)+घञ्=योग+सप्त० ए० व०=योग में। योग के विषय में। निष्काम कर्मयोग के विषय में। (आसक्ति से रहित होकर सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के त्यागपूर्वक ईश्वराराधन के लिये कर्म किए जाने वाले) कर्मयोग के विषय में।

[इस कर्मयोग को 'बुद्धियोग', 'समत्वयोग', 'तदर्थकर्म', 'मत्कर्म', इत्यादि अनेक नामों से कहा जाता है।] समाधि योग के विषय में।

तु=(अव्यय) तो। और। अब।

इमाम्=(सर्व०) इदम्+(स्त्री०) द्विती० ए० व०=इसको। इस बुद्धि को। इस ज्ञान को।

शृणु=√श्रु (स्वा० पर० सक०=सुनना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) सुन।

बुद्ध्या=(स्त्री०) बुद्धि+तृती० ए० व०=बुद्धि से। ज्ञान से।

युक्तः=(वि०)√युज्+क्त=युक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=जुड़ा हुआ। युक्त हुआ।

यया=(सर्व०) यद्+(स्त्री०) तृती० ए० व०=जिससे।

पार्थ!=हे पृथापुत्र (अर्जुन)!

कर्म-बन्धम्=(पुं०) कर्म एव बन्धः। द्विती० ए० व०=कर्मों के बन्धन को।

प्रहास्यसि=प्र√हा (जुहो० पर० सक०=त्यागना)+लृट् म० पु०, ए० व० =(तू) छोड़ देगा। नाश कर देगा। अच्छी तरह से नाश करेगा॥

अर्थ—हे पार्थ! यह बुद्धि (ज्ञान) तेरे लिए सांख्य (-योग=ज्ञानयोग) के विषय में कही गई है। अब तू इस (बुद्धि=ज्ञान) को (कर्म-) योग के विषय में (भी) सुन। जिस बुद्धि (ज्ञान) से युक्त हुआ (तू) कर्म-बन्धन को अच्छी तरह से त्याग देगा॥३९॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तू उस माता पृथा का पुत्र है जो इन्द्रादि देवताओं से भी पूज्य है। तू तो साक्षात् इन्द्र देवता का पुत्र है। अतः तुम्हें स्वर्ग-प्राप्ति तो स्वतः सिद्ध ही है। एक बार तो तुम इस जीवन में ही स्वर्ग में घूम-फिर आए हो। परन्तु इस स्वर्ग का निवास भी स्थायी और शाश्वत नहीं होता। अतः तुम्हें इससे अत्यन्त उत्तम गति मोक्ष की प्राप्ति के लिए यत्नशील होना चाहिए। इसकी प्राप्ति के लिए दो प्रसिद्ध मार्ग हैं—

१—सांख्य या ज्ञानयोग । २—कर्म या समाधियोग । ज्ञानयोग में आत्मा और परमात्मा में भेद प्रतीत नहीं होता और यह आत्मा या परमात्मा अनादि, अजन्मा, शाश्वत, सर्वज्ञ, नित्य, अव्यय, एकरस, अविनाशी, अजर, अमर, अखण्ड, सीमा-रहित आदि गुणों से अलंकृत या युक्त भासमान होने लगता है। इसका वर्णन इस अध्याय के श्लोक ११ से श्लोक ३० तक किया गया है। श्लोक ३१ से ३८ तक योग का वर्णन हुआ है और श्लोक ३८ में समत्व योग की वह विधि दर्शायी गई है जिस पर आचरण करने से मनुष्य युद्ध करता हुआ और युद्ध में दूसरों को मारता हुआ भी किसी प्रकार के पाप से लिप्त नहीं होता।

अब इस ३९वें श्लोक में भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि हे पार्थ ! ३८वें श्लोक में तथा ११ से ३० श्लोक तक मैंने तेरे लिए ज्ञानयोग का विवेचन कर दिया है। अब तू मुझसे कर्मयोग का उपदेश भी दत्तचित्त होकर सुन जिस पर आचरण करने से तू कर्मबन्धन या जन्म-मरण के बखेड़े से मुक्त हो जायेगा। इस कर्मबन्धन के विषय में कल्याण के गीतातत्त्वांक में लिखा है—

"जन्म-जन्मान्तरों में किए हुए शुभाशुभ कर्मों के संस्कारों से यह जीव बँधा हुआ है तथा इस मनुष्य शरीर में पुनः अहंता, ममता, आसक्ति और कामना से नये-नये कर्म करके और भी अधिक जकड़ा जाता है। अतः यहाँ इस जीवात्मा को बार-बार जन्म-मृत्यु रूप संसार चक्र में घुमाने के और नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न करने के हेतुभूत जन्म और जन्मान्तर में किए हुए शुभाशुभ कर्मों के संचित संस्कार समुदाय का वाचक 'कर्म-बन्धन' पद है॥

कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों में ममता, आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके तथा सिद्धि और असिद्धि में समभाव होकर यानी राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकारों से रहित होकर जो इस जन्म और जन्मान्तर में किए हुए तथा वर्तमान में किए जाने वाले समस्त कर्मों में फल उत्पन्न करने की शक्ति को नष्ट कर देना, उन कर्मों को भूने हुए बीज की भाँति भस्म कर देना है। यही उपर्युक्त बुद्धि से कर्मबन्धन को सर्वथा नष्ट कर डालना है।"

इस श्लोक पर लोकमान्य तिलक महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है—

भगवद्गीता का रहस्य समझने के लिए यह श्लोक अत्यन्त रहस्य का है। सांख्य शब्द से कपिल का सांख्य या निरा वेदान्त और योग शब्द से पातञ्जलयोग यहाँ पर उद्दिष्ट नहीं है।—सांख्य से संन्यास मार्ग और योग से कर्मयोग ही का अर्थ यहाँ पर लेना चाहिए। यह बात गीता के ३।३॥ श्लोक से प्रकट होती है। ये दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं, इनके अनुयायियों को भी क्रम से 'सांख्य' =संन्यास मार्गी और 'योग'=कर्मयोग मार्गी कहते हैं। (गीता ५।५॥)

इनमें सांख्य निष्ठा वाले लोग कभी न कभी अन्त में कर्मों को छोड़ देना ही श्रेष्ठ मानते हैं। इसलिए इस मार्ग के तत्त्व ज्ञान से अर्जुन की इस शंका का पूरा-पूरा समाधान नहीं होता कि युद्ध क्यों करें ? अतएव जिस कर्मनिष्ठा का ऐसा मत है कि संन्यास न लेकर ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी निष्काम बुद्धि से सदैव कर्म करते रहना ही प्रत्येक व्यक्ति का सच्चा पुरुषार्थ है इसी कर्मयोग का (अथवा संक्षेप में योगमार्ग का) ज्ञान बतलाना अब आरम्भ किया गया है और गीता के अन्तिम अध्याय तक अनेक कारण दिखलाते हुए, अनेक शंकाओं का निवारण कर इस मार्ग का पुष्टिकरण किया गया है। गीता के विषयनिरूपण का किया हुआ वह स्पष्टीकरण ध्यान में रखने से इस विषय में कोई शंका रह नहीं जाती कि कर्मयोग ही गीता में प्रतिपाद्य है। कर्मयोग के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों का पहले निर्देश करते हैं—" ॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

न+इह+अभिक्रम-नाशः+अस्ति प्रत्यवायः+न विद्यते । स्वल्पम्+अपि+अस्य धर्मस्य त्रायते महतः+भयात् ॥

न=(अव्यय) न । नहीं ।

इह=(अव्यय) यहाँ । कर्मयोग रूप मोक्षमार्ग में

अभिक्रम-नाशः=(पुं०) अभिक्रमः=प्रारम्भः तस्य नाशः । अभिक्रमस्य नाशः (षष्ठी तत्पु०) ।

[अभि√क्रम्+घञ् (अवृद्धि)=अभिक्रम (पुं०)=प्रारम्भ । बीज । √नश्+घञ्=नाश+(पुं०) प्र० ए० व०=नाशः=संहार । अदर्शन । लोप् । अस्तित्व न रहना ।]

अभिक्रम अर्थात् प्रारम्भ का नाश । कृषि आदि के सदृश बीज का नाश ।

अस्ति=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= होता है । है ।

प्रत्यवायः=(पुं०) प्रति अव√अय् (भ्वा० आत्म० सक०=जाना)+घञ्= प्रत्यवाय+प्र० ए० व०=प्रत्यवायः=विघ्न । उलटा फलरूप दोष । विपरीत फल ।

चिकित्सादि की तरह विपरीत फल ॥

न=न । नहीं ।

विद्यते=√विद् (दिवा० आत्म० अक०=होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =होता है । है ।

स्वल्पम्=(वि०) सुष्ठु अल्पम् (प्रा० स०)=थोड़ा सा। अल्प मात्र।
अपि=(अव्यय) भी।
अस्य=(सर्व०) इदम्+(पुं० नपुं०) षष्ठी ए० व०=इसका (अनुष्ठान)।
धर्मस्य=(पुं०, नपुं०) धर्म+षष्ठी ए० व०=(कर्मयोग रूप) धर्म का।
त्रायते=√त्रै (भ्वा० आत्म० सक०=बचाना। रक्षा करना)+लट् प्र० पु०, ए० व०=बचाता है। रक्षा करता है।
महतः=(वि०)√मह्+अति=महत्+(नपुं०) पंच० ए० व०=(जन्म-मरण रूप) महान् से। महान् से।
भयात्=(नपुं०)√भी+अच्=भय+पञ्च० ए० व०=भय से। संसार भय से।

अर्थ—इस कर्मयोग में प्रारम्भ (बीज) का नाश नहीं होता है और विपरीत फलरूप पाप भी नहीं होता है। इस (के अनुसार अनुष्ठान किए हुए) धर्म का अंश मात्र भाग भी (जन्म-मृत्यु रूप) महान् (संसार) भय से बचाता है ॥४०॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसे ऊसर (कलराठी) भूमि में हल जोतने और जल सींचने से भी बीज जन्मकर पौधे का रूप धारण नहीं करता अपितु जलकर नष्ट हो जाता है परन्तु उर्वरा भूमि में पानी देकर हल चलाकर बोया हुआ बीज उगकर लहलहाते पौधों का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार सकाम कर्म करना ऊसर क्षेत्र में बीज बोना है। परन्तु समत्व बुद्धि से प्रभु-अर्पण फलेच्छा त्यागकर निष्काम कर्म करना पानी देकर अच्छी तरह हल चलाई हुई उर्वरा भूमि में बीज बोने के समान है। धरती में बोए हुए बीज के उग आने पर भी उसे किसी समय पशु पक्षी खाकर नष्ट या समाप्त कर सकते हैं परन्तु समत्व बुद्धि से फलेच्छारहित ईश्वरार्पण किया हुआ निष्काम कर्म कभी नाश को प्राप्त नहीं होता, चाहे वह पूरा हो चुका हो, चाहे अधूरा रह गया हो, चाहे उसका स्वल्प या अंश मात्र भाग ही सम्पन्न हुआ हो तथा किसी कारण से वह अनुष्ठान बीच में अधूरा ही छोड़ दिया गया हो परन्तु उसके संस्कार पक्की तरह से साधक के अन्तःकरण में स्थित हो जाते हैं और वे संस्कार साधक को अगले जन्म में बरबस उसी साधन में लगा देते हैं। भगवान् ने स्वयं इस विषय में छठे अध्याय के श्लोक ४३, ४४ में कहा है—

"तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥"

फिर प्रत्येक जन्म में उसकी वृद्धि होती जाती है और अन्त में सच्ची सद्गति प्राप्त हो जाती है। सकाम कर्म तो चाहे लौकिक हों, चाहे वैदिक हों, उनको जब तक सांगोपांग नहीं किया जाता, तब तक वे वाञ्छित फल नहीं देते अपितु इनसे प्रत्यवाय या उलटा पाप होता है। कर्मविधि के उल्लङ्घन होने से उस काम्य-कर्म सम्बन्धी देवता, पितर आदि सब रुष्ट हो जाते हैं जिससे वह किया हुआ कर्म निष्फल और नष्ट हो जाता है बल्कि उलटा पापरूप फल प्राप्त होता है।

परन्तु पूर्वोक्त निष्काम कर्म का न तो बीज ही नष्ट होता है तथा न उससे उलटा पाप ही साधक को प्राप्त होता है। इसमें कर्मविधि के टूट जाने से भी कोई हानि नहीं होती।

जब कोई डाक्टर या वैद्य किसी रोगी को गलत या उलट पुलट दवाई दे देता है तो लाभ के स्थान पर रोगी का अनिष्ट हो जाता है। यही अवस्था विधिहीन काम्यकर्मों के करने से होती है। परन्तु भगवत्प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। इस सम्बन्ध में स्वयं भगवान् ने छठे अध्याय के चालीसवें श्लोक में कहा है—

"पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति॥"

कर्मयोग का साधक यदि कार्य को पूरा कर लेता है तो उस कर्म के द्वारा तत्क्षण उसको परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। यदि यह कार्य अधूरा रह जाता है तो अन्तःकरण में स्थित उसके संस्कारों द्वारा जन्म जन्मान्तर में उस कर्म में प्रगति होने से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है चाहे वह कर्म पूर्वजन्म में स्वल्प या बीज मात्र ही क्यों न हो। कामना से किए हुए यज्ञ, दान, हवन, तप, तीर्थयात्रा, व्रत और उपवास आदि कर्म भी यहाँ से मनुष्य का उद्धार नहीं कर सकते। परन्तु ईश्वरार्पण बिना फलेच्छा समदृष्टि से किए हुए कर्म क्षणभर में संसार-सागर से उद्धार करने वाले हो जाते हैं, चाहे साधक युद्ध करे, कृषि करे, वाणिज्य करे, किसी की नौकरी करे, चाहे कोई दस्तकारी करके अपनी आजीविका उपार्जन करे, चाहे भिक्षाटनादि कोई तुच्छ कर्म भी क्यों न करे परन्तु सदा तन (शरीर) कार में और मन यार (ईश्वर) में रहे। सब ओर सबमें एक ही अविनाशी को देखे। फलेच्छा छोड़कर सब कार्य ईश्वरार्पण करता रहे और सब कुछ प्रभु की इच्छा या प्रेरणा से होता हुआ देखे; तब फिर बेड़ा पार है क्योंकि कल्याण-साधन में कर्म की अपेक्षा भाव की प्रधानता है, श्रद्धा की महानता है।

जन्म-मरण, रोग और बुढ़ापा जीवन के चार बड़े भय हैं जिनसे दुःखी होना पड़ता है। इससे बार-बार जन्म लेना और मरते रहना ही परम क्लेश तथा महान् भय है। इस मृत्यु-सागर से परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान ही मुक्त करवा सकता है जिससे फिर जीवात्मा अपने असली रूप परमात्मा में लीन होकर तद्रूप को प्राप्त हो जाता है ॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

व्यवसाय+आत्मिका बुद्धिः+एका+इह कुरु-नन्दन !। बहु-शाखाः+हि+अनन्ताः+च बुद्धयः+अव्यवसायिनाम् ॥

व्यवसाय+आत्मिका=(वि०) व्यवसाय एवात्मा यस्याः सा (बहुव्री०)= निश्चयस्वभावा (स्त्री०)=दृढ़निश्चय ही है आत्मा (स्वभाव) जिसका वह। दृढ़निश्चय के स्वभाव वाली। निश्चयात्मिका।
[व्यवसाय=(पुं०) वि—अव√सो (दिवा० पर० सक०=पूर्ण करना) +घञ्=व्यवसाय। दृढ़ संकल्प। पक्का इरादा।
आत्मिका=(स्त्री०) आत्मा वाली। स्वभाव वाली]।

बुद्धिः=(स्त्री०)√बुध (भ्वा०, दिवा०=जानना)+क्तिन=बुद्धि+प्र० ए० व०=समझने और विचार करने की शक्ति। समझ। अक्ल। बुद्धि।

एका=(वि०), स्त्री०, प्र० ए० व०=एक (ही)।

इह=(अव्यय) यहाँ। इसमें। इस कल्याण मार्ग में।

कुरु-नन्दन ! =कुरून् नन्दयति इति सः=कुरुवंशियों को खुश करने वाला। सम्बो० ए० व०=हे कुरुनन्दन (अर्जुन) !
[√नन्द् (भ्वा० पर० अक०=प्रसन्न होना)+णिच्+ल्यु=नन्दन= प्रसन्न करने वाला]

बहु-शाखाः=(वि०) बह्व्यः शाखाः यासां ताः (बहुशाखाः=बहुभेदाः)= बहुत भेदों वाली। [स्त्री०, प्र० ब० व०]
[इन बहुशाखा बुद्धियों के शाखाभेद के विस्तार से संसार—अनन्त, अपार और अनुपरत हो जाता है।]

हि=(अव्यय) परन्तु। ही।

अनन्ताः=(स्त्री०, वि०, प्र० ब० व०) न अन्ताः यासां ताः=न अन्त वाली। अनन्त (होती हैं)।

च=(अव्यय) और।

बुद्धयः=(स्त्री०) बुद्धि+प्र० ब० व०=बुद्धियां।
अव्यवसायिनाम्=(वि०) न व्यवसायिनाम् (नञ्०)=अव्यवसायिन्+(पुं०) षष्ठी ब० व०=अस्थिर बुद्धि वालों की। न ईश्वर में दृढ़निश्चय वालों की। अज्ञानियों की। सकामियों की॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन! इस (कर्मयोग या कल्याणमार्ग) में दृढ़निश्चय स्वभावा बुद्धि तो एक ही होती है परन्तु दृढ़निश्चयरहित (अज्ञानियों या सकामियों) की बुद्धियां बहुत भेदों वाली और अनन्त होती हैं॥४१॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तुम शूरवीर हो। बहुत बुद्धिमान हो। निष्काम कर्म करने में निष्ठावान् हो। मेरे सखा हो। मुझ नारायण के साथ तुम नर-रूप में अवतरित हुए हो। इसलिये कुरुवंश के लोगों के लिए आनन्दप्रद हो। तुमने अपने धनुर्विद्या के कौशल से भी कुरुवंशियों को खुश कर रखा है। हे अर्जुन! जिन बुद्धिमान पुरुषों का निश्चय इस कर्मयोग का कल्याणमार्ग में परिपक्व हो चुका है; जो आत्मा को अजर, अमर, अनादि, अविनाशी आदि समझते हैं; सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों को सम समझकर, बिना फलेच्छा कर्तव्य कर्म करते हैं; उनकी बुद्धि व्यवसाय-आत्मिका या दृढ़निश्चय वाली होती है और उनकी उस बुद्धि में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता चाहे कोई भी कारण हो। परन्तु उनमें परिवर्तन नहीं होता। सब कर्मयोगियों में यह बुद्धि एक जैसी ही होती है तथा इस बुद्धि में किसी संग या कुसंग से कोई गड़बड़ उत्पन्न नहीं होती। वह निश्चयात्मिका बुद्धि सदैव समत्वभाव से कार्य करती है और सदा सर्वत्र काम करते समय परमात्मा का साक्षात्कार करती है। काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार आदि से रहित और पवित्र रहती है। फिर यही निश्चयात्मिका बुद्धि भवसागर से नाव की भाँति पार उतरने में सहायक होती है क्योंकि इस नाव का नाविक स्वयं परमात्मा होता है। समभाव से कर्म में युक्त पुरुष सारे कर्म ईश्वरार्पण के उद्देश्य से करता है। इस विषय में उसकी बुद्धि अलिप्त और स्थिर होती है। उसका केवल एक ही लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति होता है। परमात्मा के अंग संग रहने और भीतर बाहर रमने में उसकी पूरी आस्था और निष्ठा होती है जैसे वायुमण्डल में रहने वाले प्राणियों के भीतर बाहर वायु का संस्पर्श और संचार होता है, उसी प्रकार व्यवसयात्मिका बुद्धि पुरुष अपने भीतर बाहर, रोम-रोम में तथा अणु-अणु में सर्वव्यापक परमात्मा के संस्पर्श और संचार का अनुभव करता है। इस प्रकार उसकी दृढ़निश्चय स्वभाव वाली बुद्धि, तत्त्वचिन्तन में लीन और कर्तव्यपरायण बनी रहती है और आत्मानुभव करती है।

तत्त्वज्ञान के अनुष्ठानरूप कर्मयोग में निश्चयात्मक विचार या ज्ञान तो एक ही है। आत्मा के वास्तविक ज्ञान से दुःखों की निवृत्ति और सुख तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है तथा इसके द्वारा मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है परन्तु तत्त्वज्ञान में दृढ़निश्चय होना तथा उस निश्चय से समत्व बुद्धि द्वारा कर्मों में युक्त होना जरूरी होता है। इस विधि से स्वतः आत्मसाक्षात्कार हो जाता है और फिर मोक्ष की प्राप्ति सहज में ही हो जाती है।

परन्तु जिन लोगों में उपर्युक्त दृढ़निश्चयात्मिक बुद्धि नहीं होती उनका अन्तःकरण विषय-वासनाओं में आसक्त हो जाता है तथा उनकी बुद्धियाँ नई-नई कल्पनाओं में लीन रहती हैं और प्रतिक्षण बहुरूपिये की तरह नये रूप धारण करती रहती हैं और मनकल्पित धर्मों और कई प्रकार के मत-मतान्तरों में फँसी रहती हैं तथा घोर अन्धविश्वास में फँसकर अपना सर्वनाश कर लेती हैं। कहीं हिन्दु के रूप में प्रकट होती हैं। कहीं मुसलमान का रूप धारण कर लेती हैं। कहीं कट्टरपंथी के रूप में प्रकट हुई हैं। बाहर की वेशभूषा ही उनके अनुराग का कारण होती है। बीच से तो खोखले थोथे चने के तुल्य ही बने रहते हैं परन्तु बजते घने हैं। अपने से भिन्न धर्मावलंबी उन्हें विषवृक्षों के तुल्य दिखाई देते हैं। अपने मरने का ध्यान तो उन्हें भूलकर भी नहीं आता परन्तु दूसरों का वध कर देना ही उन्हें प्रिय लगता है। ज्ञान की डींगें मारते हैं, अपने आपको ज्ञानी कहलाते हैं परन्तु आत्मतत्त्व का ज्ञान पा लेना तो उन बेचारों के वश की बात नहीं है। सोते जागते राज्य करने के स्वप्न देखा करते हैं। मुँह में राम राम है परन्तु बगल में छुरी लिए फिरते हैं। दूसरों को मारना, लूटना और ठगना ये सब उनके नित्य-कर्म हैं। मद्यपान, मांसभक्षण, परनारीगमन, बालक-बालिकाओं का वध करना तथा दूसरों से सदा लड़ाई मोल लेना ये सब उनके नित्य के नियम हैं। ऐसे कर्महीन, विचारभ्रष्ट, ईश्वरविमुख, धर्मविरुद्ध, कपोलकल्पित धर्मावलम्बी पुरुषों की बुद्धियां डांवाडोल, अस्थिर, अनिश्चयात्मिका और बहुशाखाओं से युक्त होती हैं अर्थात् विचार, विवेकहीन, सकाम और नाना भेदों वाली होती हैं। ये लोग वाममार्गियों की भाँति "यह जग मीठा, अगला किसने डीठा" इस लोकोक्ति पर दृढ़ विश्वास किए हुए रहते हैं। पिछले जन्म के कुसंस्कारों के कारण ब्रह्मविद्या से उन्हें तनिक सा भी लगाव नहीं होता। दूसरों की उन्नति को वे सहन नहीं कर सकते। यदि कर्मवश वे कोई पदाधिकारी हो जाते हैं तो फिर तो एक करेले दूसरे नीम चढ़े बन जाते हैं। सदा ऐसी योजनाएँ बनाते और सोचते रहते हैं जिससे जनता में बदकारी और बदचलनी फैले। धर्म का अच्छी तरह से नाश हो।

अधर्म का प्रचार खूब हो। लोग मांसभक्षण करें। मदिरापान करें। पूर्वजों का मान भंग करें। धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार हो। जिसके फलस्वरूप जनता निर्धन, दुःखी और निराश होकर मानसिक अन्धकार में लीन होती हुई नरकपथगामिनी हो जाती है।

कुछ सकाम बुद्धियां खानपान की वस्तुओं में अभोज्य पदार्थ मिलाकर उनको बेचने के पाप में रत हैं। कुछ दूसरों को धोखा देकर काले धन्धे या ब्लैक व्यापार करने में लगी हुई हैं। कुछ डाकू बनकर लूट-खसोट और जनहत्या का धन्धा कर रही हैं। कहाँ तक कहा जाए। इन अव्यवसायियों की बुद्धियां बहुशाखाओं वाली और अनन्त हैं। ये लोग न कर्मयोग से युक्त हैं। न ज्ञानवान् और आत्मतत्त्व के जानने वाले हैं। अज्ञानान्धकार के निबड़ तम में फँसे हुए इधर-उधर भटक रहे हैं। जिस क्षणभङ्गुर शरीर ने नष्ट होकर पांच तत्त्वों के रूप में परिवर्तित हो जाना है उसी के निमित्त महापापकर्म कर रहे हैं ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

याम्+इमाम्+पुष्पिताम्+वाचम्+प्रवदन्ति+अविपश्चितः। वेद-वाद-रताः पार्थ ! न+अन्यत्+अस्ति+इति वादिनः ॥४२॥

काम+आत्मानः स्वर्ग-पराः+जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्। क्रिया-विशेष-बहु-लाम्+भोग+ऐश्वर्य-गतिम्+प्रति ॥४३॥

भोग+ऐश्वर्य-प्रसक्तानाम्+तया+अपहृत-चेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

याम्=(सर्व०) यद्+(स्त्री०) द्विती० ए० व०=जिसको।
[आगे कही जाने वाली पुष्पित वृक्षों जैसी शोभित—सुनने में ही रमणीय वाणी को।]
इमाम्=(सर्व०) इदम्+(स्त्री०) द्विती० ए० व०=इसको।
पुष्पिताम्=(वि०) पुष्पितवृक्ष इव शोभमानां (=श्रूयमाण-रमणीयाम्)।

√पुष्प् (दिवा० पर० अक०=खिलना)+क्त+टाप्=पुष्पिता (स्त्री०) +द्विती० ए० व०=फूली हुई को। खिली हुई को। सुहावनी को। ऊपर से रमणीय को। दिखाऊ शोभा युक्त को। ['पुष्प+इतच्' भी ठीक है।]

वाचम्=(स्त्री०) उच्यते असौ ताम्=वाक्यलक्षणाम्। √वच् (अदा० पर० सक०=कहना। बोलना)+क्विप्, दीर्घ, असम्प्रसारण=वाच्+द्विती० ए० व०=वाणी को।

प्रवदन्ति=प्र+√वद् (भ्वा० पर० सक०=बोलना। कहना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=कहते हैं। बोलते हैं।

अविपश्चितः=(वि० पुं०) अल्पमेधसः। अविवेकिनः। न विपश्चितः (नञ् तत्पु०)। विचारहीन लोग। विवेकहीन लोग। मूढ़ लोग। अज्ञानी पुरुष। अल्प बुद्धि वाले जन। [प्र०, ब० व०]

[विपश्चित्=(वि० पुं०) विप्रकृष्टं चेतति, चिनोति, चिन्तयति वा। वि-प्र√चित् (भ्वा० पर० सक०=जानना। पहचानना)+क्विप् पृषो० साधुः=पण्डित। बुद्धिमान्। सूक्ष्मदर्शी। विवेकी। ज्ञानी।]

वेद-वाद-रताः=(वि० पुं०) वेदानां वादेषु (=वाक्येषु) रताः=(बहुत अर्थ-वाद और फल साधनों को प्रकाश करने वाले) वेदों के वाक्यों में रति (प्रीति) करने वाले (अज्ञानी) लोग। वेदों की स्वर्ग आदि इच्छाओं को पूर्ण कराने वाली श्रुतियों में रत लोग। केवल फलश्रुतियों में प्रीति रखने वाले। (प्र० ब० व)।

[वेद=(पुं०) विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+घञ् वा अच्= ज्ञान। ऋक्, साम, यजु और अथर्व नाम वाले चार वेद।

वाद=(पुं०)√वद्+घञ्=वाद। वचन। वाक्य। कथन।

रताः=(वि०)√रम्+क्त=रत+(पुं०) प्र० ब० व०=रत हुए। अनुरक्त हुए।]

पार्थ !=(पुं०) पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण्=पार्थ (सम्बो० ए० व०)= हे पार्थ ! हे पृथापुत्र (अर्जुन) !

न=(अव्यय) न। नहीं।

अन्यत्=(नपुं०) और कुछ। (अतिरिक्त) अन्य कुछ। (बढ़कर) दूसरा और कुछ।

अस्ति=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०= है। होता है।

इति=(अव्यय) ऐसे। इस तरह।

वादिनः=(वि०, पुं०) वदनशीलाः ।√वद्+णिनि=वादिन्+प्र० ब० व० =बोलने वाले । कहने वाले ।।४२।।

काम-आत्मानः=(वि०) कामाः एव आत्मानः येषाम्—जिन्होंने भोग-कामनाओं को ही अपना स्वभाव बना लिया है, वे लोग । सकामी पुरुष । कामनाओं से भरे हुए चित्तों वाले । काम-स्वभावाः ।

[काम=(पुं०)√कम् (भ्वा० आत्म० सक०=चाहना)+णिङ्+घञ् =काम । कामना । इच्छा । अभिलाषा । भोगों की इच्छा ।

आत्मानः=(पुं०) प्र० ब० व०=अन्तःकरण वाले । चित्त वाले । स्वभाव वाले ।]

स्वर्गपराः=(वि० पुं०) स्वर्गः परः पुरुषो येषां, ते (बहुव्री०) स्वर्गप्रधानाः । स्वर्ग को ही प्रधान या परम श्रेष्ठ मानने वाले । स्वर्ग ही जिनका परम पुरुषार्थ है, ऐसे पुरुष । केवल स्वर्ग-प्राप्ति के ही लक्ष्य वाले । (प्र० ब० व०) ।

जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्=(वि०) कर्मणः फलम्=कर्म-फलम् । जन्म एव कर्म-फलम्, तत् प्रददाति इति जन्म-कर्म-फल-प्रदा तां=जन्मरूप कर्मफल देने वाली को ।

[प्रदाम्=(स्त्री०) प्र√दा+टाप्=प्रदा+द्विती० ए० व०=देने वाली को ।]

क्रिया-विशेष-बहुलाम्=(स्त्री०) क्रियाणां विशेषाः=क्रियाविशेषाः, ते बहुला यस्यां (वाचि) ताम् ।

[क्रियाणां विशेषा बहुला यस्यां ताम्]=बहुत सी क्रियाओं के विस्तार वाली को ।

क्रियाएँ विशेष बहुत हैं जिस (वाणी) में, उसको ।

भोग-ऐश्वर्य-गतिम्+प्रति=भोगः च ऐश्वर्यं च=भोगैश्वर्यें, तयोः गतिः (=प्राप्ति)=भोगैश्वर्यगतिः तां प्रति । भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए ।

[भोग=(पुं०)√भुज् (रुधा० पर० सक०=खाना-पीना । भोगना)+ घञ्=भोग । उपभोग । उपभोग वस्तुएँ और सुख-साधन सामग्री ।।

ऐश्वर्य=(नपुं) ईश्वर+ष्यञ्=ऐश्वर्य । प्रभुत्व । आधिपत्य । विभव । धन-संपत्ति ।

गतिम्=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+द्विती० ए० व०=गति के । प्राप्ति के ।

प्रति=(अव्यय)√प्रथ्+डति=प्रति=लिए ।।४३।।

भोग+ऐश्वर्य-प्रसक्तानाम्=भोगः च ऐश्वर्यं च इति भोगैश्वर्ये तयोः प्रसक्तानां (=प्रणयवतां, तदात्मभूतानाम्=भोग और ऐश्वर्य के प्यार में फंसे हुओं की।

[प्र√सञ्ज् (भ्वा० पर० सक०=चिपकना, चिपकाना)+क्त=प्रसक्त +(पुं०) षष्ठी ब० व०=अत्यन्त आसक्त हुओं का।]

तया=(सर्व०) तद्+(स्त्री०) तृती० ए० व०=उसके द्वारा। उससे।

अपहृत-चेतसाम्=(वि०) अपहृतानि चेतांसि येषाम् (षष्ठी तत्पु०)। हरे हुए चित्त वालों के। आच्छादितविवेकप्रज्ञानाम्=ढके हुए विवेक (=बुद्धि) वालों की।

[अपहृत=(वि०) अप्√हृ (भ्वा० उभ० सक०=हर लेना)+क्त= अपहृत=हरे हुए।

चेतसाम्=(नपुं०)√चित्+असुन्=चेतस्+षष्ठी ब० व०=चित्त वालों की।]

व्यवसाय+आत्मिका=(वि०) निश्चयात्मिका। निश्चय करने के स्वभाव वाली। दृढ़निश्चय वाली। (स्त्री०) प्र० ए० व०॥

बुद्धिः=(स्त्री०)√बुध्+क्तिन्+प्र० ए० व०=बुद्धि।

समाधौ=(पुं०) सम्—आ√धा (जुहो० उभ० सक०=स्थापित करना। बैठाना)+कि=समाधि+सप्त० ए० व०=समाधि में। (सांख्य-विषयक या योगविषयक) समाधि में।

अथवा

समाधीयते अस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वम् इति समाधिः=पुरुष के भोग के लिये जिसमें सब कुछ स्थापित किया जाता है, उसका नाम "समाधि" है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार समाधि—'अन्तःकरण' का नाम है। अन्तःकरण में (बुद्धि नहीं टिकती)। अर्थात् अन्तःकरण में (बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती)।

न=न। नहीं।

विधीयते=वि√धा+लट्० (भावे) प्र० पु०, ए० व०=ठहरती है। टिकती है। स्थिर होती है। लगती है। उत्पन्न होती है॥४४॥

अर्थ—(संस्कृत-अन्वय)—

पार्थ! कामात्मानः, वेद-वाद-रताः, स्वर्ग-पराः "अन्यत् न अस्ति" इति वादिनः, अविपश्चितः, जन्म-कर्म-फल-प्रदां, भोग-ऐश्वर्य-गतिं प्रति, क्रिया-विशेषबहुलाम्, इमां यां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति॥४२, ४३॥

तया अपहृत-चेतसां, भोग-ऐश्वर्य-प्रसक्तानां, समाधौ व्यवसाय-आत्मिका बुद्धिः न विधीयते॥४४॥

अर्थ—हे पृथापुत्र (अर्जुन) ! भोग-कामनाओं को अपना स्वभाव बनाए हुए जो पुरुष, बहुत अर्थवाद और फल साधनों को प्रकाश करने वाले वेदों के वाक्यों में प्रीति करने वाले, स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानने वाले "(इस स्वर्ग से अधिक अच्छा) और कुछ नहीं है।" ऐसा कहने वाले, अज्ञानी लोग—'जन्म-रूप कर्मफल' को देने वाली तथा भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत सी क्रियाओं के विस्तार वाली, इस प्रकार की जिस पुष्पित (फूले हुए पलाश वृक्ष की तरह दिखाऊ शोभा वाली) वाणी को कहते हैं ॥४२, ४३॥

उस वाणी द्वारा हरे हुए चित्त वाले तथा भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति वाले, उन पुरुष के समाधि में (अन्तःकरण में, **अथवा** सांख्यविषयक या योग-विषयक समाधि में) बुद्धि नहीं ठहरती [अर्थात् अन्तःकरण में बुद्धि होती ही नहीं और सांख्य या योग समाधि में बुद्धि स्थिर नहीं होती ॥४४॥

टिप्पणी—इन तीनों श्लोकों पर लोकमान्य तिलक का अर्थ और टिप्पणी इस प्रकार है—

(४२)—हे पार्थ ! (कर्म-काण्डात्मक) वेदों के (फलश्रुतियुक्त) वाक्यों में भूले हुए और यह कहने वाले मूढ़ लोग कि इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, बढ़ाकर कहा करते हैं कि—

(४३)—"अनेक प्रकार के (यज्ञ-याग आदि) कर्मों में ही (फिर) जन्म-रूप फल मिलता है और (जन्म-जन्मान्तर में) भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है," —स्वर्ग के पीछे पड़े हुए वे काम्य बुद्धि वाले (लोग)।

(४४)—उल्लिखित भाषण की ओर ही उनके मन आकर्षित हो जाने से भोग और ऐश्वर्य में ही मग्न रहते हैं; इस कारण उनकी व्यवसायात्मिका अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करने वाली बुद्धि (कभी भी) समाधिस्थ अर्थात् एक स्थान में स्थित नहीं रह सकती।

इस पर लोकमान्य तिलक जी टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

[ऊपर के तीनों श्लोकों का मिलकर एक वाक्य है। उसमें ज्ञानविरहित कर्मठ मीमांसा मार्ग वालों का वर्णन है, जो श्रौत स्मार्त कर्मकाण्ड के अनुसार आज अमुक हेतु की सिद्धि के लिए, तो कल और किसी हेतु से, सदैव स्वार्थ के लिए ही, यज्ञ-याग आदि कर्म करने में निमग्न रहते हैं। यह वर्णन उप-निषदों के आधार पर किया गया है। उदाहरणार्थ मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोके हीनतरं वा विशन्ति ॥'

"इष्टापूर्त ही श्रेष्ठ है, दूसरा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं—यह मानने वाले मूढ़ लोग स्वर्ग में पुण्य का उपभोग कर चुकने पर फिर नीचे के इस लोक में आते हैं।" (मुण्ड० १।२।१०)

ज्ञान विरहित कर्मों की इसी ढंग की निन्दा ईशावास्य और कठ उपनिषदों में भी की गई है। (कठ० २।५।। ईश० ६ से १२)

परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त न करके केवल कर्मों में ही फँसे रहने वाले को (देखो गी० ६।२१) अपने-अपने कर्मों के स्वर्गादि फल मिलते तो हैं पर उनकी वासना आज एक कर्म में तो कल किसी दूसरे ही कर्म में रत होकर चारों ओर घुड़दौड़ सी मचाए रहती है। इस कारण उन्हें स्वर्ग का आवागमन नसीब हो जाने पर मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष की प्राप्ति के लिए बुद्धि-इन्द्रिय को स्थिर या एकाग्र रहना चाहिए। आगे छठे अध्याय में विचार किया गया है कि इसको एकाग्र किस प्रकार करना चाहिए।।"

अब इन तीनों श्लोकों पर सन्त शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर जी की व्याख्या सुनिए—

"वे लोग वेद का आधार लेकर केवल कर्मकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं परन्तु कर्मफल पर दृष्टि रखकर कहते हैं—'हम संसार में जन्म लें। यज्ञ की क्रियाएं करें और तब मधुर स्वर्गसुख भोगें। इसके सिवा और कोई सुख नहीं है।' इसी प्रकार की बातें वे अविवेकी और दुर्बुद्धि लोग कहा करते हैं। हे अर्जुन! वे लोग सकाम होकर और केवल भोग पर दृष्टि रखकर सब कर्मों का आचरण करते हैं। नाना प्रकार के कर्म करते समय वे लोग विधि-भंग नहीं होने देते और अत्यन्त प्रवीणता से धर्मानुष्ठान करते हैं। परन्तु वे एक ही बात अनुचित करते हैं। वह यह कि अपने मन में स्वर्गभोग का स्वार्थ रखकर इस पुराण पुरुष को भूल जाते हैं, जो यज्ञभोक्ता है। जैसे पहले कपूर का ढेर लगाकर फिर उसमें आग लगा दी जाए अथवा मधुर अन्न में कालकूट विष मिला दिया जाए अथवा संयोग से मिला हुआ अमृत का घड़ा लात मारकर लुढ़का दिया जाए। उस प्रकार अविवेकी कर्मकाण्डी लोग सहेतुक कर्मों का आचरण करके हाथ में आए हुए धर्म का नाश करते हैं। जब कष्ट भोगकर और परिश्रम करके पुण्य का सम्पादन किया जाए, तब फिर संसार की ही याचना क्यों की जाए?

परन्तु इन अविवेकियों की समझ में यह नहीं आता कि ऐसी किसी वस्तु का सम्पादन करना चाहिए जो हमें कभी प्राप्त नहीं है। जिस प्रकार अच्छी तरह पकाकर स्वादिष्ट भोजन प्राप्त किया जाए और तब उसे मूल्य लेकर बेच दिया जाए। बस ठीक उसी प्रकार ये लोग सुखभोगरूपी मूल्य के लिए

अपना धर्म बेच डालते हैं। इसलिए हे अर्जुन! मैं कहता हूँ कि जो लोग वैदिक अर्थवाद में ही सदा फँसे रहते हैं उनके मन में दुर्बुद्धि सदा डेरा जमाए रहती है ॥"

देशपिता महात्मा गांधी की टिप्पणी इन श्लोकों पर इस प्रकार है—

"योगवाद के विरुद्ध कर्मकाण्ड अथवा वेदवाद का वर्णन उपर्युक्त तीन श्लोकों में आया है। कर्मकाण्ड या वेदवाद का मतलब फल उपजाने के लिए मंथन करने वाली अगणित क्रियाएं। ये क्रियाएं वेद के रहस्य से, वेदान्त से अलग और अल्प फल वाली होने के कारण निरर्थक हैं ॥"

श्री नारायण स्वामी जी इस श्लोक की टिप्पणी में पुष्पित वाणी के बारे में लिखते हैं—

"पुष्पितवाणी उसे कहते हैं जो आशाजनक हो अथवा केवल सुनने में सुहावनी और रमणीय हो, परन्तु फलदायक न हो, जैसे पलाश के पुष्प। अर्थात् जैसे किसी वृक्ष में पुष्प तो बहुत सुन्दर हों, परन्तु फल उसमें किंचित न लगें, या अगर लगें तो कडुवे हों। वेदों में रोचक, भयानक और यथार्थ तीनों प्रकार के वाक्य हैं। इनमें से पूर्व के दो तो बहुधा अर्थवाद-वाक्य (श्रुतियां) कहलाते हैं, जो (वाक्य या श्रुतियां) सुनने में तो बहुत प्रिय प्रतीत होते हैं (क्योंकि स्वर्ग के भोग इत्यादि की बड़ी महिमा करते हैं) परन्तु वे न आत्मज्ञानरूप फल देते हैं और न अपरोक्ष ज्ञान कराते हैं, जिस कारण से ये सब वेद-वेदाङ्ग, अपरा-विद्या अथवा त्रैगुण्यवाक्यविद्या कहलाते हैं और इसलिए ये (अर्थवाद) वाक्य भी पुष्पित वाणियां कहलाते हैं, जिनके आकर्षण से बचने के लिए आगे अर्जुन को भगवान् उपदेश देते हैं ॥"

व्याख्या—हे अर्जुन! इस संसार में बहुत से लोग ऐसे हैं जो संस्कृत का तो एक भी अक्षर या शब्द पढ़े हुए नहीं हैं परन्तु डींगें मारते हैं कि हम चारों वेद पढ़े हुए हैं और हमारे फिरकू ग्रन्थ वेदों के अनुसार हैं।

आचरण नितान्त धर्म के विरुद्ध हैं, मद्यपान, मांसभक्षण, हरामकारी, दूसरों को लूटना, ठगना आदि पापकर्म उनका नित्यप्रति का धन्धा है। आत्मा या परमात्मा का थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं है। ज्ञानी होने पर भी अज्ञानियों के तुल्य हैं क्योंकि ब्रह्मलीन साधु सन्तों और मोक्षाधिकारी ब्रह्मवेत्ताओं की सदा निन्दा करते रहते हैं। सुखमनी सुनते हैं परन्तु मन का सुख प्राप्त नहीं करते। सद्धर्म का नाश करने के लिए मन, कर्म और वचन से दिनरात तत्पर रहते हैं। तामस दान करके ही उसको महान् धर्म-कार्य समझते हैं। बाह्य चिह्नों

पर मरते हैं। भीतर की कोई परवाह नहीं है। ऐसे पुरुष अज्ञानी और विचार-हीन होते हैं। कामनाओं से भरे हुए चित्त वाले होते हैं। मान्य ग्रन्थों के सुहावने वचनों पर ही मोहित रहते हैं। खाने, पीने तथा मौज उड़ाने के बिना और कुछ अपना कर्तव्य ही नहीं मानते। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो वेदों में श्रद्धा रखते हैं परन्तु स्वयं वेदविद्या के ज्ञाता नहीं हैं। वे उन पढ़े-लिखे स्वार्थी लोगों पर विश्वास रखते हैं जिन्होंने वेदों के केवल उन वचनों पर ही भरोसा किया हुआ है जिनमें इस लोक और स्वर्ग के भोगों और सुखों की प्राप्ति के लिये बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न काम्यकर्मों का विधान किया गया है और उन कर्मों के भिन्न-भिन्न फल बतलाए गए हैं। ऐसे लोगों को ही वेदवादरत कहते हैं। इनके दूसरों द्वारा कराए हुए तथा स्वयं किए हुए अनेक प्रकार के कर्म अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम, इत्यादि काम्यकर्म होते हैं। उन कर्मों के करने से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है जहाँ अमृतपान, उर्वशी आदि अप्सराओं के साथ विहार करना तथा पारिजात वृक्ष द्वारा सम्पूर्ण इच्छाओं की प्राप्ति होती है। परन्तु ये स्वर्गभोग के सुख सदा नहीं बने रहते। बृहद्० उप० ४।४.६ में लिखा है—

"प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥"

अर्थात् जो कुछ सकामी पुरुष यहाँ करता है, उसके फल को वहाँ (स्वर्ग में) भोगकर, वहाँ से इस लोक की ओर पुनः कर्म करने के लिये आता है ॥

इन काम्यकर्मों के करने से इस लोक में भी धन, ऐश्वर्य और पुत्रों की प्राप्ति होती है परन्तु ऐसे सब कर्म जब किसी निमित्त या अभिलाषा से किए या कराए जाते हैं तो ये आवागमन या जन्म-मरण के लिए ही होते हैं परन्तु हवन, दान यज्ञादि कर्म जब निष्काम और परमेश्वरार्पण भाव से किए जाते हैं तो उनसे अन्तःकरण की शुद्धि होती है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए सहायता मिलती है परन्तु जो लोग नाना प्रकार के भोगों में ही फँसे हुए हैं, ज्ञानविषयक मन्त्रों को छोड़कर स्वर्गप्राप्ति प्रशंसक वेदवाक्यों में ही प्रेम और श्रद्धा रखते हैं, केवल स्वर्गप्राप्ति ही एकमात्र जिनका लक्ष्य बन चुका है और जो सदा भोगों और स्वर्ग के ही ढोले गाते रहते हैं। बात-बात में कहते रहते हैं कि "स्वर्गप्राप्ति से बढ़कर दूसरा कोई लक्ष्य या उत्तम गति नहीं है।" ऐसे मूढ़ अज्ञानी पुरुष संसार की प्रशंसा, भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की क्रियाएं करते और भाँति-भाँति के पुष्पित दम्भ रचते हैं और उनको बखान करने वाली तरह-तरह की मनमोहक और

प्रभावोत्पादक वाणियां कहा करते हैं जिनसे दूसरे लोग उन वाणियों से हरे हुए चित्त वाले हो जाते हैं जिससे फिर वे भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं। फिर उन पुरुषों की परमात्मा के स्वरूप में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती। इसलिए ईश्वर के ध्यान में उनकी वृत्ति एकाग्र और अचल होने नहीं पाती ॥४२।४३।४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

त्रै-गुण्य-विषयाः+वेदाः+निर्+त्रै-गुण्यः+भव+अर्जुन ! निर्+द्वन्द्वः+नित्य-सत्त्व-स्थः+निर्+योग-क्षेमः+आत्मवान् ॥

त्रै-गुण्य-विषयाः=(वि०) त्रै-गुण्यं संसारो विषयः प्रकाशयितव्यो येषां ते (बहुव्री०)=तीनों गुणों के कार्यरूप संसार को विषय करने वाले। तीनों गुणों से बने हुए संसार को प्रकाश करने वाले। तीनों गुणों के कथन करने वाले। संसार के समस्त भोगों के साधनों का प्रतिपादन करने वाले। संसार के सारे भोगों को प्राप्त कराने वाले मन्त्रों और यज्ञों को कहने वाले।

[सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से मिश्रित प्रकृति की सृष्टि को त्रैगुण्य कहते हैं। त्रिगुण+ष्यञ्=त्रैगुण्य+(नपुं०)=तीनों गुणों का कार्य।

वि√सि+अच्, षत्व=विषय=ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गृहीत होने वाले पदार्थ। (पुं०) प्र० ब० व०]

वेदाः=(पुं०)√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+घञ् वा अच्=वेद +प्र० ब० व०=सारे वेद। चारों वेद। ऋक्, साम, यजुः और अथर्व।

निर्+त्रै-गुण्यः=(वि०) पुं०, प्र० ए० व०=तीनों गुणों के कार्यरूप संसार से रहित होने वाला (बहुव्री०)। असंसारी। निष्कामी।

भव=√भू+लोट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) हो।

अर्जुन=(पुं० सम्बो०) हे अर्जुन !

निर्+द्वन्द्वः=(वि०) निर्गतो द्वन्द्वः भावः यस्मात् सः (बहुव्री०)=द्वन्द्वरहित। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित।

[सुख-दुःख-हेतू सप्रतिपक्षौ पदार्थौ द्वन्द्वशब्दवाच्यौ ततो निर्गतो=निर्द्वन्द्वः =सुख-दुःख के हेतु जो परस्पर-विरोधी (युग्म) पदार्थ हैं उनका नाम द्वन्द्व है, उनसे रहित होने वाला।

द्वौ द्वौ सह अभिव्यक्तौ, द्वि-शब्दस्य द्वित्वं, पूर्व-शब्दस्य 'अम्' भावः, उत्तर पदस्य नपुंसकत्वम्=दो परस्पर-विरुद्ध वस्तुओं या भावों का जोड़ा ।] (पुं०) प्र० ए० व० ॥

नित्य-सत्त्व-स्थः=(वि०) नित्यं सत्त्वे स्थः (बहुव्री०) । सदा सत्त्वाश्रितः नित्य सत्त्व (परमात्मा) में स्थित होने वाला । सदा अपने शरीर के बाहर-भीतर रम रहे परमात्मा का अनुभव करने वाला । (पुं०) प्र० ए० व० ।

["निस्त्रैगुण्यः" कहा जाने के बाद फिर यहाँ 'सत्त्व' का अर्थ सतोगुण नहीं हो सकता क्योंकि त्रैगुण्यविषयक संसार से रहित होना और फिर सत्त्व में स्थित होना यह बात संगत नहीं हो सकती । इसलिए यहाँ 'सत्त्व' का अर्थ 'परमात्मा' किया गया है ।]

निर्-योग-क्षेमः=(वि०) अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का नाम 'योग' है और प्राप्त वस्तु के रक्षण का नाम 'क्षेम' है ।

[√युज्+घञ्=योग (पुं०) । √क्षि+मन्=क्षेम । प्राप्ति और सुरक्षा ।] (पुं०) प्र० ए० व० । योग और क्षेम से रहित होने वाला । प्राप्ति और प्राप्त की सुरक्षा से रहित ।

आत्मवान्=(वि०) आत्मा अस्मिन् अस्ति सः, आत्मन्+मतुप्=आत्मवत् +(पुं०) प्र०, ए० व०=आत्मवान्=आत्मा वाला । आत्मपरायण । जीते हुए मन वाला ।

[मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों सहित शरीर का नाम आत्मा है ये सब वश में होने वाला मनुष्य ही आत्मा या अपने आप वाला बनता है । अथवा शरीर को भुलाकर केवल अपने आप को आत्म-स्वरूप अनुभव करने वाला पुरुष ही "आत्मवान्" होता है ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! सारे वेद (सत्त्व, रजस्, तमस्) तीनों गुणों के कार्यरूप (संसार के तथा स्वर्गादि लोकों के समस्त भोगों एवं उनके साधनों के प्रतिपादन करने वाले) विषय वाले हैं । इसलिए (तू) तीनों गुणों के कार्यरूप संसार से रहित होने वाला (निष्कामी), निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्व-स्थ (नित्य वस्तु परमात्मा में स्थित), निर्योग-क्षेम और आत्मवान् हो ॥४५॥

व्याख्या—वेद ईश्वरकृत हैं । सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही उनका प्रादुर्भाव हुआ था । प्रभु की रचना अर्थात् इस संसार में उत्तरोत्तर उन्नति के लिए वेदों में प्रतिपादित विषय कर्मकाण्ड की परम आवश्यकता थी और है । संसार के सारे कार्य सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के कारण ही सम्पन्न होते हैं । इसलिये इन त्रिगुणात्मक कार्यों के कारण यह संसार त्रैगुण्य कहलाता है । यद्यपि परमात्मा अकर्ता कहलाता है परन्तु यह बड़ी विचित्र और

आश्चर्यजनक बात है कि परमात्मा अकर्ता होता हुआ भी वास्तव में कर्ता है। यद्यपि इंजन रेलगाड़ी को खींचकर ले जाता है परन्तु उसका चलना चालक या ड्राइवर की इच्छा पर निर्भर होता है क्योंकि उसके चलने या स्थिर होने की चाबी चालक के अधीन होती है। इसलिए परमात्मा के बिना तो दूसरा कोई करने कराने वाला है ही नहीं। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि एक बार उसने यह संसाररूपी मशीन इस ढंग से चालू कर दी है कि अब उसे इसमें हस्तक्षेप करने या दखल देने की आवश्यकता ही नहीं है। अब यह संसाररूपी मशीन स्वयं अपने आप ही शुभाशुभ कर्मों के द्वारा निरन्तर चल रही है जिसमें प्रकृति के तीनों गुण वर्त्त रहे हैं परन्तु माया के ये तीनों गुण भी प्रभु की सत्ता के बिना कुछ भी करने में असमर्थ हैं और यह सत्ता उनमें संसार की उत्पत्ति के साथ ही मिल गई थी। ब्रह्मा और देवता लोग भी त्रिगुणमयी माया द्वारा उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा ने संसार के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर वेद प्रदान किए और कहा कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करो। इन वेदविहित यज्ञों का अनुष्ठान करो जिससे ये सब यज्ञ सदा संसार में प्रचलित रहें और ये यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग और सब प्रकार के सुख प्रदान करने वाले हों। इस प्रकार एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम श्रेय को प्राप्त होते रहो। [गी० ३।१०,११] संसार में जो कुछ होता है वह तीन गुणों के भीतर ही है। जो वस्तु गुणातीत है वह तो अकथनीय, अचिन्तनीय और निरुपदेशनीय है। उसके सम्बन्ध में श्रुति कहती है "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" इस श्लोक में भगवान् वेदों को त्रैगुण्यविषयक कहकर अर्जुन को 'निस्त्रैगुण्य' होने के लिए क्यों कहते है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है—कि संसार की रचना और उन्नति के लिये तो वेदविहित कर्मकाण्ड और काम्यकर्मों के करने की बहुत आवश्यकता है क्योंकि इनसे सब प्रकार के भोगों और सुखों की प्राप्ति होती है और इनके द्वारा प्रसन्न किए हुए देवताओं से देवत्व प्राप्त होता है जिससे मनुष्य का नरक-वास होता है और स्वर्ग के भोग, भोगने के लिए मिलते हैं तथा पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर पृथ्वी पर अच्छे कुलों में जन्म होता है जहाँ मोटर आदि वाहन और भोग-सामग्री प्राप्त होती है। यह सब कुछ वेदों के अनुसार विधिपूर्वक आचरण करने से ही होता है। परन्तु इस तरह भी मनुष्य सदैव आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है जहाँ वह भोगों से प्राप्त होने वाले सुखों को भोगकर आनन्दित होता है वहाँ वह जन्म, मरण, जरा और व्याधि के महान् कष्टों को भी सहन करता है और इस कर्मकाण्ड से विचलित हुआ पुरुष अधोगति के गर्त में भी गिर जाता है

जिससे फिर नारकीय कीट पतंगादि योनियों में जन्म लेता है। फिर प्रलय पर्यन्त इस कुचक्र से छुटकारा नहीं होता। केवल एक मनुष्य जन्म ही ऐसा है जहाँ से मोक्ष का द्वार भी खुलता है और उसके विपरीत नरक-द्वार में भी प्रवेश हो सकता है। इसलिए यदि वेदों में कहे हुए कर्मकाण्ड को त्यागता है तो घोर नरक में गिरता है और यदि वैदिक कर्मकाण्ड का आश्रय ग्रहण करता है तो भोगों को भोगने के लिये जन्म-मरण के चक्र में फँसता है। इसलिए भगवान् ने कहा है—कि हे पार्थ ! यदि मैं कदाचित् सावधान होकर इन (वैदिक कर्मों) को न करूँ तो बड़ी हानि हो जाए क्योंकि सब लोग सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करने लग जाएं (गी० ३।२३)। फिर भगवान् कहते हैं—

"हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान, और तप रूप (वैदिक) कर्मों को तथा और भी कर्तव्य कर्मों को आसक्ति और फलों का त्याग करके अवश्य करना चाहिए। यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है। (गी० १८।६)॥

इससे सिद्ध होता है कि वैदिक कर्मों का करना तो मनुष्य मात्र का कर्तव्य है परन्तु अहिंसा, ममता, आसक्तिरहित निष्काम भाव से, बिना फलेच्छा के और केवल कर्तव्य समझकर।

हे अर्जुन ! केवल सांसारिक सुख या स्वर्गप्राप्ति के लिए ये काम मत कर। तीन गुणों के कार्यों में आसक्ति मत रख। सुख-दुःख, लाभ-हानि, कीर्ति-अपयश, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों और बखेड़ों की परवाह न करके अथवा इनके प्रभाव से रहित होकर या इनको समदृष्टि से देखता हुआ सदैव ईश्वरार्पण निष्काम भाव से कर्म कर। अच्छे या बुरे परिणाम को देखकर न हर्ष कर न शोक कर। इस वृत्ति को निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से दृढ़ कर। नित्य सत्त्व-वस्तु (परमात्मा) में स्थित हो। सोते-जागते, काम करते-बेकार बैठे, खाते-पीते, भीतर-बाहर, दृष्टिगोचर-परोक्ष ब्रह्माण्ड सीमा पर्यन्त और उससे भी परे परमात्मा की सत्ता और स्वरूप का अनुमान और अनुभव कर। क्षण भर भी उस सत्त्व को मन, काया और इन्द्रियों से परे न होने दे। किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा मत कर। स्वयं प्राप्त वस्तु के संग्रह और रक्षा के लिए भी पापकर्म मत कर। मन, कर्म और वचन से शुद्ध और सरल रह। तुझे कभी जीवननिर्वाह की चिन्ता न करनी चाहिए। सब आवश्यक वस्तुएं जीव को स्वयं प्राप्त होती रहती हैं। दान और त्याग निःसंकोच होना चाहिए। तेरे द्वारा रक्षा किए जाने पर किसी प्राप्त वस्तु की रक्षा नहीं हो सकती। त्याग के विपरीत बुरे ढंगों से संग्रह किए हुए और नप-चुट कर रखे हुए पदार्थों के अभाव हो जाने से दुःखी हुए अनेक प्राणी तुझे पाप का भागी बना

देंगे। ब्लैक करने वाला, चोरबाजारी द्वारा धन कमाने वाला, काले धन का धन्धा करने वाला, ठग, चोर, डाकू आदि तेरे अनेक नाम रखकर लोग तेरी निन्दा करेंगे जिससे इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जाएंगे। अतः अधोगति होगी। इसलिए तू योग (प्राप्ति) अक्षेम (प्राप्त पदार्थों की रक्षा) दोनों से रहित हो जा और आत्मवान् बन अर्थात् जीते हुए मन और जीती हुई इन्द्रियों वाला हो जा। आत्मपरायण बन जा। अपने शरीर को भुलाकर आत्म-स्वरूप को अनुभव कर ले और आत्मपरायण हो जा। अपनी आवश्यकताओं को धीरे-धीरे घटाकर शून्य बिन्दु पर ले आ क्योंकि इनकी पूर्ति के लिए अनेक पापकर्म करने पड़ते हैं। इससे तू फिर उस परमात्मा में मिलकर एकरूप हो जाएगा जिससे अलग होकर आज तक नाना योनियों में भटकता रहा है और मन, बुद्धि (अन्तःकरण), इन्द्रियों, लिङ्ग तथा कारण शरीर के गट्ठर को लिये फिरता रहा है। इनको इसी प्रकार परे फेंक दे जिस प्रकार कुत्ते को डण्डे से दूर भगा दिया जाता है। ऐसा करने से तू कर्म के मोटे और दृढ़ बन्धन को भी तोड़ देने में समर्थ हो जाएगा जिससे सदा के लिये जन्म-मरण के चक्र से छूटकर परमेश्वर में मिल जाएगा ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

यावान्+अर्थः+उदपाने सर्वतः संप्लुत+उदके। तावान्+सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

यावान्=(वि०) यद्+वतुप्, आत्व=यावत्+प्र० ए० व० (पुं०)=जितना।

अर्थः=(पुं०)√अर्थ् (चुरा० आत्म० सक०=याचना करना)+अच्+प्र० ए० व०=मतलब। प्रयोजन।

उदपाने=(नपुं०, पुं०) उदक-शब्दस्य उदनादेशः [अन्य शब्दों के साथ जब इसका योग किया जाता है, तब उसके 'न्' का लोप हो जाता है]
पान=(नपुं०)√पा+ल्युट्=पीना।
उद-पान+सप्त० ए० व०=उदपाने=जलाशय में। कूएं में। कूप-तड़ाग आदि (किसी छोटे) जलाशय में ॥

सर्वतः=(अव्यय) सर्व+तसिल्=सर्वतस्=सब ओर से

संप्लुत+उदके=(वि०) सम्√प्लु (भ्वा० आत्म० अक०=डूबना)+क्त=संप्लुत। अच्छी तरह डूबे हुए।
उदक=(नपुं०)√उन्द् (रुधा० पर० सक०=भिगोना। तर करना।

गीला करना)+क्वुन्, नलोप, निपा०,=उदक+सप्त० ए० व०=जल में।

संप्लुत+उदके=अच्छी तरह जल में डूबे हुए में। अच्छी तरह जल से भरे हुए में। अच्छी तरह जल से भरे हुए (बहुत बड़े) जलाशय में। (कर्मधारय समास)।

तावान्=(वि०) तत् परिमाणमस्य, तद्+वतुप्, आत्त्व=तावत्+(पुं०) प्र० ए० व०=उतना।

सर्वेषु=(सर्व०, वि०) सर्व+(पुं०) सप्त० ब० व०=सबमें।

वेदेषु=(पुं०) वेद+सप्त० ब० व०=वेदों में।

ब्राह्मणस्य=(पुं०) ब्रह्मणो विप्रस्य प्रजापतेर्वा अपत्यम् वा ब्रह्म वेदः तम् अधीते। ब्रह्मन्+अण् (अपत्ये)=ब्राह्मण+षष्ठी ए० व०=ब्राह्मण का।

विजानतः=वि√ज्ञा+शतृ=विजानत्+षष्ठी ए० व०=अच्छी तरह जानते हुए का। भली-भाँति जानने वाले का।

अर्थ—(किसी मनुष्य का) जितना (थोड़ा सा) प्रयोजन सब ओर से अच्छी तरह (निर्मल) जल से भरे हुए (बहुत बड़े) जलाशय के प्राप्त होने पर बहुत छोटे (कूपादि) जलाशय से रहता है उतना ही प्रयोजन अच्छी तरह ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण का सारे वेदों में होता है ॥४६॥

व्याख्या—जब अत्यन्त लम्बे-चौड़े विस्तार वाली कोई अगाध गहरी झील स्वच्छ, निर्मल, अमृततुल्य, स्वादु, पवित्र, शीतल गंगाजल से सब ओर से लबालब भरी हो, जिसका जल किसी काल में भी विकार को न प्राप्त होता हो, सदा एकरस स्वच्छ और शुद्ध रहता हो, किनारों पर संगमरमर के घाट बने हुए हों, कीचड़, धूलि आदि की गन्ध मात्र भी समीप न हो, सब ओर सदा-बहार सुगन्धित पुष्पों के उद्यान हों, आम्र के वृक्षों पर कोयल कूक रही हों, किसी भी हिंसक जीव, जन्तु, पशु, पक्षी का भय न हो। तब जिस प्रकार ऐसे विस्तृत महान् जलाशय को पाकर मनुष्य की जलपान और स्नानादि की सारी आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं और फिर उसे किसी कूप, तड़ाग, बावली या जलकल आदि की कोई जरूरत नहीं रहती है। उसी प्रकार जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष जब असीम ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है तो फिर उसे वेदों या किसी प्रकार के दूसरे ग्रन्थों की कोई आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि इस जीव का अन्तिम लक्ष्य यही है कि वह अपने निरन्तर अभ्यास और योगबल द्वारा मन, बुद्धि और इन्द्रियों का संग छोड़कर तथा जन्म-मरण के बन्धन को तोड़कर

अपने मूलस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त करे। वेद तो इस लक्ष्य पर पहुँचने के लिये एक प्रकार के साधन मात्र हैं। लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर साधनों का त्याग सर्वथा उचित ही होता है।

यद्यपि निष्काम भाव से किए हुए वैदिक कर्म अन्तःकरण को शुद्ध कर देते हैं और फिर मोक्षप्राप्ति के लिए साधन बन जाते हैं परन्तु जो ब्रह्मवेत्ता विज्ञानी पुरुष परमात्मा के समीप पहुँच चुका है तथा जिसकी मोक्षप्राप्ति में तनिक सा भी सन्देह नहीं रहा है उसे वेद पढ़ने या कर्मकाण्ड करने की जरूरत ही क्या शेष रह जाती है? वह महात्मा तो जीवन्मुक्त होता है। उसके शरीर से शान्ति की किरणें चन्द्रमा की किरणों की तरह सदा विकिरित होती रहती हैं। चेहरा सूर्यवत् प्रकाशमान होता है। शत्रु, मित्र, सुख, दुःख, सर्दी, गर्मी आदि सब द्वन्द्व उसके लिए एक समान हो जाते हैं। वह पागल नहीं होता, विदेह और आत्मवान् होता है।

जैसे कोई मनुष्य जल पीने, स्नान करने, कपड़े धोने या भोजन बनाने आदि में किसी जलाशय के सारे जल को काम में नही लाता केवल थोड़े से जल का ही प्रयोग करता है अर्थात् अपनी आवश्यकता के अनुसार जल लेकर ही अपने काम में लाता है; इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता, विज्ञानी, जीवन्मुक्त पुरुष का भी सम्पूर्ण वेदों से कोई प्रयोजन नहीं होता वह उनके केवल उन वचनों को ही ग्रहण करता है जो उसे उसके लक्ष्य 'परमात्मा से मिलाप' की पूर्ति में सहायक होते हैं बाकी काम्यकर्मों को दर्शाने वाले वचनों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार अज्ञानी और मछेरे लोग सरोवरों से सदा मछलियां ही पकड़ते रहते हैं इसी प्रकार इस लोक और परलोक के भोग-सुखों को चाहने वाले लोग वेदों के मन्त्रों द्वारा सकाम भाव से हवन, यज्ञ, दानादि किया करते हैं। जिन लोगों ने वेदों को केवल अपनी जीविका का ही साधन बना रखा है वे लोग मछेरों, डुबकी लगाने वालों, नाव चलाने वालों, सीपी शंख घोंघे निकालने वालों और डूब जाने वालों के तुल्य होते हैं जिनका उदर तो भर जाता है परन्तु जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं होता।

भारत धर्म महामण्डल के स्वामी दयानन्द जी अपनी व्याख्या में लिखते हैं—

"इस श्लोक में यही भाव बताया गया है कि निष्काम कर्मयोग के द्वारा आनन्दमय आत्मा के राज्य में पहुँचने वाले योगी को वैदिक सकाम कर्मों के नाशवान् सुख के लिये लालायित होने का प्रयोजन नहीं रहता। इसमें दृष्टान्त यही दिया गया है कि जिस प्रकार चारों ओर बाढ़ आदि के आ जाने पर नहाने, पीने आदि का यथेष्ठ जल मिलने से कूएँ से कष्ट करके पानी खींचने

की आवश्यकता नहीं रहती, ठीक उसी प्रकार असीम ब्रह्मानन्द समुद्र में गोता खाने वाले ब्रह्मज्ञ पुरुषों को सकाम कर्मों के झगड़े में नहीं पड़ना पड़ता क्योंकि असीम आनन्द में छोटे-मोटे सभी आनन्द समाए होते हैं। श्रुति में लिखा है—

"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।"

अर्थात् ब्रह्मानन्द पूर्ण तथा असीम है, जीवगण सकाम कर्मों के द्वारा इसी पूर्ण का अंशमात्र उपभोग करते हैं ।।

ब्रह्म का असल आनन्द आकाश में स्थित सूर्य के प्रकाश की तरह है और विषय का सुख जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के प्रकाश की तरह है । असीम ब्रह्मानन्द ही प्रकृति के सात्त्विक तरंग में प्रतिबिम्बित होकर प्रेम, भक्ति आदि के स्वरूप से, राजसिक तरंग में प्रतिबिम्बित होकर, काम, लोभ आदि अन्य सुख रूप से प्रतीत होता है । ये सभी प्रतिबिम्बित आनन्द अर्थात् छाया सुख मात्र हैं । किन्तु वास्तविक आनन्द के मिलने पर इन छाया सुखों की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती । इसीलिए पाण्डव-गीता में लिखा है—

"तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं वाञ्छति दुर्मतिः"

पवित्रसलिला गंगा के तट पर प्यास मिटाने के लिये कूआं खोदना मूर्खतामात्र है ।

अतः वैदिक यज्ञ हो या और भी किसी प्रकार का कर्म हो, योगी को निष्काम भाव से उनका अनुष्ठान करके असीम आनन्दमय ब्रह्मपद में विराजमान होना चाहिए, यही तात्पर्य है ।।४६।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

कर्मणि + एव + अधिकारः + ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्म-फल-हेतुः + भूः + मा ते सङ्गः + अस्तु + अकर्मणि ।।

कर्मणि = (नपुं०) √कृ + मनिन् = (शास्त्र विहित नित्यनैमित्तिक आदि) कर्म + सप्त० ए० व० = कर्मणि = शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म करने में ।

एव = (अव्यय) ही ।

अधिकारः = (पुं०) अधि √कृ + घञ् = अधिकार + प्र० ए०व० = (स्वतन्त्रता) । अधिकार । करने की मरजी । अख्तियार ।

ते = (सर्व०) युष्मद् + षष्ठी ए० व० = तव, ते = तेरा ।

मा=(अव्यय)√मा+क्विप्=मत। नहीं। न।

फलेषु=(नपुं०) फल+सप्त० ब० व०=फलों में।

कदाचन=(अव्यय) किम्+दा=कदा+चन=कभी।

मा=(अव्यय) मत। नहीं। न।

कर्म-फल-हेतुः=(वि० पुं०) कर्म-फलस्य एव जन्मनो हेतुः (प्र० ए० व०)= कर्म-फल (रूप पुनर्जन्म) का हेतु। कर्म के फल (पुनर्जन्म) के हेतु वाला। [हेतु=(पुं०)√हि+तुन्=कारण। उत्पादक।]

भूः=√भू+सन्+लोट्०, म० पु०, ए० व०=भूस्=भूः=इच्छा वाला हो।

मा=(अव्यय) न। नहीं। मत।

ते=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी ए० व०=तव, ते=तेरा।

सङ्गः=(पुं०)√सञ्ज् (भ्वा० पर० सक०=चिपकाना)+घञ्=सङ्ग+ प्र० ए० व०=सङ्गः=संयोग। मेल। आसक्ति।

अस्तु=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लोट्०, प्र० पु०, ए० व०= हो।

अकर्मणि=(नपुं०) न कर्मणि (नञ्)। अकरणे। सप्त०, ए० व०=कर्म न करने में॥

अर्थ—(शास्त्र-विहित नित्य नैमित्तिक आदि) कर्म करने में ही तेरा अधिकार है। (उनके) फलों (की प्राप्ति) में कभी नहीं। तू फल की इच्छा करके कर्म के फल (पुनर्जन्म) का कारण मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो॥४७॥

व्याख्या—भगवान् बोले—हे अर्जुन! मन, बुद्धि और इन्द्रियों सहित मनुष्य का यह शरीर ही नवीन कर्म करने का अधिकारी बनाया गया है। चाहे यह अच्छे कर्म करे, चाहे तो बुरे कर्म करे। अच्छे कर्म करने से पुनः मनुष्य-शरीर अथवा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है तथा बुरे कर्म करने से पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि योनियों में भटकना पड़ता है। इसलिए तू सदा शास्त्र-विहित नित्य-नैमित्तिक शुभकर्म ही कर क्योंकि इनके करने में तू स्वतन्त्र है अर्थात् इनका करना तेरे वश की बात है। परन्तु इन कर्मों के फलों को पाना तेरे वश की बात नहीं है क्योंकि सब प्रकार के फलों का मिलना तो केवल ईश्वराधीन है। वह चाहे तो फल मिले और न चाहे तो न भी मिले। परन्तु उसके फल देने या न देने को हम चैलिंज नहीं कर सकते कि तूने हमें फल क्यों नहीं दिया?

तू केवल निष्काम भाव होकर ही कर्म कर। कर्म करते समय उसके फल की वासना या याचना कदापि न कर क्योंकि ऐसा करने से तू कर्म का कर्ता बन जाएगा और ऐसा करने से तू कर्म-बन्धन से बँध जाएगा तथा जन्म-मरण के चक्कर से कभी छूट न पाएगा क्योंकि तू फलेच्छा के कारण से नाना जन्मों को धारण करेगा और जन्मों में किए हुए शुभाशुभ कर्म-फलों को भोगेगा। यह कर्मफल की इच्छा ही आवागमन में फंसाने वाले कर्मों के कर्ता बनाने का कारण होती है। कर्मों का कर्ता बन जाने से उनके फलों को भोगने के लिये अवश्य ही संसृति-चक्र में भ्रमण करना पड़ता है और फिर मोक्षप्राप्ति का मार्ग नहीं मिलता।

कोई मनुष्य इन कर्मों से छुटकारा तो पा ही नहीं सकता। हाँ, भ्रम में फँसकर बेकार और निखट्टू अवश्य बन सकता है। उस अवस्था में भी जल पीएगा। भोजन करेगा। टट्टी जाएगा और बेकार बैठकर मक्खियां भी मारेगा। ये सब भी तो कर्म ही कहलाते हैं।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मों से तू कभी रहित मत हो क्योंकि कर्म के न करने से तेरा शरीर आलसी हो जाएगा जिससे अन्तःकरण सदा अशान्त और शरीर निरन्तर अस्वस्थ रहेगा। तेरा जीवननिर्वाह भी कठिन हो जाएगा। फिर तू बेकार रहने से उकता जाएगा।

इसलिए किसी काल में भी कर्म करने में तेरी अरुचि नहीं होनी चाहिए। ये सब कर्म शास्त्रविहित और तेरे कर्तव्य-कर्म होने चाहिएँ तथा निष्काम और फलेच्छा बिना किए जाएँ तो तेरी ब्रह्मानन्द-प्राप्ति में सहायक सिद्ध होंगे ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गम्+त्यक्त्वा धनंजय! सिद्धि+असिद्ध्योः समः+भूत्वा समत्वम्+योगः+उच्यते ॥

योगस्थः=(वि०) योगे स्थितः (पुं०, प्र० ए० व०)=योग में स्थित हुआ।

कुरु=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लोट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) कर।

कर्माणि=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ब० व०=कर्मों को।

सङ्गम्=(पुं०)√सञ्ज् (भ्वा० पर० सक०)+घञ्=सङ्ग+द्विती० ए० व०=सङ्ग को। आसक्ति को।

त्यक्त्वा=√त्यज् (भ्वा० पर० सक०=त्यागना)+क्त्वा=त्यागकर।

धनंजय !=(पुं०) धनं जयति सम्पादयति, धन√जि+खच्+मुम्+सम्बो० ए० व०=हे धनंजय ! अर्जुन बहुत सा धन जीतकर इन्द्रप्रस्थ में लाया था। इससे उसका नाम 'धनंजय' हुआ। हे अर्जुन !।

सिद्धि+असिद्धयोः=(स्त्री०)। सिद्धिः च असिद्धिः च तयोः (इतरेतर द्वन्द्व समास, सप्त० द्वि० व०) सिद्धि और असिद्धि में। ज्ञानप्राप्ति होने या न होने में। सफलता और असफलता में।

समः=(वि०)√सम्+अच्=सम+(पुं०) प्र० ए० व०=समान। सम। एक सा। हर्ष और शोक से रहित।

भूत्वा=√भू+क्त्वा=होकर।

समत्वम्=सम+त्व=समत्व+(नपुं०) द्वितीο ए० व०=(सिद्धि और असिद्धि में) समत्व को। समता को।

योगः=(पुं०)√युज्+घञ्=योग+प्र० ए० व०=योग।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+कर्मवाच्य, लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है॥

अर्थ—हे धनंजय ! आसक्ति को छोड़कर, सिद्धि और असिद्धि में सम भाव होकर, योग में स्थित हुआ (तू) कर्मों को कर। (किए हुए कर्म की) सिद्धि और असिद्धि में समत्व को ही योग कहा जाता है॥४८॥

व्याख्या—हे धन को जीतने वाले अर्जुन ! तू पराक्रमी और शूर है। इसलिए तू मेरे द्वारा कहे हुए मार्ग पर चलने के लिए सर्वथा समर्थ है।

हे अर्जुन ! तू सदा आसक्ति या लगाव का त्याग कर और केवल ईश्वरार्पण कर्म कर। उनमें भी "ईश्वर मुझ पर प्रसन्न हों।" इस आशा रूप आसक्ति को त्याग दे। किसी भी चीज, जीव, धन, धान्य, भूमि, उद्यान, मकान, सामान, स्त्री, पुत्र आदि सांसारिक वस्तुओं में मोह करने वाला मत बन। उनके प्राप्त होने या अभाव में हर्ष-विषाद से रहित होकर सदा समभाव बना रह। इन सबको आने-जाने वाले समझ। यद्यपि यह उपदेश कहने में सरल है परन्तु आचरण करने में कठिन है क्योंकि निरन्तर अभ्यास और प्रभु की कृपा से ही इस मंजिल पर पहुँचा जाता है।

समत्व या समभाव होने का नाम योग है। लाभ, हानि, जीवन, मरण और यश-अपयश आदि सब कुछ ईश्वर के हाथ में हैं। इन सब द्वन्द्वों में सदा समभाव से स्थित रह। कहने का भाव यह है कि इनमें से किसी के साथ भी

तेरा राग या द्वेष न होना चाहिए। न किसी बात का हर्ष या शोक ही होना चाहिए। जगत् में चाहे कुछ भी होता रहे परन्तु तू उसको मिथ्या समझकर उससे प्रभावित न हो। कर्म कर परन्तु उन कर्मों की सिद्धि असिद्धि का कोई विचार न कर। तेरा कर्तव्य तो शुभ कर्मों का करना है, फल की आकांक्षा करना नहीं। इस प्रकार आचरण करने से तू शीघ्र ही परमपद का अधिकारी हो जाएगा। तेरा शरीर कर्म करने में लगा रहेगा और तेरा मन भीतर-बाहर, दूर-समीप सर्वत्र सदा परमात्मा की सर्वव्यापकता का अनुभव करने लगेगा तो फिर मोक्षरूप लक्ष्य की प्राप्ति में कुछ भी विलम्ब न होगा॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥४९॥

दूरेण हि+अवरम्+कर्म बुद्धि-योगात्+धनंजय। बुद्धौ शरणम्+अन्विच्छ कृपणाः फल-हेतवः॥

दूरेण=(वि०) दुःखेन ईयते, दुर्+इण्+रक्, धातोः लोपः=दूर+(नपुं०) तृती० ए० व०=अतिविप्रकर्षेण। अत्यन्त। दूर द्वारा। दूर होने से। बहुत ही।

हि=(अव्यय) ही। निःसन्देह। क्योंकि।
[इस श्लोक में ये तीनों अर्थ किए जा सकते हैं।]

अवरम्=(वि०) अव√रा+क+अम्=निकृष्ट (है)। तुच्छ (है)।

कर्म=(नपुं०) कर्मन् (√कृ+मनिन्)+प्र० ए० व०=(सकाम) कर्म। फल की इच्छा से किया हुआ कर्म।
['अवरम्' शब्द, इसे कर्म शब्द का विशेषण भी माना जा सकता है। तब अर्थ होगा—दूसरा कर्म। अर्थात् 'पहले निष्काम' को छोड़कर "दूसरा सकाम कर्म" (नपुं० ए० व०)]

बुद्धि-योगात्=(पुं०) समत्व-बुद्धि-युक्तात् कर्मणः=समत्व बुद्धि से युक्त होकर किए हुए कर्म से। बुद्धियोग से किए हुए कर्म की अपेक्षा। (पंच० ए० व०)। जिसमें ममता, आसक्ति और कामना का त्याग करके समत्व-बुद्धि से कर्तव्य-कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है उस कर्मयोग का वाचक यहाँ "बुद्धियोग" है। अर्थात् आत्मज्ञानरूप बुद्धि का साधन 'निष्काम-कर्म' ही बुद्धियोग है॥

धनंजय !=(सम्बो० ए० व०, पुं०) हे धन जीतकर उपार्जन करने वाले अर्जुन !

बुद्धौ=(स्त्री०) √बुध्+क्तिन्=बुद्धि+सप्त० ए० व०=(योग-विषयायां) बुद्धौ, (तत्परिपाकजायां वा सांख्यबुद्धौ)=योगविषयक बुद्धि में, अथवा उसके परिपाक से उत्पन्न होने वाली सांख्य बुद्धि में। समत्व बुद्धियोग में।

शरणम्=(नपुं०) शृणाति दुःखम् अनेन, √शृ (क्र्या० पर० सक०)+ल्युट् =शरण+द्विती० ए० व०=शरण को। पनाह को। आश्रय को। आड़ को। अभयप्राप्ति के हेतु को।

अन्विच्छ=अनु √इष् (तुदा० पर० सक०=चाहना। इच्छा करना)+लोट्०, म० पु०, ए० व०=प्रार्थयस्व। इच्छा कर। ढूंढ। ग्रहण कर।

कृपणाः=(वि०) √कृप्+क्वुन्=कृपण+(पुं०) प्र० ब० व०=कृपण (हैं)। कंजूस हैं। कृपा के पात्र हैं। दीन हैं। नीच हैं।

[जो परमात्मा को लक्ष्य न बनाकर क्षुद्र कामनाओं को ही लक्ष्य बनाकर कर्म करते हैं उनकी दुर्गति देखकर दया आती है। इसलिए वे कृपण अर्थात् दया के पात्र हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् ३।८।१०॥ में लिखा है—

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति, स कृपणः।"

अर्थात् हे गार्गि ! जो इस अविनाशी (परब्रह्म) को जाने बिना इस लोक से (मरकर) चला जाता है। वह कृपण (महात्माओं द्वारा दया का पात्र) है॥

स्मृति में लिखा है—

"कृपणोऽजितेन्द्रियः" अर्थात् जिसने अपनी इन्द्रियों को जीता नहीं वह कृपण या मन का दीन है॥]

फल-हेतवः=(पुं०) फल-तृष्णा-प्रयुक्ताः सन्तः। फल की तृष्णा से संयुक्त या प्रेरित होकर सकाम-कर्म करने वाले (पुरुष)। प्र० ब० व०। जन्म-मरण के चक्र में फँसाने वाले कर्मों के फल का हेतु बनने वाले पुरुष। धन-धान्य, पुत्र-कलत्र, राजपाट और स्वर्गादि सुखों की कामना से कर्म करने वाले लोग॥

अर्थ—हे धन को जीतने वाले (अर्जुन)! बुद्धियोग (समत्व-बुद्धि से युक्त होकर किए हुए कर्म) से, (सकाम) कर्म अत्यन्त निकृष्ट या तुच्छ है। इसलिए तू बुद्धि में (योगविषयक बुद्धि में, अथवा उसके परिपाक से उत्पन्न होने वाली सांख्य बुद्धि में, या समत्व-बुद्धियोग में) आश्रय ग्रहण करने की इच्छा कर क्योंकि (जन्म-मरण के चक्र में फंसाने वाले सकाम-कर्मों के) फल के हेतु बनने वाले लोग दीन हैं॥४९॥

व्याख्या—हे धन को जीतने वाले अर्जुन ! किसी ने ठीक ही कहा है—

"धन जीता तो का भया, मन जीते जग-जीत ।"

सिद्धि, असिद्धि में समत्व भाव ही बुद्धियोग है अर्थात् ममता, आसक्ति और कामना का सर्वथा परित्याग करके समत्वबुद्धि से कर्तव्य कर्मों का करना ही बुद्धियोग है जिससे चित्तवृत्ति शान्त और शुद्ध होकर निष्काम कर्म करता हुआ योगी अपने परम स्वरूप को प्राप्त हो जाता है जबकि सकाम कर्मों का फल नाशवान तथा क्षणिक सुख को देने वाला है। परन्तु बुद्धियोग का फल स्थायी है तथा परमात्मा को प्राप्त कराने वाला है। सकाम कर्मयोग और निष्काम कर्मयोग में धरती आकाश का अन्तर है। इनमें से एक तो अन्धकारमयी रात्रि के तुल्य है और दूसरा प्रखर देदीप्यमान दिन के समान है। सकाम कर्म करने वाले पुरुष सदा जन्म-मरण रूप संसार चक्र में रहट के टिण्डों की तरह परवश हुए भ्रमण करते रहते हैं। नाना प्रकार की योनियों में चक्कर लगाते हुए दुःखभरी दीन दशाओं को प्राप्त करते रहते हैं। याज्ञवल्क्य ने एक बार गार्गी से कहा था कि हे गार्गि ! जो पुरुष अक्षर ब्रह्म को बिना जाने इस मनुष्यलोक से चले जाते हैं वे अभागे हैं।

हे अर्जुन ! तू बुद्धियोग का सहारा ले। बुद्धियोग की परिपक्व अवस्था को प्राप्त होने पर तू परमानन्द अर्थात् परमात्मा में मेल को पा जाएगा। जब कोई कंजूस पुरुष इस लोक में नाना प्रकार के कष्टों को सहन करता हुआ अनेक प्रकार के छल-कपटों से धन एकत्रित करता है, तब वह उस धन का न स्वयं उपभोग करता है न उसे दान आदि सत्कर्मों में व्यय करता है। इससे उस कंजूस को इस लोक में सुख नहीं होता और मरने पर किए हुए दुष्कर्मों के पाप के फल को भोगता है। इस विषय में ईरान के एक भूतपूर्व सम्राट् कारूँ का उदाहरण बहुत उपयुक्त है जिसने कबरों से मृतकों के कफन तक निकलवाकर बेच डाले थे और धन के चालीस कोष एकत्रित कर लिए थे परन्तु वह उन सबको मरते समय यहीं छोड़ गया और नरक की अग्नि में झोंका गया। गजनी के सुलतान महमूद ने अठारह बार भारत के देवमन्दिरों को लूटा जिससे उसके पास असीम धन एकत्रित हो गया था। मरते समय वह उस धन और पापों को देखकर जार जार रो रहा था। इसी शोकातुर अवस्था में उसके प्राणपखेरू उड़ गए थे और वह लूटा हुआ धन उसके किसी भी काम न आया केवल अपने द्वारा किए हुए पापों के बोझल गट्ठर ही सिर पर रखकर ले गया था। इसी प्रकार मृत्यु के अनन्तर महान् सिकन्दर के दोनों खाली हाथ कफन से बाहर लटकते हुए सर्वसाधारण लोगों ने भी देखे थे।

इसलिए मनुष्य को सकाम कर्म करके कभी फलप्राप्ति का हेतु नहीं बनना चाहिए। फलेच्छा से ही फल की प्राप्ति होती है। फिर उस फल के भोगने के लिए जन्म धारण करना पड़ता है जो दुःखों का मूल होता है। इसलिए सकाम कर्म करके मनुष्य फलप्राप्ति का हेतु बन जाता है जिससे वह दीनहीन और परवश बन जाता है। अर्थात् जो लोग फल के लिए कर्म करते हैं *अथवा फल जिनको कर्म करने की प्रेरणा करता है वे लोग कृपण* होते हैं। तू बुद्धियोग द्वारा परमपद को प्राप्त कर। अब यही तेरा असीम और अतुल्य धन को जीतना है। संसार के धन को जीतकर धनंजय कहलाया तो फिर उससे क्या ? तू मोक्षंजय बन ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धि-युक्तः+जहाति+इह उभे सुकृत-दुष्कृते। तस्मात्+योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

बुद्धि-युक्तः=(वि०) [समत्वविषयया] बुद्धया युक्तः (तृती० तत्पु०)। प्र० ए० व०। (समत्व-योगविषयक) बुद्धि से युक्त हुआ (पुरुष)।

जहाति=√हा (जुहो० पर० सक०=त्यागना)+लट्० प्र० पु० ए० व० =जहाति। परित्यजति। त्याग देता है। छोड़ देता है।

इह=(अव्यय) इदम्+ह, इ आदेश=इह। अस्मिन् लोके। यहाँ। इस लोक में।

उभे=(सर्व०)√उ+भक्=उभ+द्वितीо द्वि० व०=उभे=दोनों को।

सुकृत-दुष्कृते=सुकृतं च दुष्कृतं च (इतरेतर द्वन्द्व०)। द्वितीо द्वि० व०= पुण्य और पाप को।

तस्मात्=(सर्व०) तद्+पंच० ए० व०=इसलिये।

योगाय=(पुं०) योग+चतु० ए० व०=योग के लिए।

युज्यस्व=√युज् (दिवा० आत्म० सक०=जुड़ना। जोड़ना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=जुड़ जा। युक्त हो। यत्न कर। चेष्टा कर।

योगः=√युज्+घञ्=योग+प्र० ए० व०=बुद्धियोग।

कर्मसु=(नपुं०) कर्मन्+सप्त० ब० व०=कर्मों में।

कौशलम्=(नपुं०)√कुश्+कलन्=कुशल+अण्=कौशल+प्र० ए० व० =कुशलता। दक्षता। मंगल। कल्याण। निपुणता।

अर्थ—(समत्व-योगविषयक) बुद्धि से युक्त हुआ (पुरुष), पाप और पुण्य इन दोनों को इसी लोक (या इसी जन्म) में छोड़ देता है। इसलिए तू

समत्व रूप योग के लिए (कर्मों में) युक्त हो [अर्थात् यत्न कर।] (क्योंकि) समत्वयोगबुद्धि ही कर्मों में कल्याण रूप है (अर्थात् कर्मबन्धन से छूटने का उपाय है) ॥५०॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! 'पाप' और 'पुण्य' कर्मों के दो ही फल हैं जिनकी प्राप्ति ही मनुष्य को कर्मों से बाँध देती है और कर्मों से बँध जाने पर इस जीवात्मा का बार-बार जन्म-मरण होता है। तैत्ति० १०।६३।७॥ में लिखा है—"धर्मेण पापमपनुदति" अर्थात् पुरुष धर्म द्वारा पाप को दूर करता है।

परन्तु पाप और पुण्य इन दोनों को ही साधक समत्वबुद्धियोग के द्वारा दूर कर देता है क्योंकि समत्वबुद्धियोग से अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती हैं तथा सब प्रकार का राग-द्वेष समाप्त हो जाता है एवं वैराग्य और ज्ञान का साम्राज्य वर्तमान हो जाता है। सब ओर सबमें अपना ही स्वरूप भासमान होने लगता है। समस्त वासनाएं शान्त और शून्य हो जाती हैं। जब मनुष्य फल की आकांक्षा को छोड़कर ही कर्म करता है तो वह कर्म उसका स्वाभाविक कर्म बन जाता है। इसी से यह कर्म मोक्ष का प्रतिबन्धक नहीं होता क्योंकि करने वाला उसका कर्ता नहीं बनता। वह तो उस कर्म को अपना कर्तव्य समझकर ही करता है किसी फलप्राप्ति की इच्छा से नहीं। न वह उस कर्म की सिद्धि पर प्रसन्न होता है और न उसकी असफलता के कारण खिन्न या दुःखी होता है। ऐसा होने से इसी जन्म में अच्छे और बुरे कर्मफल को त्यागकर मोक्ष का भागी बन जाता है। यही कर्मों के करने में चतुराई या कुशलता है क्योंकि इस प्रकार आचरण करने से जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त हो जाता है। कर्म करते समय बुद्धि को स्थिर, पवित्र, सम और शुद्ध रखना ही सबसे बड़ा कौशल है। इसी को समत्वबुद्धियोग कहते हैं।

इस श्लोक पर कल्याण के गीतातत्त्वांक में इसी जन्म में पुण्य-पाप के त्याग के सम्बन्ध में कितना सुन्दर प्रवचन लिखा है—

"इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जन्म जन्मान्तर में और इस जन्म में किए हुए जितने भी पुण्यकर्म और पापकर्म संस्कार रूप से अन्तःकरण में संचित रहते हैं उन समस्त कर्मों को समतारूप बुद्धि से युक्त कर्मयोगी इसी लोक में त्याग देता है; अर्थात् इस वर्तमान जन्म में ही वह उन समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। उसका उन कर्मों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसके कर्म पुनर्जन्मरूप फल नहीं दे सकते क्योंकि निःस्वार्थ भाव से केवल लोकहितार्थ किए हुए कर्मों से उसके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं (४।२३)। इसी प्रकार उसके क्रियमाण पुण्य तथा पापकर्म का भी त्याग हो जाता है क्योंकि पापकर्म तो उसके द्वारा स्वरूप से छूट जाते हैं और शास्त्रविहित

पुण्यकर्मों में फलासक्ति का त्याग होने से वे कर्म, अकर्म बन जाते हैं (४।२७)। अतएव उनका भी त्याग एक प्रकार से हो ही गया ॥"

इस श्लोक पर भारतधर्म महामण्डल के श्री स्वामी दयानन्द जी का कथन है—

"इस श्लोक में दो प्रकार के कर्मयोग के लक्षण कहे गये हैं। प्रथम 'समत्व' अर्थात् लाभ-अलाभ, सफलता-विफलता आदि सभी में समभाव रखकर कर्तव्यबुद्धि, भगवत्प्रीति या भगवान् को सर्वत्र व्याप्त जानकर जीव-सेवा द्वारा भगवत्पूजा करना और फलाफल उन्हीं को समर्पण कर देना, यही कर्मयोग का लक्षण है।

द्वितीय; कर्म में जो कौशल है अर्थात् इस कौशल या चतुराई के साथ कार्य करना कि वह कर्मबन्धन का कारण न बनकर बन्धननाश तथा मोक्ष का ही कारण बन जाए ; उसे भी कर्मयोग कहते हैं। यह कौशल कर्म करने में निष्काम भाव रखने से ही हो सकता है क्योंकि कामना ही बन्धन का कारण है। फलाकांक्षा न रखने से "सुकृत", "दुष्कृत" किसी के साथ भी कर्मयोग का सम्बन्ध नहीं रहेगा और इस प्रकार पाप-पुण्य, धर्म-अधर्मरूपी द्वन्द्वों से परे ही ब्रह्म का राज्य है। अतः समबुद्धि के साथ कर्मयोग के अनुष्ठान द्वारा योगी अनायास ही आनन्दमय मोक्षपद को पा सकता है" ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

कर्म-जम्+बुद्धि-युक्ताः+हि फलम्+त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः पदम्+गच्छन्ति+अनामयम् ॥

कर्म-जम्=(वि०) कर्मभ्यो जातम्। द्विती० ए० व०। कर्मों से उत्पन्न हुए को। [कर्मजं फलं=कर्मों से उत्पन्न होने वाली इष्टानिष्ट देहप्राप्ति को।]

बुद्धि-युक्ताः=(वि०) समत्व-बुद्ध्या युक्ताः (पुरुषाः)=समत्वबुद्धि से युक्त (पुरुष—लोग)। प्र० ब० व०।
[युक्त=√युज्+क्त=जुड़े हुए।]

हि=(अव्यय) ही। क्योंकि। निःसन्देह।

फलम्=(नपुं०)√फल्+अच्=फल+द्विती० ए० व०=फल को ['कर्म-जम्' पद इस 'फलम्' पद का ही विशेषण है।]
[कर्मों से उत्पन्न होने वाली इष्टानिष्ट देहप्राप्तिरूप फल को।]

त्यक्त्वा=√त्यज् (भ्वा० पर० सक०=त्यागना)+क्त्वा=त्यागकर।

मनीषिणः=मनसः ईषा (षष्ठी तत्पु०)=मनीषा (बुद्धि)+इन्=मनीषिन्
+षष्ठी ब० व०=(समत्वबुद्धि से युक्त) ज्ञानी लोग।

जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः=(वि०) जन्म एव बन्धः=जन्मबन्धः, तेन विनिर्मुक्ताः [जीवन्त एव] जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तः=जीवित अवस्था में ही जन्मबन्धन से निर्मुक्त (छूटे हुए)।

[√जन्+मनिन्=जन्मन् (नपुं०)।

√बन्ध्+घञ्=बन्ध (पुं०)।

वि—निर्√मुच्+क्त+प्र० ब० व०=विनिर्मुक्ताः=छूटे हुए।]

पदम्=√पद् (दिवा० आत्म० सक०, अक०=पाना)+घञ्=पद (पुं०)+द्विती० ए० व०=पद को। स्थान को। दर्जे को। [परम विष्णोः मोक्षाख्यं पदम्=विष्णु के मोक्ष नामक परम पद को]।

गच्छन्ति=√गम् (भ्वा० पर० सक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० =जाते हैं। प्राप्त होते हैं।

अनामयम्=(वि०) न सन्ति आमयाः यस्मिन्, तम् (नञ् बहुव्री०) (द्विती० ए० व०)। [आम√या+क, अथवा आ√मी+अच्=आमय (पुं०) =रोग, उपद्रव।]

सर्वोपद्रवरहितम्=सारे उपद्रवों से रहित को। निरामय को। निरुपद्रव को। सारे रोगों से रहित को।

अर्थ—(समत्व) बुद्धि से युक्त ज्ञानी लोग कर्मों से उत्पन्न होने वाले (इष्टानिष्ट देहप्राप्तिरूप) फल को त्यागकर जन्म-बन्धन से मुक्त हुए [अविद्या आदि रोगों से रहित] सर्वोपद्रवरहित (मोक्षरूप) परम पद को प्राप्त होते हैं॥५१॥

व्याख्या—उपरोक्त तीन श्लोकों में 'बुद्धि' शब्द द्वारा कर्मयोग-जनित सत्त्व-शुद्धि से उत्पन्न हुई जो सर्वतः संप्लुतोदक-स्थानीय परमार्थ-ज्ञानरूपा बुद्धि है वही दिखलाई गई है क्योंकि यहाँ यह बुद्धि पुण्य-पाप के नाश में साक्षात् हेतु रूप से वर्णित है। जिन कर्मयोगी ज्ञानियों में इस बुद्धि द्वारा समभाव की अटल स्थिति हो गई है ऐसे कर्मयोगी ज्ञानी लोग ही मनीषी हैं अर्थात् वास्तव में वे ही समत्वबुद्धि वाले लोग हैं। वे विवेकी हैं। मननशील हैं। वे लोग कर्मों का आचरण तो करते हैं परन्तु उनके फल की तो स्वप्न में भी इच्छा नहीं करते हैं। इस तरह वे सदैव निष्काम भाव से ही कर्म करते हैं। ऐसा उनका आचरण सहज-स्वभाव ही हो जाता है। इससे उनका सम्बन्ध पूर्वजन्मों के बाकी बचे हुए कर्मों से भी छूट जाता है और वर्तमान जन्म के कर्म भी उन्हें लिप्त नहीं करते इसलिये वे लोग बार-बार जन्म और मरण के चक्र से सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं और उस परम पद

को प्राप्त हो जाते हैं जहाँ न रोग है, न शोक है, न क्लेश का लेश है, न दुःख है, न खेद है, न राग है, न द्वेष है अर्थात् जो सब दोषों से रहित है जहाँ जाने पर कर्मयोगी ज्ञानी का अपना अस्तित्व भी शेष नहीं रहता अपितु उसका सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, निराकार, निर्विकार परमात्मा के स्वरूप से मेल हो जाता है जो सर्वदा, सर्वत्र, एकरस रूप से व्यापक है। फिर किसी काल में भी ब्रह्मलीन पुरुष को उससे अलग होकर आवागमन के चक्र में पड़ना या भटकना नही पड़ता ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

यदा ते मोह-कलिलम्+बुद्धिः+व्यतितरिष्यति । तदा गन्तासि निर्वेदम्+श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले । यद्+दा=जब । जिस समय ।

ते=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी ए० व०=ते, तव=तेरी ।

मोह-कलिलम्=(नपुं०) मोहात्मकम् (=अविवेकरूपं) कलिलम् (=कालुष्यम्)=मोहरूप दलदल या कीचड़ को ।
[√मुह्+घञ्=मोह (पुं०)=राग ।
√कल्+इलच्=कलिल+(नपुं०) द्विती० ए० व०=कीचड़ को । कालिमा को । गन्दले पानी को ।

बुद्धिः=(स्त्री०) प्र० ए० व०=अक्ल । बुद्धि ।

व्यतितरिष्यति=वि-अति√तॄ (भ्वा० पर० सक०=पार होना । तैर जाना)+लृट्० प्र० पु०, ए० व०=तैर जायेगी । अच्छी तरह से लांघ जाएगी । भली-भाँति पार कर जाएगी । उल्लङ्घन कर जाएगी [अर्थात् बिल्कुल शुद्ध हो जाएगी] ।

तदा=(अव्यय) तस्मिन् काले । तद्+दा=तब । उस समय ।

गन्तासि=√गम् (भ्वा० पर० सक०=जाना)+लुट्० म० पु०, ए० व०=(तू) प्राप्त होगा । [प्राप्स्यसि] ।

निर्वेदम्=(पुं०) निर्√विद्+घञ्=निर्वेद+द्विती० ए० व०=निर्वेद को । वैराग्य को ।

श्रोतव्यस्य=√श्रु (=सुनना)+तव्य=श्रोतव्य+(पुं०) षष्ठी ए० व०=सुनने योग्य के ।

श्रुतस्य=√श्रु+क्त=श्रुत+षष्ठी ए० व०=सुने हुए के ।

च=(अव्यय) और ।

अर्थ—जब तेरी बुद्धि मोह के कीचड़ को पार कर जाएगी तब (तू) सुनने योग्य और सुने हुए के वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा। [अर्थात् तब तेरे लिए सुनने योग्य और सुने हुए सब विषय निष्फल हो जाएंगे] ॥५२॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस जगत् में माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, कलत्र इत्यादि अनेक सम्बन्धों वाले व्यक्ति होते हैं जिनका भरण-पोषण और सेवा-शुश्रूषा धर्मानुसार कर्तव्य समझकर करनी शास्त्रविहित कार्य है और वह साधक के मार्ग में बाधक नहीं, साधक है। परन्तु इन सम्बन्धियों के हित के लिए दूसरों के गले काटना, घूसखोरी द्वारा धन उपार्जन करना, पाप, अन्याय और अधर्म से धन एकत्रित करना, और फिर उसे सम्बन्धियों को खिलाना तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा करना शुभ-गतिप्रद नहीं होता।

इन सब सम्बन्धियों के जन्म-मरण के विषय में हर्ष-शोक करना भी उचित और युक्तियुक्त नहीं है। स्वयं अपने शरीर के लिए भी पापकर्मों द्वारा जीविका उपार्जन करना अधोगति का कारण होता है।

मनुष्य अपने सम्बन्धियों के शरीरों अथवा स्वयं अपने शरीर को सदा स्थिर रखने के लिए जो ममता और आसक्ति रखता है और फिर उस ममता या आसक्ति में फँसकर जो काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार आदि के वशीभूत हुआ हर्ष-शोक की लोहश्रृङ्खलाओं में जकड़ा रहता है तब उसको मोह-कलिलग्रस्त कहा जाता है। यह मोह एक प्रकार का कीचड़ है। महादलदल है। गंदा-गंदला पानी है। घना अंधकार है। किंवा यह मोह न धुलने वाली कालिमा है। इससे बच निकलने या पार हो जाने पर ही परमानन्दस्वरूप परम पद की प्राप्ति होती है। जब तक देह में आत्म-भ्रान्ति, बन्धु-बान्धवों के मरने का शोक, जन्मने का हर्ष, धन-दौलत से प्यार, प्रभुत्व की आकांक्षा इत्यादि विकार मन और बुद्धि से दूर नहीं होते तब तक मनुष्य न तो निष्काम भाव से कर्म कर सकता है और न उसमें समत्वबुद्धि ही उत्पन्न हो सकती है। न उसके हृदय में त्याग की भावना ही आ सकती है। मोहरूप दलदल में फँसे रहने पर पूर्व-कामनाओं का तो अन्त होता ही नहीं है अपितु नवीन कामनाएं और उत्पन्न होती रहती हैं जिससे बुद्धि फिर कभी स्थिर नहीं होती और बुद्धि के अस्थिर रहने से अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता जिससे फिर शुभाशुभ कर्मों से छुटकारा पाना कठिन होता है। ऐसी अवस्था में मोक्षप्राप्ति की तो बात ही क्या है ?

इसलिए हे अर्जुन ! सबसे पहले तू मोह का परित्याग कर जो अत्यन्त अभ्यास और साधना से होना संभव है।

मोह के त्याग से तेरी बुद्धि शुद्ध और अन्तःकरण निर्मल हो जाएगा। फिर तू भूतकाल में सुने हुए, लुभाने वाले उन वचनों को भूल जाएगा जो स्वर्गभोगों को दिलाने का लोभ दिखाने वाले हैं अथवा पाप करवाकर अधोगति में गिराने वाले हैं।

अथवा उन वचनों से छुटकारा पा जाएगा जो अभी तक तेरे द्वारा सुने नहीं गए और जिनके सुनने से लुभायमान होकर तू पाप करके अधोगति को प्राप्त हो सकता है।

वर्तमानकाल तो भूत और भविष्यत् की सन्धिमात्र का ही नाम है जिसका समय क्षणमात्र भी नहीं होता। अतः उसमें कुछ भी कहा सुना नहीं जा सकता। इसलिए भगवान् ने इस श्लोक में केवल श्रोतव्यस्य या श्रुतस्य ही कहा है जो भूत और भविष्यत् से ही सम्बन्धित है।

यदि मोह के त्याग किए बिना हठपूर्वक निष्काम कर्म करने का प्रयत्न किया भी जाए तो उसमें सफलता-प्राप्ति की आशा बहुत कम होती है और पद-पद पर साधक के फिसलने की आशंका बनी रहती है। वेदवचन भी मोक्षप्राप्ति में तभी तक सहायक होते हैं जब तक आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता। ब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर फिर साधक का वेदों से भी कोई प्रयोजन नहीं रहता। जैसे नदी से पार होकर जब कोई अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाता है तो फिर उसे नाव से कोई प्रयोजन नहीं रहता। ऋग्वेद १।१६४।३९॥ में लिखा है—"ऋचो अक्षरं परमे व्योमन्।" अर्थात् जब परमात्मा को जान लिया तो फिर वेद के पाठ से कोई प्रयोजन नहीं है।

इसी प्रकार तैत्ति० ब्रा० ३।१०।९॥ में लिखा है—"न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाऽर्थोऽस्ति, यः सावित्रं वेद।"

अर्थात् न इसको ऋग्वेद की ऋचा से, न यजुर्वेद के मन्त्रों से, और न सामवेद से प्रयोजन है, जो सावित्र (परमात्मा) को जानता है। इसलिए वेदों की सुनी हुई और भविष्य में सुनी जाने वाली सब प्रकार की बातों से ब्रह्मवेत्ता को वैराग्य प्राप्त हो जाता है और फिर उसे किसी से भी प्रयोजन नहीं रहता अर्थात् तब उसके लिए सुनने योग्य और सुने हुए सब विषय निष्फल हो जाते हैं ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

श्रुति-विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधौ+अचला बुद्धिः +तदा योगम्+अवाप्स्यसि ॥

श्रुति-विप्रतिपन्ना=(वि०) अनेक-साध्य-साधन-सम्बन्ध-प्रकाशन-श्रुतिभिः श्रवणैः विप्रतिपन्ना=अनेक साध्य, साधन और उनका सम्बन्ध बतलाने वाली श्रुतियों के श्रवण करने से विक्षिप्त हुई (व्याकुल हुई, भ्रमित हुई, परेशान हुई, घबरायी हुई, नाना भावों को प्राप्त हुई)।

[√श्रु+क्तिन्=श्रुति (स्त्री०)=वेदवाणी।

वि-प्रति√पद्+क्त=विप्रतिपन्न+(स्त्री०) आ=विप्रतिपन्ना+प्र०ए० व० । बुद्धि का विशेषण है ।]

ते=(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी ए० व०=ते, तव=तेरी।

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले, यद्+दा=जिस समय । जब

स्थास्यति=√स्था (भ्वा० पर० अक०)+लृट्०, प्र० पु०, ए० व०=स्थित होगी। टिक जायेगी। ठहर जायेगी। [स्थिरीभूता भविष्यति ।]

निश्चला=(वि०) विक्षेप-चलन-वर्जिता सती। निर्√चल् (भ्वा० पर० अक० =हिलना। कांपना)+टाप्=निश्चला+(स्त्री०) प्र० ए० व०= अचला। न चलने वाली । स्थिरा ।

समाधौ=(स्त्री०) समाधीयते चित्तम् अस्मिन् इति समाधिः=जिसमें चित्त का समाधान किया जाए, उसका नाम "समाधि" है ।

सम्—आ√धा+कि=समाधि+सप्त० ए० व०=आत्मा में। परमात्मा में ।

अचला=(वि०,स्त्री०) न चला (प्र० ए० व०)=स्थिरा । दृढा।

बुद्धिः=(स्त्री०)√बुध्+क्तिन्+प्र० ए० व०=अन्तःकरण। बुद्धि ।

तदा=(अव्यय) तस्मिन् काले । तद्+दा=उस समय । तब ।

योगम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=योग को ।

[विवेक-प्रज्ञां समाधिम् । विवेकजनित (बुद्धिरूप) समाधि-निष्ठा को ।]

अवाप्स्यसि=अव√आप् (चुरा० स्वा० सक०=प्राप्त करना।)+लृट्० म० पु०, ए० व०=तू पालेगा। तू प्राप्त होगा। प्राप्स्यसि ॥

अर्थ—जब (अनेक साध्य साधन और उनका सम्बन्ध बतलाने वाली) श्रुतियों के (वचनों को) श्रवण करने से (अथवा स्वर्ग दिलाने वाले वेद के पुष्पित वचनों को सुनने से) विचलित या घबरायी हुई तेरी बुद्धि समाधि (परमात्मा के स्वरूप) में अचल और स्थित हो जायेगी तब तू योग (विवेक-जनित बुद्धिरूप समाधि-निष्ठा) को प्राप्त हो जायगा ॥५३॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तूने अनेक मत-मतान्तरों की भ्रम में डालने वाली बातों को लोगों से सुना है और उन वेदवचनों को भी सुना है जो उन क्रियाओं के विधान का वर्णन करते हैं जिनके अनुष्ठान से इहलोक और

परलोक के भोगों और सुखों की प्राप्ति होती है। भूतपूर्व-श्रुत इस प्रकार के वचनों से तेरी बुद्धि विभ्रान्त, चलायमान और संशयात्मिका हो चुकी है। इसी कारण से इस समय तेरी यह बुद्धि विक्षिप्त और अनिश्चयात्मिका हो रही है। इसी से तेरी मति का नाम विप्रतिपन्ना बुद्धि है क्योंकि इस समय तेरी यह बुद्धि क्षण क्षण में बदलती जा रही है और किसी स्थिर निश्चय पर पहुँचने में असमर्थ हो रही है। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि बुद्धि के तीन दोष होते हैं—मल, विक्षेप और आवरण। इन तीनों के दूर होने पर ही आत्मसाक्षात्कार होता है।

बुद्धि में 'मैं', 'मेरा' इत्यादि ममतामूलक विचारों का होना ही मूल दोष होता है और किसी ठीक निश्चय पर न पहुँचना 'विक्षेक' नामक दोष कहलाता है तथा आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता से अनभिज्ञता ही 'आवरण' दोष होता है। इन तीनों दोषों से रहित विवेक वैराग्य सम्पन्न बुद्धि से युक्त योगी लोग ही मोह-कलिल को उल्लंघन करके परमात्मा के स्वरूप में लीन हो जाते हैं। इसलिए बुद्धि को गड़बड़ा देने वाले अनेक उपदेशों का सुनना छोड़कर अन्तःकरण को निश्चल समाधि अवस्था में स्थिर करना चाहिए।

परमात्मा में अचल और स्थिर हुई बुद्धि का नाम प्रज्ञा है और इस प्रज्ञा से युक्त पुरुष को स्थितप्रज्ञ कहते हैं। इस पुरुष का बोलना और व्यवहार दोनों सत्य पर आधारित होते हैं।

इस श्लोक में भगवत्प्राप्ति का नाम ही योग है अर्थात् आत्मा या परमात्मा में स्थित हो जाने को योग कहते हैं। तू इसी योग को प्राप्त करने के लिए सुने सुनाए और स्वर्गभोग पाने के लिए सुनने योग्य पुष्पित श्रुति आदि के वचनों को भुलाकर अब अपनी बुद्धि को परमात्मा के स्वरूप में स्थिर, स्थित, अचल और दृढ़ करले ॥५३॥

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

स्थित-प्रज्ञस्य का भाषा समाधि-स्थस्य ? केशव !। स्थित-धीः किम्+प्रभाषेत किम्+आसीत व्रजेत किम् ?

स्थित-प्रज्ञस्य=(वि०) स्थिता (=प्रतिष्ठिता) ["अहम् अस्मि पर ब्रह्म" इति] प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञः (बहुव्री०) तस्य। जिसकी बुद्धि इस प्रकार प्रतिष्ठित हो गई है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ।" उसका नाम "स्थित-प्रज्ञ" है। उसकी।

(षष्ठी ए० व०)। स्थितप्रज्ञ पुरुष की। [स्थितप्रज्ञ पुरुष दो प्रकार के होते हैं —एक वे जो सदा समाधि में स्थित रहते हैं और दूसरे समाधि-रहित होते हैं परन्तु वे भी शान्तचित्त, निर्विक्षिप्त और समत्वबुद्धि वाले होते हैं]

का=(सर्व०) किम्+(स्त्री०) प्र० ए० व०=क्या ?

भाषा=(स्त्री०) भाषते (=कथ्यते) अन्या इति भाषा। परिभाषा। लक्षण। √भाष्+अ+टाप्+प्र० ए० व०।

समाधि-स्थस्य=(वि०) समाधौ स्थितस्य। (सप्त० तत्पु०)। षष्ठी ए० व०। समाधि में स्थित हुए की। (पुं०)। मन की एकाग्रता द्वारा परमात्मा में एकीभाव से स्थित हुए की।

केशव !=(पुं०, सम्बो० ए० व०)।

केशव=क् (ब्रह्मा)+अ (विष्णु)+ईश (शिव)+व (वपु=शरीर)। वह कृष्ण, जिसके शरीर में ब्रह्मा (उत्पन्न करने वाली), विष्णु (पालन करने वाली) और शिव (संहार करने वाली) तीनों शक्तियां पूर्णरूप से विद्यमान हैं। इसलिए कृष्ण का नाम केशव है।

केशी दैत्य को मारने के कारण भी कृष्ण का नाम केशव है।

हे केशव !। हे कृष्ण !।

स्थित-धीः=(वि०)√स्था+क्त=स्थित। ध्यै+क्विप्, सम्प्रसारण=धी (स्त्री०)। प्र० ए० व०। स्थिता धीः यस्य स स्थितधीः=स्थितप्रज्ञः। (बहुव्री०) परमात्मा में स्थिर हुई बुद्धि वाला। स्थिरबुद्धि पुरुष।

किम्=(सर्व०) (अव्यय) किम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्या ?। कैसे ?।

प्रभाषेत=प्र√भाष् (भ्वा० आत्म० सक०=बोलना)+विधि० प्र० पु०, ए० व०=बोलता है।

किम्=कैसे ?

आसीत्=√आस् (अदा० आत्म०, अक० सक०=बैठना)+विधि० प्र० पु०, ए० व०=बैठता है।

व्रजेत=√व्रज् (भ्वा० उभ० सक०=जाना)+विधि० प्र० पु०, ए० व०=जाता है। चलता है। विचरता है।।

किम्=कैसे ?।

अर्थ—अर्जुन बोला—

हे केशव ! समाधि में स्थित, स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण है ? स्थितधी कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? और कैसे चलता-फिरता या विचरता है ? ॥५४॥

व्याख्या—अर्जुन बोला—हे केशव ! आप सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के कारण हो। सर्वान्तर्यामी हो। सबके अन्तःकरणों में स्थित हो। सबके उत्प्रेरक हो तथा केशी आदि दैत्यों के मारने वाले हो। अतः आप सब प्रकार से सम्पूर्ण और सर्वशक्तिमान् हो। इसलिए कृपया मुझे यह समझाइए कि समाधि में स्थित हुए स्थिरबुद्धि पुरुष की परिभाषा या लक्षण क्या है ? अर्थात् किन चिह्नों वाला पुरुष समाधि में स्थित हुआ स्थिर-बुद्धि कहलाता है ? दूसरा समाधिरहित स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? तथा कैसे चलता-फिरता या विचरता है ? सर्वसाधारण की बोलचाल, आसन और व्रजन क्रियाओं से उसमें क्या विलक्षणता या विभिन्नता होती है ? इस प्रकार अर्जुन ने केशव से चार प्रश्न पूछे जिनका उत्तर भगवान् अगले श्लोकों में देते हैं ॥५४॥

श्री भगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

प्रजहाति यदा कामान्+सर्वान्+पार्थ ! मनः+गतान् । आत्मनि+एव+आत्मना तुष्टः स्थित-प्रज्ञः+तदा+उच्यते ॥

प्रजहाति=प्रकर्षेण जहाति, प्र√हा (जुहो० पर० सक०=त्यागना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=भली प्रकार त्याग देता है। [परित्यजति]। छोड़ देता है।

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले। यद्+दा=जिस समय। जब।

कामान्=(पुं०)√कम्+णिङ्+घञ्=काम+द्विती० ब० व०=कामनाओं को। अभिलाषाओं को। इच्छा-भेदों को।

सर्वान्=(सर्व०) सर्व+(पुं०) द्विती० ब० व०=सबको।

पार्थ !=(पुं०) पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण् सम्बो० ए० व०=हे पृथापुत्र (अर्जुन) !

मनः+गतान्=(वि० पुं०) मनसि प्रविष्टान् (सप्त० तत्पु०)। मनसि गतान्। हृदि प्रविष्टान्। द्विती० ब० व०=मन में प्रविष्ट हुई को। मन में घुसी हुई को। मन में गए हुओं को।

आत्मनि=(पुं०) आत्मन्+सप्त० ए० व०=आत्मा में। अपने अन्तरात्मा स्वरूप में।

एव=(अव्यय) ही।

आत्मना=(पुं०) आत्मन्+तृती० ए० व०=आत्मा द्वारा।

तुष्टः=(वि०)√तुष् (दिवा० पर० अक०=सन्तुष्ट होना।)+क्त=तुष्ट+(पुं०) प्र० ए० व०=सन्तुष्ट है। खुश रहता है। खुश होता है।

स्थित-प्रज्ञः=(वि०) स्थिता (=प्रतिष्ठिता) [आत्म-अनात्म-विवेक-जा] प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञः (बहुव्री०)। विद्वान्। आत्माराम। आत्मक्रीड। (किसी बाह्य लाभ की अपेक्षा न रखकर सदा अपने आप सन्तुष्ट रहने वाला।)

तदा=(अव्यय) तस्मिन् काले, तद्+दा=उस समय। तब।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+कर्मवाच्य लट्० प्र० पु० ए० व०=कहा जाता है। कहलाता है॥

अर्थ—श्रीकृष्ण भगवान् बोले—

हे दृढ़संकल्प पृथा के पुत्र अर्जुन! जब मन में घुसी हुई सम्पूर्ण कामनाओं को पुरुष भली-भाँति त्याग देता है और आत्मा द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है॥५५॥

व्याख्या—हे अर्जुन! सारी कामनाओं का त्याग कर देने पर तुष्टि के कारणों का अभाव हो जाता है परन्तु शरीर-धारण के हेतु प्रारब्ध का अभाव होता नहीं, इसलिए शरीर-स्थिति के लिए उस मनुष्य की उन्मत्त या पूरे पागल के सदृश वृत्ति हो जानी चाहिए परन्तु यह बात होती नहीं है क्योंकि हृदय में प्रविष्ट सारी कामनाओं को त्याग किया हुआ पुरुष अपने अन्तरात्म-स्वरूप में ही अपने आप सन्तुष्ट रहता है, वह किसी बाह्य लाभ की कोई अपेक्षा नहीं रखता। सदा परमार्थ दर्शन रूप अमृत-रस-लाभ से ही तृप्त रहता है। दूसरे सब अनात्म-पदार्थों से अलं-बुद्धि वाला होकर तृष्णारहित हो जाता है और उसकी बुद्धि आत्म-अनात्म के विवेक से उत्पन्न होकर एक ही सूक्ष्म बिन्दु पर स्थित हो जाती है। तब उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसी का नाम आत्माराम होता है। उसी को आत्मक्रीड कहते हैं।

हे अर्जुन! उक्त कामना के कई भेद होते हैं। शरीर, पुत्र, कलत्र, धन, मानादि के ग्रहण करने की अविकसित इच्छा का नाम 'वासना' है। जब मनुष्य के मन में यह विचार प्रबल होता है कि अमुक वस्तु की प्राप्ति के बिना मेरा काम ही नहीं चल सकता, तो ऐसी प्रबल कामना को 'स्पृहा' कहते हैं।

तीसरी प्रकार की कामना का नाम 'इच्छा' है। इसमें अभाव वाली वस्तु की प्रकट रूप में कामना की जाती है। इसके अतिरिक्त मृत्यु, दुःख, रोग और शोकादि प्रतिकूल मानसिक क्लेशों से बचने की कामना होती है तथा

मानव के मन में नाना प्रकार की असंभव कल्पनाएं और कल्प-विकल्प उठते रहते हैं। ये सब कामनाएँ मन में प्रवेश करके डेरे डाल देती हैं और वहीं स्थित रहती हैं परन्तु आत्मा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए उनको त्याग देना सम्भव होता है। यदि ये कामनाएँ आत्मगत होतीं तो ये कभी त्याग न की जा सकती थीं।

कामनाओं का चौथा रूप 'तृष्णा' होता है जिसका दूसरा नाम लोभ है।

जब तक ये कामनाएँ मनुष्य के मन में बनी रहती हैं तब तक उसका मन परमात्मा की ओर आकर्षित नहीं होता। तृष्णा या लोभ के कारण उस शुभ ओर जाने के लिए उसके पास समय ही नहीं होता। साधारण प्रकृति के मनुष्य तो इन कामनाओं को त्याग ही नहीं सकते। परन्तु हे अर्जुन ! तुम तो पृथा के पुत्र हो, शुभ संस्कारों के साथ जन्मे, पालित और पोषित हुए हो। इसलिए तुम अपने मन से इन सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देने में समर्थ हो। तुम्हें यह बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिए कि जब तक मनुष्य इन सारी कामनाओं को मन से निकाल नहीं देता और शुद्ध किए हुए मन को निर्मल और स्थिर-बुद्धि के साथ परब्रह्म में स्थित और स्थिर नहीं कर देता, तब तक वह स्थितप्रज्ञ नहीं कहला सकता। इसलिए तू बाह्य झंझटों से छुटकारा पाकर इन कामनाओं को मन से निकाल दे और फिर आत्मा के आनन्दमय कोष में लीन हो जा जिससे तेरे भीतर ही सन्तुष्टि और तृप्ति का अमृत सागर भरा हुआ अनुभव होने लगेगा जिससे तू स्थितप्रज्ञ बन जाएगा।

देशपिता महात्मा गाँधी जी कहते हैं—कि "आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट रहना अर्थात् आत्मा का आनन्द अन्दर से खोजना, सुख-दुःख देने वाली बाहरी चीजों पर आनन्द का आधार न रखना। आनन्द सुख से भिन्न वस्तु है, यह ध्यान में रखना चाहिए। मुझे धन मिलने पर मैं उसमें सुख मानूं, यह मोह है। मैं भिखारी होऊँ, भूख का दुःख होने पर भी चोरी या दूसरे प्रलोभनों में न पड़ने में जो बात मौजूद है वह आनन्द देती है और वही आत्मसन्तोष है॥"

इस श्लोक से मिलता-जुलता भाव कठोपनिषद् (२।३।१४) में वर्णित है—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्मन् समश्नुते॥"

अर्थात् जिस समय सारी कामनाएँ जो कि इस मनुष्य के हृदय में आश्रय करके रहती हैं, छट जाती हैं उस समय यह (मरणधर्मा) पुरुष अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्मानन्द को भोगता है॥

मुण्डकोपनिषद् (३।१।४।।) में लिखा है—

"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।।"

अर्थात् आत्मा में खेलता हुआ, आत्मा में रमण करता हुआ, और आत्मा में व्यवहार करता हुआ ब्रह्मवेत्ता सबसे श्रेष्ठ है ।।

स्वामी चिद्घनानन्द जी गिरि कहते हैं—

"हे अर्जुन ! वे काम-संकल्पादि सर्व धर्म मन के ही हैं आत्मा के धर्म नहीं है । यदि वे काम-संकल्पादि आत्मा के ही स्वाभाविक धर्म होते तो वे आत्मा के विद्यमान होने पर कभी निवृत्त न होते । जैसे अग्नि का स्वाभाविक धर्म जो उष्णता है वह अग्नि के विद्यमान होने पर कभी निवृत्त नहीं होता क्योंकि ये काम संकल्पादि दोष यत्न करने पर मन से निवृत्त हो जाते हैं । इसलिए इनका आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । इसलिये ये मन के ही संगी साथी हैं ।"

श्री विनोबा जी का प्रवचन है—

"स्थितप्रज्ञ यानी स्थिरमति वाला—यह तो उसका नाम ही बता रहा है परन्तु संयम के बिना बुद्धि स्थिर होगी कैसे ?

अतः स्थितप्रज्ञ को संयम-मूर्ति बताया गया है । बुद्धि तो आत्मनिष्ठ हो और अन्तर-बाह्य-इन्द्रियाँ बुद्धि के अधीन हों—यह है संयम का अर्थ ।

स्थितप्रज्ञ सारी इन्द्रियों को लगाम चढ़ाकर उन्हें कर्मयोग में जोतता है। इन्द्रियरूपी बैलों से वह निष्काम स्वधर्माचरण की खेती भली-भाँति करा लेता है । अपना प्रत्येक श्वासोच्छ्वास वह परमार्थ में खर्च करता रहता है ।।"

इस प्रकार इस श्लोक में भगवान् ने अर्जुन के पहले प्रश्न स्थितप्रज्ञ का लक्षण समझा दिया है ।।५५।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६।।

दुःखेषु + अनुद्विग्न-मनाः सुखेषु विगत-स्पृहः । वीत-राग-भय-क्रोधः स्थित-धीः + मुनिः + उच्यते ।।

दुःखेषु = (नपुं०) √दुःख् (चुरा० पर० अक०) + अच् वा घञ् = दुःख + सप्त० ब० व० = दुःखों में । आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकार के दुःखों के प्राप्त होने में ।

अनुद्विग्न-मनाः = (वि०) न उद्विग्नं (= प्रक्षुभितं) मनो यस्य सः (बहुव्री०) = न क्षुभित मन वाला । न उद्विग्न हुए मन वाला । चिन्ता से मुक्त मन वाला । घबराहट से रहित मन वाला ।

[अनुद्विग्न=न उद्विग्न (नञ्०)। उद्√विज्+क्त=उद्विग्न। मनस् (नपुं०)] (पुं०, प्र० ए० व०)।

सुखेषु=(नपुं०) √सुख् (चुरा० पर० अक०=सुख होना)+अच्=सुख +सप्त० ब० व०=सुखों में।

विगत-स्पृहः=(वि०) विगता स्पृहा (=तृष्णा) यस्य सः (बहुव्री०)= दूर हुई स्पृहा वाला। नष्ट हुई तृष्णा वाला (पुं०, प्र० ए० व०)।

[वि√गम्+क्त=विगत।√स्पृह्+अ—टाप्=स्पृहा (स्त्री०)]

वीत-राग-भय+क्रोधः=(वि०) रागः च भयं च क्रोधः च वीता (=विगता) यस्मात् सः (इतरे० द्वन्द्व समास वाला बहुव्री०)=राग (=आसक्ति), भय और क्रोध जिसके नष्ट हो गए हैं वह। नष्ट हो चुके राग, भय और क्रोध वाला। (पुं०) प्र० ए० व०।

[√रञ्ज्+घञ्=राग (पुं०)=आसक्ति। सम्बन्ध-भावना।

√भी+अच्=भय (नपुं०)=डर।

√क्रुध्+घञ्=क्रोध(पुं०) रोष।

√वी (अदा० पर० सक०=जाना)+क्त=वीत=गया हुआ।]

स्थित-धीः=(वि०, पुं, प्र० ए० व०=टिकी हुई बुद्धि वाला। परमात्मा में स्थिर हुई बुद्धि वाला। स्थितप्रज्ञ।

मुनिः=(पुं०) मनुते जानाति यः,√मन्+इन्, उत्व=मुनि+प्र० ए० व०= मुनिः=ईश्वर, धर्म और सत्यासत्य प्रभृतिसूक्ष्म विषयों का विचार करने वाला व्यक्ति। मननशील। महात्मा। मन, कर्म और वाणी पर संयम करने वाला पुरुष।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+लट्०, प्र० पु० ए० व० (कर्मवाच्य)=कहा जाता है। कहलाता है॥

अर्थ—दुःखों (की प्राप्ति) में न क्षुभित हुए मन वाला, सुखों (की प्राप्ति) में न स्पृहा (तृष्णा) वाला, राग (सम्बन्ध-भावना), भय और क्रोध से रहित हुआ मुनि (महात्मा) स्थिर-बुद्धि (स्थित-धी) कहा जाता है॥५६॥

व्याख्या—दुःख तीन प्रकार के होते हैं—

१—आध्यात्मिक। २—आधिभौतिक। ३ आधिदैविक।

इनमें से शोक, मोह, सन्तापादि आधियों (मन की पीड़ाओं) से उत्पन्न हुए दुःख, तथा ज्वर शूलादि व्याधियों (रोग पीड़ाओं) से पैदा हुए दुःख एवं बिना ही कारण अपमान, तिरस्कार और निन्दा आदि से होने वाले सब दुःख आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं।

सिंह या बाघ के आक्रमण, साँप के काटने, और शस्त्रों के परिहार आदि से जो दुःख होते हैं, उन सबको आधिभौतिक दुःख कहते हैं।

अत्यन्त तेज झंझा वायु के चलने, कड़ाके का शीत पड़ने, झुलसा देने वाली गर्मी के होने, टिड्डी-दल के आने, अत्यन्त वृष्टि तथा अत्यन्त अनावृष्टि, और शत्रुओं के आक्रमण के द्वारा देश भंग होने आदि से मन में जो सन्ताप और दुःख उत्पन्न होते हैं, वे सब आधिदैविक श्रेणी के दुःख हैं।

इसी प्रकार सुख भी उपरोक्त तीन नामों वाले तीन ही प्रकार के होते हैं—

१—प्रिय वस्तु के ध्यान, तथा प्रभुत्व, ऐश्वर्य और विद्वत्ता आदि गुणों के अभिमान से जो सुख प्राप्त होते हैं, वे सब सुख आध्यात्मिक सुख कहलाते हैं।

२—तन्त्रीनाद, कविता-रस, सरस-राग, रति-रंग, तथा पुत्र, कलत्र, मित्रादि से जो सुख मिलते हैं वे आधिभौतिक सुख कहे जाते हैं।

३—शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु के स्पर्श और सेवन करने से, वर्षा की फुहारों से, प्रातःकाल की पर्वतीय सुषमा को देखने से, कोयल, पपीहा आदि पक्षियों के मधुर-मनोहर कलरवों को सुनने से, नदियों के कल-कल शब्दों से, गगन-मण्डल पर फैली हुई सुनहरी लालिमा से तथा हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों के अवलोकन से जो आनन्द और सुख प्राप्त होता है वह आधिदैविक सुख कहलाता है।

जो पुरुष दुःखों के प्राप्त होने की तरह इन सुखों के आनन्द से भी प्रभावित नहीं होता है अर्थात् जो व्यक्ति प्रत्येक दुःख-सुख की प्राप्ति होने पर समभाव और शान्त-चित्त बना रहता है जिसे सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकार के दुःख या सुख न दुःखी करते हैं और न सुखी कर सकते हैं तथा जिस पर वैषयिक, अभिमानिक, मनोरथिक और आभ्यासिक भेदों वाले किसी प्रकार के सुख का भी कोई प्रभाव नहीं होता है। अर्थात् सब प्रकार के सुखों की स्पृहा जिसके मन से विगत हो चुकी है। सुखों की प्राप्ति की आकांक्षा रूप अन्तःकरण की विशेष तामसी वृत्ति नष्ट हो चुकी है तथा दुःखों के प्राप्त होने पर भी मन में किसी प्रकार की उद्विग्नता या व्याकुलता उत्पन्न नहीं होती है और जिसके राग, द्वेष, भय और क्रोध भी मन, वचन और कर्म से दूर हो चुके हैं। मन सरल और कोमल हो चुका है। सब कर्म निष्काम हो चुके हैं। तन किसी समय भी मनमानी नहीं करता है। ऐसे मुनि-मननशील-विद्वान् व्यक्ति को स्थिरबुद्धि या स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

भगवान् ने इस श्लोक में—स्थितधी कौन होता है और कैसे बोलता है? का उत्तर दे दिया है कि जिस पुरुष के मन से दुःख-सुख, राग, भय, क्रोध आदि सब विकार दूर हो चुके हैं वह स्थित होता है और उसकी वाणी अत्यन्त मधुर,

प्रिय, हितकर और सत्ययुक्त होती है। इंधन डालने से जैसे अग्नि बढ़ती है वैसे ही सुख की उत्तरोत्तर प्रगति के साथ-साथ जिसकी तृष्णा या लालसा नहीं बढ़ती है वह विगत-स्पृह मुनि होता है ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यः सर्वत्र+अनभिस्नेहः+तत्+तत्+प्राप्य शुभ-अशुभम् । न अभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (मुनि) ।

सर्वत्र=(अव्यय) देह-जीवितादिषु अपि सर्वत्र=सब जगह (शरीर जीवन आदि तक में भी) ।

[सर्व+त्रल्=सर्वत्र] ।

अनभिस्नेहः=अन्—अभि√स्निह् (दिवा० पर० सक०=स्नेह करना)+घञ् +(पुं०) प्र० ए० व० । अभिस्नेह-वर्जितः=अभिस्नेह से रहित । स्नेह-रहित हुआ । स्नेहरहित रहने वाला ।

तत्+तत्+प्राप्य=(तत् तत् शुभम् अशुभं वा लब्ध्वा)=उस (शुभ) या उस (अशुभ) को पाकर ।

[तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उसको । तत्=उसको । प्र√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=प्राप्त करना)+ल्यप्=प्राप्त करके । प्राप्त होकर ।]

शुभ+अशुभम्=(नपुं०) शुभम् अशुभं वा=शुभ या अशुभ को । द्विती० ए० व० ।

[√शुभ्+क=मंगल या कल्याणप्रद को ।
न शुभम्=अशुभम् (नञ्०)=अशुभ को ।]

न=(अव्यय) न । नहीं ।

अभिनन्दति=अभि√नन्द् (भ्वा० पर० अक०=प्रसन्न होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=खुश होता है । हर्ष करता है । (तुष्यति) ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

द्वेष्टि=√द्विष् (अदा० उभ० सक०=द्वेष करना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व० =द्वेष करता है । वैर करता है ।

['ष' के योग में 'त्' को 'ट्' हुआ है ।]

तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी ए० व०=उसकी।

प्रज्ञा=(स्त्री०) प्र√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+अ—टाप्=प्रज्ञा +प्र० ए० व०=प्रज्ञा। प्रतिभा। बुद्धि। [हर्ष-विषाद से रहित हो चुके मुनि की प्रज्ञा।]

प्रतिष्ठिता=(वि०) प्र√स्था (भ्वा० पर० अक०=ठहरना)+क्त+टाप् +प्र० ए० व०=ठहरी हुई होती है। स्थिर है।।

अर्थ—जो (मुनि, शरीर जीवन आदि तक में भी) सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस (किसी) शुभ या उस (किसी) अशुभ को पाकर न खुश होता है, न द्वेष करता है उस (हर्ष-विषाद से रहित हो चुके मुनि) की प्रज्ञा स्थिर या टिकी हुई है।।५७।।

व्याख्या—हे अर्जुन! साधारण मनुष्य देह, गेह, पुत्र, पौत्र, धन, धान्य, बहन, भाई, स्त्री, पुत्री, सम्बन्धियों और कुटुम्बियों आदि से स्नेह या मोह करता है तथा उनके दुःख से दुःखी होता है एवं उनके विनाश और वियोग से शोकातुर होता है तथा चीखता, चिल्लाता और व्याकुल होता है। यह ममता उसकी रगरग में धँसी या घुसी हुई होती है। जब वह अपने को दुःखी और दूसरों को उन्नति करते हुए देखता है तो उसका हृदय फटने लगता है। इनमें कुछ पुरुष ऐसे भी होते हैं जो दूसरों को तप और धर्म में लीन देख भी कुढ़ते और जलते हैं। ईश्वर की आराधना करने वाले पुरुषों से उन्हें स्वाभाविक घृणा सी होती है। धर्मात्मा पुरुषों को पाखण्डी कहकर वे अभागे दिनरात कोसते रहते हैं। अपने से भिन्न धर्मावलम्बियों को सहन करना उनके वश की बात नहीं है। ऐसे असहनशील लोग प्रातः सायं 'मत्थे टिक्का, तेड़ धोती, हत्थ छुरी कुसाई' इत्यादि टेरों को सुनकर गद्गद प्रसन्न होते हैं परन्तु उनके असली अर्थ को सोचते नहीं हैं। ऐसे ही संकुचित हृदय वाले लोगों को न दूसरों का पहरावा पसन्द आता है, न दूसरों की भाषा अच्छी लगती है, न इनमें मिल-जुलकर रहने की रुचि ही होती है।

परन्तु स्थिरबुद्धि पुरुष का आचरण इस प्रकार के प्राकृत जनों से सर्वथा भिन्न होता है। उसकी न किसी वस्तु या सम्बन्धी में ममता होती है, न आसक्ति होती है, न किसी से कोई द्वेष या वैर ही होता है। उसको संसार में कुछ भी अभीष्ट या प्रिय नहीं है और न किसी से घृणा होती है। उसके द्वारा न किसी की निन्दा की जाती है और न किसी की स्तुति की जाती है। उसके मन में भी स्तुति या निन्दा करने का कोई भाव नहीं होता। जिसको लोग शुभ या मंगल कहते हैं वह भी उसके लिए हर्ष का विषय नहीं होता और जिसे लोग अशुभ मानते हैं वह भी उसे दुःखदायी नहीं होता। वह तो सदा शुद्ध-बुद्ध और शान्त होता है और रागद्वेष से रहित रहता है अर्थात् उसकी

बुद्धि सदा परमात्मा में स्थिर रहती है अथवा सांसारिक विषय-वासनाओं, सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, हर्ष-शोक तथा रागद्वेष आदि सब द्वंद्वों से अलिप्त और निर्मल रहती है। उसकी वाणी निन्दा-स्तुति करने से मूक बनी रहती है यद्यपि वह मितभाषी होता है तो भी जब बोलता है तब लोगों के कल्याण या हित की ही बात कहता है। उसका लक्ष्य सर्वोदय होता है। ऐसा प्रज्ञा-प्रतिष्ठित पुरुष धन्य है। इस प्रकार भगवान् ने इन श्लोकों में अर्जुन के दो प्रश्नों का उत्तर दे दिया है ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

यदा संहरते च+अयम्+कूर्मः+अङ्गानि+इव सर्वशः। इन्द्रियाणि+इन्द्रिय+अर्थेभ्यः+तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले, यद्+दा=जिस समय। जब।

संहरते=सम्√हृ (भ्वा० उभ० सक०=आकर्षण करना)+लट्० (आत्म०) प्र० पु०, ए० व०=सब ओर से खींच लेता है।

च=(अव्यय) और।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० पु०, ए० व०=यह (मुनि)। यह (ज्ञान निष्ठा में स्थित हुआ) पुरुष।

कूर्मः=(पुं०) कु ईषत् ऊर्मिः वेगो यस्य, पृषो० साधु। प्र० ए० व०=कछुआ।

अङ्गानि=(नपुं)√अङ्ग् (भ्वा० पर० सक० अक०)+अच्=अङ्ग+द्विती० ब० व०=अंगों को।

[स्वानि अङ्गानि=अपने अङ्गों को]। गात्र-अवयवों को। शरीर के हाथ, पाँव, गर्दन आदि सब अङ्गों को।

इव=(अव्यय)√इ+क्वन् (वा०)=जैसे। की तरह।

सर्वशः=(अव्यय) सर्व+शस्=सर्वशस्=सब ओर से। (सर्वतः)।

इन्द्रियाणि=(नपुं०) द्विती० ब० व०। शरीर के अवयवों को। इन्द्रियों को। कर्मेन्द्रियों (हाथ, पाँव, वाणी, गुदा और उपस्थ) तथा ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा, ग्यारहवें मन) को।

इन्द्रिय-अर्थेभ्यः=(पुं०, नपुं०) इन्द्रियाणाम् अर्थेभ्यः (षष्ठी तत्पु०)। सर्व-विषयेभ्यः (पंच० ब० व०)। इन्द्रियों के विषयों से।

तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी ए० व०=उसकी।

प्रज्ञा=(स्त्री०) प्र० ए० व०=बुद्धि।

प्रतिष्ठिता=(स्त्री०) प्र√स्था (भ्वा० पर० अक०=ठहरना)+क्त+टाप् =प्रतिष्ठिता+प्र० ए० व०=ठहरी हुई है। टिकी हुई है। स्थिर है ॥

अर्थ—और जब यह (ज्ञान निष्ठा में स्थित हुआ पुरुष) सब ओर से (अपनी) इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से खींच लेता है, जैसे कछुआ अपने सब अङ्गों को (भय के कारण अपने शरीर में समेट या घुसेड़ लेता है) तब उसकी बुद्धि टिकी हुई या स्थिर है ॥५८॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब कोई कछुआ जल से निकलकर स्थल पर चलने लगता है तो सहसा किसी मनुष्य या कुत्ते आदि के मार्ग में मिल जाने से वह भयभीत हो जाता है। तब वह मन्दगति होने से किसी ओर भागने में तो असमर्थ होता है। इसलिए अपनी रक्षा करने के लिए अपने चारों पाँवों, टाँगों और सिर, मुख सहित ग्रीवा को अपने शरीर के कवच में छिपा लेता है और गोबर से बने हुए उपले के रूप में निश्चेष्ट होकर धरती पर स्थित हो जाता है जिससे उसके शत्रु उसे मृत समझकर छोड़ जाते हैं। इसी प्रकार समाधि से उत्थान को प्राप्त हुआ योगी स्थिरबुद्धि पुरुष रागादि दोषों की प्राप्ति तथा समाधि के भंग होने के भय से अपनी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों, हस्तादि कर्मेन्द्रियों और मन को विषय-वासनाओं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि के स्वादों तथा आसक्तियों से हटा लेता है अर्थात् जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मन सहित उसके वशीभूत हो गई हैं उसकी बुद्धि स्थिर हुई कहलाती है। मन के वश हुए बिना शेष दसों इन्द्रियों के वश हो जाने पर भी काम नहीं चलता। देखो कोई पुरुष जब सो जाता है तो आँखें उस समय देखती नहीं हैं। नाक सुगन्धि या दुर्गन्धि का अनुभव नहीं करती है। रसना स्वाद चखने से रहित हो जाती है। कान सुनने में असमर्थ होते हैं। उस समय त्वचा स्पर्श का ज्ञान भूल जाती है। हाथ-पाँव चलने-फिरने और काम करने से रहित हो जाते हैं। मुख खाना-पीना और जीभ बोलना बन्द कर देती है। इसी प्रकार गुदा और उपस्थ मल-मूत्र त्यागना भूल जाते हैं। इसी प्रकार पुरुष के सो जाने पर दसों इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों से निवृत्त हो जाती हैं। उस अवस्था में भी काबू से बाहर हुआ मुँहज़ोर मन सूक्ष्म इन्द्रियों की सहायता से सुन्दर स्वप्नों की रचना करता है। नदी, नद, सागर, पर्वत बना लेता है। सुन्दर सुहावने मौसम उत्पन्न कर लेता है। हरेभरे फूल फलों वाले वन उपवन लगा लेता है। विशाल ऐश्वर्य भोगयुक्त नयनाभिराम सुन्दर चित्रों वाले भवन निर्माण कर लेता है। अप्सराओं और सुन्दर रमणियों को रचकर उनसे भोग-विलास करता है। इसलिए शेष सब इन्द्रियों को वश में किए जाने के साथ ही मन को नियंत्रित करना भी परमावश्यक है ताकि यह दूरंगम मन सोते, जागते तथा

स्वप्नावस्था में कोई कल्पना न कर सके। यही कारण है कि भगवान् ने मन को पृथक् न कहकर इन्द्रियों में ही इसकी गणना की है। अतः उनके कहने का यहाँ अभिप्राय यही है कि योगी को दसों इन्द्रियों और ग्यारहवें मन को वश में कर लेना चाहिए। बारहवीं बुद्धि का समावेश तो इनमें स्वयं ही हो गया है क्योंकि यहाँ लक्षण ही स्थिरबुद्धि मुनि का कहा गया है। महाभारत १२।२१।३ में भी इसी आशय का वर्णन किया गया है—

"यदा संहरते कामान्कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदाऽऽत्मज्योतिरचिरात्स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥"

अर्थात् जब पुरुष कछुए के शरीर के अवयवों की भाँति अपनी सब कामनाओं को सब ओर से समेट लेता है तब उसके अन्तःकरण के भीतर शीघ्र ही आत्मज्योति जगमगा उठती है ॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

विषयाः+विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रस-वर्जम्+रसः+अपि+अस्य परम्+दृष्ट्वा निवर्तते ॥

विषयाः=(पुं०) विषिण्वन्ति स्वात्मकतया विषयिणं संबध्नन्ति, वि √सि (स्वा० क्र्या० उभ० सक०=बाँधना, जाल में फँसाना)+अच्, षत्व=विषय+प्र० ब० व०=इन्द्रियों द्वारा गृहीत होने वाले पदार्थ (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुनादि लौकिक आनन्द)।

विनिवर्तन्ते=वि-नि√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०)+लट्० प्र० पु०, ब० व० =निवृत्त हो जाते हैं। दूर हो जाते हैं। हट जाते हैं। समाप्त हो जाते हैं।

निराहारस्य=(वि०) निर्—आ √हृ+घञ्+क्विप्+(पुं०) षष्ठी ए० व० =न आहार करने वाले पुरुष के।
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और मैथुनादि विषय इन्द्रियों के आहार हैं, इस विषय समूह रूप आहार से रहित (पुरुष) के। इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले (पुरुष) के। इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले हठयोगी मूर्ख (पुरुष) के अथवा रोगी (पुरुष) के भी।

देहिनः=(वि०, पुं०) देह+इनि=देहिन्+षष्ठी ए० व०=देह या शरीरधारी के।

रस-वर्जम्=रसं, रसेन, रसात् वा वर्जम्।

[रस शब्दो रागे प्रसिद्धः। 'स्व-रसेन प्रवृत्तो 'रसिको रसज्ञः, इत्यादि दर्शनात्] रस, स्वाद या अनुरक्ति को छोड़कर। राग के बिना।

[√रस् (चुरा० पर० सक०)+अच्=स्वाद, जायका, मजा, राग, अनुरक्ति।

√वृज्+नञ्+द्विती० ए० व०=वर्जम्। छोड़कर। त्यागकर।]

रसः=(पुं०) रस+प्र० ए० व०=अनुराग। राग।

अपि=(अव्यय) भी।

अस्य=(सर्व०) इदम्+(पुं०) षष्ठी ए० व०=इस (स्थिरबुद्धि वाले पुरुष) का।

परम्=(वि०) √पृ (जुहो० क्र्या० पर० सक०)+अप्=पर+(पुं०) द्विती० ए० व०=सबसे बड़े को। परमात्मा को। परमार्थ तत्त्वरूप ब्रह्म को।

दृष्ट्वा=√दृश्+क्त्वा=देखकर। साक्षात्कार करके।

निवर्तते=नि√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= निवृत्त होता है। समाप्त हो जाता है।

अर्थ—निराहार (=इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले—मूर्ख हठयोगी अथवा रोगी) पुरुष के भी रस (स्वाद या अनुरक्ति) को छोड़कर सब विषय निवृत्त हो जाते हैं। (परन्तु) इस (स्थिरबुद्धि पुरुष) का रस (विषय-रस या आसक्ति) भी परम-तत्त्वरूप ब्रह्म को देखकर निवृत्त हो जाताहैं ॥५९॥

व्याख्या—निराहार (भोजन करना छोड़ देने वाले) अर्थात् निरन्तर अनशन या निराहार व्रत करने वाले देहधारी (पुरुष) के सब विषय (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, कामभोग आदि) निवृत्त हो जाते हैं। कारण यह कि भोजन करने से ही मनुष्य के शरीर और अंगों में शक्ति, ऊर्जा और स्फूर्ति उत्पन्न होती है और निरन्तर भोजन न करने से अर्थात् निराहार या व्रती रहने से शरीर के सब अवयव शिथिल या ढीले हो जाते हैं और फिर जिससे सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के भोग भोगने में असमर्थ हो जाती हैं। जैसे मृत्यु की ओर तीव्रगति से बढ़ रहे रोगी जीव की सब इन्द्रियों में भोगों को भोगने की अरुचि हो जाती है। इसी प्रकार हठयोगी भी अपनी इन्द्रियों को विषयों के भोगों से रोक लेता है और जिस पुरुष या स्त्री को मान-प्रतिष्ठा भंग होने अथवा जीवन से हाथ धोने का संकट उपस्थित हो जाता है, वह भी विषयों की उत्कट इच्छा होते हुए अपनी इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त कर देता है। परन्तु उपरोक्त इन सब लोगों के मन कभी शान्त नहीं होते क्योंकि उनमें विषयों

की वासनाओं की ज्वाला सदा भड़कती या सुलगती रहती है और उनके हृदयों में विषय-रस और आसक्ति सदा बने रहते हैं। इन्द्रियों का यह नियंत्रण या कण्ट्रोल भी केवल अवसर न मिलने के कारण ही होता है अथवा किसी भय या आतङ्क से होता है। किंवा मानहानि या प्रतिष्ठाभंग होने के भय से होता है अथवा मूढ़ व्यक्ति हठ से करते हैं या रोग के कारण इन्द्रियों के अशक्त हो जाने से होता है।

परन्तु स्थिरबुद्धि पुरुष अपने ज्ञानबल से अपनी इन्द्रियों को मन समेत बिना निराहार व्रत किए भी सब विषयों में विचरण करने से रोक लेता है और फिर परमात्मा के साक्षात्कार से मन के भीतर रहने वाले विषयरस को भी शुष्क कर देता है जिससे वह शुद्ध-बुद्ध कुन्दन बन जाता है तथा आत्मा और परमात्मा का भेद मिट जाने से अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हो जाता है अर्थात् "मैं ही वह ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का भाव दृढ़ हो जाने पर उसका विषय-विज्ञान निर्बीज हो जाता है। यथार्थ ज्ञान हुए बिना राग का मूलोच्छेद नहीं होता इसलिए यथार्थ ज्ञानरूप बुद्धि की स्थिरता कर लेनी चाहिए।

यद्यपि साधारण मनुष्यों को इन्द्रियों के भोगों में सुख की प्रतीति होती है परन्तु वास्तव में भोगों में असली सुख का लेशमात्र भाग भी नहीं है। उनमें जो सुख प्रतीत होता है वह चन्द्रमा की चाँदनी की तरह है अर्थात् जैसे चन्द्रमा की चाँदनी सूर्य के प्रकाश के कारण होती है क्योंकि यदि सूर्य न होता तो चन्द्रमा भी एक अन्धकारपूर्ण पृथ्वी के तुल्य ही होता।

इसी प्रकार स्वयंप्रकाश परब्रह्म परमात्मा के आनन्द की किरणों के कारण ही विषयों में आनन्द और सुख प्रतीत होता है। वास्तव में उनमें सुख और आनन्द का केवल आभास मात्र ही है और उसमें असलीयत का अंश कुछ भी नहीं है।

यह विषयवासना तो केवल रोगों की उत्पत्ति का कारण ही होती है तथा अधिक भोगी प्राणी को शीघ्र ही मृत्यु के समीप ले जाती है।

परमात्मा को पा लेने से जीव का अपना कुछ भी शेष नहीं रहता। उसका सारा आपा मिट जाता है और फिर किसी और के चिन्तन या आसक्ति आदि का तो प्रश्न ही क्या है? ॥

अब इस श्लोक पर कतिपय अन्य टीकाकारों के अतिसारगर्भित विचारों को भी सुनिए—

१—देशपिता महात्मा गाँधी जी लिखते हैं—

"देहधारी निराहारी रहता है तब उसके विषय मन्द पड़ जाते हैं परन्तु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वर का साक्षात्कार होने से ही निवृत्त होता है।

टिप्पणी—यह श्लोक उपवास आदि का निषेध नहीं करता, वरन् उसकी सीमा सूचित करता है। विषयों की शान्ति करने के लिए उपवास आवश्यक हैं परन्तु उनकी जड़ अर्थात् उनमें रहने वाला रस तो ईश्वर की झाँकी होने पर ही निवृत्त होता है। ईश्वर-साक्षात्कार का जिसे रस लग जाता है वह दूसरे रसों को भूल ही जाता है ॥"

२—सन्त शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर जी कहते हैं—

"हे अर्जुन ! अब मैं तुम्हें एक और मजे की बात बतलाता हूँ। वह यह कि यद्यपि इस योग की साधना करने वाले लोग विषयों का त्याग बहुत ही निश्चयपूर्वक करते हैं तथापि कान, आँख आदि इन्द्रियों का दमन हो जाने पर भी यदि रसनेन्द्रिय का दमन न हो तो उस साधक को यह विषय इस संसार में हजारों तरह से अपने जाल में फँसाते हैं। पर तुम्हीं सोचो कि यदि किसी पौधे के पत्ते और शाखाएँ आदि तो ऊपर से काट ली जाएँ पर उसकी जड़ में बराबर पानी सींचा जाए तो वह पौधा कैसे नष्ट हो सकता है ? जिस प्रकार पानी के बल से वह पौधा और भी अधिक आड़ी तिरछी शाखाएँ आदि निकालता है, उसी प्रकार रसना की साधना से मनुष्य के मन में विषयों की पुष्टि होती है। दूसरी इन्द्रियों के विषय तो छोड़े जा सकते हैं, परन्तु उतनी दृढ़ता से रसनेन्द्रिय का नियमन नहीं किया जा सकता क्योंकि इस इन्द्रिय के बिना मनुष्य कभी जीवित ही नहीं रह सकता।

हे अर्जुन ! फिर जब स्वानुभव से परब्रह्म का साक्षात्कार होता है तब इस रसना पर भी विजय प्राप्त होती है। जब मनुष्य को इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ" तब देह-धर्म का लोप होता है और इन्द्रियाँ भी विषयों को भूल जाती हैं ॥"

३—कल्याण के गीतातत्त्वांक में लिखा है—

"संसार में जो भोजन का परित्याग कर देता है उसे 'निराहार' कहते हैं परन्तु यहाँ 'निराहारस्य' पद का प्रयोग इस अर्थ में नहीं है क्योंकि यहाँ 'विषया:' पद में बहुवचन का प्रयोग करके समस्त विषयों के निवृत्त हो जाने की बात कही गई है। भोजन के त्याग से तो केवल जिह्वा इन्द्रिय के विषय-रस की ही निवृत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध की निवृत्ति नहीं होती। अत: यह समझना चाहिए कि जिस इन्द्रिय का जो विषय है, वही उसका आहार है—इस दृष्टि से जो सभी इन्द्रियों के द्वारा समस्त इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण छोड़ देता है, ऐसे देहाभिमानी मनुष्य का वाचक 'निराहारस्य' विशेषण के सहित 'देहिनः' पद है ॥

४—भारत-धर्म-महामण्डल के श्री स्वामी दयानन्द जी कहते हैं—

"निराहार शब्द का अर्थ जो आहरण अर्थात् संग्रह विषय का न करें। मनुष्य बीमार हो, उपवास करे या विषय से दूर रहे, तो भी संग्रह का मौका न आने से विषय रुक सकता है। अन्न के रस से इन्द्रियों में तेजी आती है, इसलिए निराहार पुरुष की इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। यही कारण है कि पूजा आदि के पहले उपवास कराने की विधि शास्त्र में पाई जाती है। इसी प्रकार रुग्णावस्था में भी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और विषय के पास से हट जाने पर भी आकर्षण का मौका नहीं मिलता है। अतः इन उपायों से मूर्ख व्यक्ति का भी विषय रुक सकता है। किन्तु ऐसा विषय का रुकना स्थायी नहीं हो सकता क्योंकि इनके द्वारा विषय की सूक्ष्म चाह या संस्कार नहीं होता है, जिसको 'रसवर्ज' शब्द के द्वारा बताया गया है। वह तो केवल ऊपर के दबाव के द्वारा विषय का रोकना हुआ। इससे स्थायी फल नहीं हो सकता है। यही कारण है कि योगशास्त्र से 'निराहार' के बदले 'युक्ताहार' होने का ही उपदेश दिया गया है। विषय का मूल सहित नाश परमात्मा के देख लेने पर हो जाता है क्योंकि उस समय योगी को स्त्री-पुरुष सभी एक ही परमात्मा पर स्थित दीखने लगते हैं। उसके चित्त में भेदभाव नहीं रह जाता है और इसी कारण मुक्तात्मा-स्थितप्रज्ञ में काम आदि विषय-प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न हो सकती है। इस अवस्था से पहले ध्यान आदि अथवा उपवास आदि के द्वारा विषय की स्थूलवृत्ति नष्ट होने पर भी सूक्ष्म संस्कार चित्त में अवश्य ही रह जाता है जो किसी प्रलोभन का मौका पाकर पुनः स्थूलभाव को धारण कर सकता है॥"

५—लोकमान्य श्री तिलक जी कहते हैं—

"निराहारी पुरुष के विषय छूट जावें, तो भी (उनका) रस अर्थात् चाह नहीं छूटती। परन्तु ब्रह्म का अनुभव होने पर चाह भी छूट जाती है अर्थात् विषय और उसकी चाह दोनों छूट जाते हैं।

अन्न से इन्द्रियों का पोषण होता है। अतएव निराहार या उपवास करने से इन्द्रियाँ अशक्त होकर अपने-अपने विषयों का सेवन करने में असमर्थ हो जाती हैं। पर इस रीति से विषयभोग का छूटना केवल जबर्दस्ती की, अशक्तता की बाह्य क्रिया हुई। इससे मन की विषयवासना (रस) कुछ कम नहीं होती। इसलिए यह वासना जिससे नष्ट हो, उस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए, इस प्रकार ब्रह्म का अनुभव हो जाने पर मन एवं उसके साथ ही साथ इन्द्रियाँ भी आप ही आप अधीनता में रहती हैं। इन्द्रियों को अधीन रखने के लिए निराहार आदि उपाय आवश्यक नहीं—यही इस श्लोक का भावार्थ

है और यही आगे छठे अध्याय के श्लोक में स्पष्टता से वर्णित है (गी० ६।१६, १७।। और ३।६, ७।। देखो) कि योगी का आहार नियमित रहे। वह आहार-विहार आदि को बिलकुल ही न छोड़ दे। सारांश—गीता का यह सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिए कि शरीर को कृश करने वाले निराहारादि साधन एकाङ्गी हैं। अतएव वे त्याज्य हैं, नियमित आहार-विहार और ब्रह्मज्ञान ही इन्द्रिय-निग्रह का उत्तम साधन है। इस श्लोक में इस शब्द का 'जिह्वा से अनुभव किया जाने वाला मीठा, कड़ुआ इत्यादि रस' ऐसे अर्थ करके कुछ लोग यह अर्थ करते हैं—कि उपवासों से शेष इन्द्रियों के विषय यदि छूट भी जाएँ, तो भी जिह्वा का रस अर्थात् खाने-पीने की इच्छा कम न होकर बहुत दिनों के निराहार से अधिक तीव्र हो जाती है और भागवत में ऐसे अर्थ का एक श्लोक भी है (*भाग० ११।८।२०)। पर हमारी राय में गीता के इस श्लोक का अर्थ करना ठीक नहीं क्योंकि दूसरे चरण से वह मेल नहीं खाता। इसके अतिरिक्त भागवत में 'रस' शब्द नहीं, 'रसनं' शब्द है और गीता के श्लोक का दूसरा चरण भी वहाँ नहीं है। अतएव भागवत और गीता के श्लोक को एकार्थ मान लेना उचित नहीं" ।।५९।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।६०।।

यततः+हि+अपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभम्+मनः ।।

यततः=√यत् (भ्वा० आत्म० अक०=प्रयत्न करना)+शतृ=यतत्+षष्ठी ए० व०=यततः। प्रयत्नं कुर्वतः=यत्न करते हुए के। प्रयत्न करने वाले के।

हि=(अव्यय) यस्मात्। क्योंकि। निःसन्देह।

अपि=(अव्यय) भी।

कौन्तेय !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। कुन्ती+ढक्—एय=हे कुन्तीपुत्र !।

पुरुषस्य=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति,√पुर्+कुषण्=पुरुष+षष्ठी ए० व०=पुरुष की। मनुष्य की।

विपश्चितः=(वि०) विप्रकृष्टं चेतति, चिनोति, चिन्तयति वा, वि—प्र√चित् (भ्वा० पर० सक०=जानना)+क्विप्, पृषो० साधुः=विपश्चित्+

---

*वह श्लोक इस प्रकार है—

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसने तन्निरन्नस्य वर्धते ।।

षष्ठी ए० व०=पण्डित की। बुद्धिमान् की। सूक्ष्मदर्शी की। विचारशील की।

इन्द्रियाणि=(नपुं०) इन्द्रिय+प्र० ब० व०=इन्द्रियाँ।

प्रमाथीनि=(वि०) प्र√मथ (भ्वा० पर० सक०=बिलोना। रिड़कना)+णिनि=प्रमाथिन्+(नपुं०)+प्र० ब० व०=रिड़कने वाली। मथने वाली। प्रमथनशील। प्रवल। सरकश। धक्केबाज़। क्षोभ करने वाली। बलपूर्वक हरने वाली।

हरन्ति=√हृ (भ्वा० उभ० सक०=हर लेना। लूट लेना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=हर लेती हैं।

प्रसभम्=(अव्यय) प्रकाशम् एव। पश्यतः।
(प्रगता सभा समानाधिकारोऽस्मात्, प्रा० बहुव्री०) बलपूर्वक। बरज़ोरी। ज़बर्दस्ती। हठपूर्वक। बलात्कार से।

मनः=(नपुं०) मन्यते बुध्यते अनेन,√मन् (दिवा० आत्म० सक०=जानना)+असुन्=मनस्+द्विती० ए० व०=मन को।

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! (इनसे छूटने का) प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी मथ डालने वाली (विषयों के रस का प्रलोभन दिखाकर विषयों में आसक्त कर देने वाली ये) इन्द्रियाँ निःसन्देह बलपूर्वक हर लेती हैं॥६०॥

व्याख्या—जब तक विषयों के सम्बन्ध में लेशमात्र भी आसक्ति या रस बना रहता है उस समय तक इन्द्रियों पर नियंत्रण करना असम्भव या कठिन होता है। निराहार, रोगी तथा अज्ञानी पुरुष भूखे रहकर तथा दूसरे विषयों से इन्द्रियों को हटाकर हठपूर्वक उनको रूप, गन्धादि से रोकने का प्रयत्न करते हैं परन्तु इन्द्रियाँ तो इतनी मुँहज़ोर और बलवान् हैं कि साधारण मनुष्य के रोके से तो क्या रुकेंगी, पूरी तरह प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी विषयों के प्रलोभन में फँसा देती हैं। इससे संसार में यह प्रतिदिन प्रायः देखा या सुना जाता है कि कतिपय पूज्य तथा तपोनिष्ठ साधु महात्मा लोग भी आयु का बहुत सा भाग ईश्वर-आराधना में व्यतीत कर देते हैं और जब भगवत्प्राप्ति के समीप पहुँच जाते हैं तो जिस प्रकार दूध से भरे हुए बहुत बड़े पात्र में कांजी का एक छींटा पड़ जाने से सारे का सारा दूध बिगड़ जाता है उसी प्रकार उन यत्नशील निराहार बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धि को भी ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ बलपूर्वक परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग से हटाकर पथभ्रष्ट कर देती हैं। वही जिज्ञासु और महात्मा, जो मुक्ति के द्वार तक पहुँचा हुआ दिखाई देता था, स्त्रियों के फँदे में फँस जाता

है । उसकी रसना स्वादिष्ट भोजनों को खाने की ओर आकर्षित हो जाती है । सुन्दर, चमकीले, कोमल और सुगन्धित रेशमी वस्त्र उसको प्रिय लगने लगते हैं । विषय-वासनाओं के दृश्य देखने की रुचि उत्पन्न हो जाती है । सदा सुन्दर संगीत उसके कानों का विषय बन जाता है । इस प्रकार जब सब इन्द्रियाँ उसके मन को वशीभूत कर लेती हैं तो उसकी सारी कमाई पर पानी फिर जाता है । इस प्रकार इन्द्रियों से पथभ्रष्ट हुआ पुरुष धोबी के कुत्ते की तरह न घर का रहता है और न घाट का रहता है । इन प्रमथनशील इन्द्रियों के बलात्कार से बचने के लिये भगवान् ने अगले श्लोक में उपाय वर्णन किया है ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः+आसीत मत्+परः । वशे हि यस्य+इन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

तानि=(सर्व०) तद्+(नपुं०) द्विती० ब० व०=उनको ।

सर्वाणि=(सर्व०) सर्व+(नपुं०) द्विती० ब० व०=सबको । सब (इन्द्रियों) को ।

संयम्य=सम्√यम् (भ्वा० पर० अक०=रोकना । हटाना)+ल्यप्=वश में करके । रोककर ।
[संयमनं (=वशीकरणं) कृत्वा ।]

युक्तः=√युज् (रुधा० उभ० सक०=जोड़ना । संयुक्त करना)+क्त=युक्त +प्र० ए० व०=युक्त हुआ । समाहित चित्त हुआ । जुड़े हुए चित्त वाला हुआ । एकाग्र चित्त हुआ ।

आसीत=√आस् (अदा० आत्म० अक० सक०=बैठना)+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=बैठे । बैठना चाहिए । बैठ सकता है ।
[इस 'आसीत' पद के विषय में श्री० आर० एस० नारायण स्वामी की टिप्पणी इस प्रकार है—
'कैसे बैठता है ?' यह प्रश्न था, न कि यह कैसे बैठे ? इसलिए 'आसीत' का अर्थ यहाँ भी पूर्व श्लोक ५४ वत् 'बैठता है' होना चाहिए न कि 'बैठे' क्योंकि यहाँ बैठने के प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है, न कि उपदेश । परन्तु श्री शंकराचार्य जी ने मनो-निग्रह की विधि के विचार से इसका अर्थ 'बैठे' किया है और उनको देखकर दो चार टीकाकारों

ने भी वैसा ही कर दिया है। इसलिए हमने भी दूसरा अर्थ अपनी व्याख्या सहित आगे दे दिया है।]

मत्+परः=(वि०) अहं (वासुदेवः सर्वप्रत्यगात्मा) परो यस्य सः (बहुव्री०)। मत्+√पृ+अण्+(पुं०) प्र० ए० व०=मत्परः=मेरे परायण हुआ। मुझ में अनन्य भक्ति वाला हुआ। (मैं सबका अन्तरात्मा रूप वासुदेव ही जिसका सबसे पर हूं वह मत्पर है ॥)

वशे=(पुं०, नपुं०) √वश् (अदा० पर० सक०) अप्+सप्त० ए० व०= वश में। काबू में (होती हैं)।

हि=(अव्यय) निःसन्देह। क्योंकि।

यस्य=(सर्व०) यद्+(पुं०) षष्ठी ए० व०=जिसकी।

इन्द्रियाणि=(नपुं०) इन्द्र+घञ्=इन्द्रि+प्र० ब० व०=इन्द्रियाँ।

तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी ए० व०=उसकी।

प्रज्ञा=(स्त्री०) प्र० ए० व०=बुद्धि।

प्रतिष्ठिता=प्र√स्था (भ्वा० पर० अक०=ठहरना)+क्त+टाप्+(स्त्री०) प्र० ए० व०=स्थिर है। ठहरी हुई है। टिकी हुई है ॥

अर्थ—(श्लोक ६० में कही हुई मथनशील तथा मन को बलात्कार से हर ले जाने वाली) उन सम्पूर्ण (इन्द्रियों) को वश में करके योगयुक्त (सिद्धावस्था को प्राप्त) हुआ पुरुष मेरे परायण होकर सदा स्थित होवे क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥६१॥

व्याख्या—श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाकादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन दस इन्द्रियों से हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा सम्पूर्ण कर्म सम्पन्न होते हैं। इन सब इन्द्रियों को वश में करके अर्थात् इनका निरोध करके विवेकी पुरुष मन का निग्रह कर स्थित होवे। परन्तु यह कार्य वही मनुष्य कर सकता है जो मुझ में अनन्य भक्ति वाला होता है।

हे अर्जुन ! मेरी यह अनन्य भक्ति दो प्रकार की है—

१—साकार उपासना।

२—निराकार उपासना।

जो भक्त परमात्मा के मूर्तिमान् स्वरूप राम, कृष्ण, विष्णु आदि में दत्त-चित्त रहते हैं, वे व्यक्त या साकार के उपासक हैं। सब प्रकार के ग्रन्थ पूजक भी साकार के पूजक होते हैं क्योंकि उनकी श्रद्धा अपने इष्ट ग्रन्थों में प्रभु तुल्य होती है। कई लोग तो अपने इष्ट ग्रन्थों को अपने गुरु की देह या साक्षात् गुरु-रूप मानकर ही पूजते हैं। इसी प्रकार ठाकुर पूजक, शिवलिङ्ग उपासक, गुग्गा पूजक, सिद्ध उपासक, ज्वालाजी, नैना देवी आदि के भक्त, आनन्दपुर, काशी,

अमृतसर तथा हरिद्वार आदि तीर्थों की यात्रा करने वाले, अजमेर, मक्का आदि के यात्री, पीरों और गुरुओं में श्रद्धा रखने वाले, मठी, मसानों के पूजने वाले, इत्यादि पार्थिव और प्राकृत साकार वस्तुओं के पूजने वाले ये सब लोग मेरे साकार स्वरूप के पूजक होते हैं और ये सब अपने-अपने स्थानों पर उस समय तक ठीक और सीधे मार्ग पर चलते रहते हैं, जब तक एक दूसरे के साथ द्वैत और द्वेष नहीं करते क्योंकि ये सब किसी न किसी रूप में एक ही साकार परमात्मा के पूजक हैं परन्तु इनमें बहुत से मूढ़ अज्ञानी ऐसे भी होते हैं जो उन अन्धों के समान हैं जिनमें से किसी ने सूंड को हाथी समझ रखा था। कोई पूंछ को हाथी मानता था। जिसने हाथी के पेट को हाथ लगाया था वह पेट की तरह स्पाट स्थल देह वाला हाथी समझता था। जिसने कान को स्पर्श किया था वह हाथी का स्वरूप छाज के समान मान रहा था। जिसने उसकी टाँग को स्पर्श किया था वह हाथी का अनुमान एक मोटे खम्भे के समान करता था। परन्तु उनमें से प्रत्येक ने हाथी के केवल एक-एक अवयव को ही स्पर्श किया था। आँखें न होने से सम्पूर्ण हाथी उनकी दृष्टि से ओझल था। इसी प्रकार ऊपर कहे हुए सब साकार-प्रभु-पूजक जब ज्ञानहीन होते हैं तो उपरोक्त अन्धों की तरह परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते हैं परन्तु ज्ञानवान् इस रहस्य को भली-भाँति जानते हैं कि सब मत-मतान्तरों वाले हमारे परमेश्वर के ही पूजक हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि सब प्रकार के झगड़े केवल अन्धविश्वासी साकार पूजकों में ही होते हैं, निराकार पूजकों में नहीं।

दूसरी प्रकार के भक्त निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं जिनका किसी से भी कोई झगड़ा नहीं होता, वे सबमें स्वस्वरूप को ही देखते हैं जिससे उन्हें एक के बिना दूसरा और कोई कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता। निराकर उपासक अपने शरीर के भीतर बाहर एक ही अखण्ड ज्योति को निरन्तर देखते हैं। उनको अपने रोम रोम और प्रत्येक कोशिका में गन्ने में रचे हुए रस की तरह या तिल में रमे हुए तेल की तरह एक ही व्यापक विभु का अनुभव होता है। वे खान, पान, स्नान, ध्यान, काम, काज, चलना, फिरना आदि सब कुछ केवल परमात्मा के द्वारा ही होता हुआ देखते हैं। अपनी देह और अपने गेह तक को भी अपना नहीं समझते। 'सब कुछ ईश्वर का ही है', यही समझकर कर्म करने में लगे रहते हैं। धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों, पर्वतों, समुद्रों, नदियों, जीव-जन्तुओं, वनस्पतियों, जल, वायु, आकाश, पाताल अपितु जहाँ तक मन, बुद्धि और इन्द्रियों की पहुँच है वे लोग उन सबनें निराकार परमात्मा का इसी प्रकार अनुभव करते हैं जिस

प्रकार हम वायु, बिजली और न दिखाई देने वाली शक्तियों का अनुभव करते हैं और उनसे होते हुए कार्यों को इन चरमचक्षुओं से प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। ऐतरे० ३।१३ में कहा है—'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यन्' अर्थात् उसने इस अन्तर्यामी परम पुरुष को ही सर्वव्यापी परब्रह्म के रूप में देखा। परन्तु दोनों प्रकार के उपासक तभी सफल होते हैं जब उपास्य उपासक के बीच से द्वैत या दूई का पर्दा दूर हो जाता है। ऐतरेयी उप० का वचन है—

'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्'

अर्थात् जो मैं हूँ वह ही मेरा उपास्य है और जो वह है सो मैं हूँ।

ईशावास्य उप० मन्त्र १६ में भी इसी भाव का यह वचन है—'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।" अर्थात् जो वह है वह परमपुरुष परमात्मा है, मैं भी वही हूँ। इस प्रकार जावाल उप० में लिखा है—

'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमस्मि।'

अर्थात् हे भगवन्! हे देव! तू मैं हूँ, मैं तू है॥

जब उपासक इन उपनिषद् वचनों के अनुरूप अपने उपास्य देव में लीन होकर कह उठता है कि 'तू मैं हूँ, मैं तू है' उस समय वह ईश्वरपरायण हो जाता है और उसका अपना आपा खो जाता है तथा उस समय उसको सब कुछ आत्मरूप ही प्रतीत होने लगता है। तो फिर ऐसी एकता के अनुभव करने वाले को मोह और शोक कैसे हो सकते हैं?

साकार अथवा निराकार के स्वरूप में जो पुरुष सोते, जागते, खाते, पीते, चलते, फिरते, कोई कार्य करते आदि किसी भी अवस्था में लीन रहता है, उस पुरुष को किसी भी कार्य में अशुभ की प्राप्ति नहीं होती और इन्द्रियादि सब शत्रु उसके अधीन और वशीभूत हो जाते हैं। इसलिए मनुष्य सदा ईश्वर में अभेद बुद्धि से लीन रहे। ज्ञानेन्द्रियों को नियंत्रण करे और कर्मेन्द्रियों को निष्काम-कर्मयोग में नियुक्त करे। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। फिर उस साधक की 'स्थिरबुद्धि' संज्ञा हो जाती है॥

इस श्लोक पर श्री ज्ञानेश्वर जी की सुन्दर व्याख्या भी सुनिए—

"हे अर्जुन! मैं चाहता हूँ कि विषयों का लोभ पूरी तरह से छोड़कर जो पुरुष इन इन्द्रियों का बल बिलकुल तोड़ डालता है, वही योग-निष्ठा या बुद्धि-स्थैर्य में समर्थ होता है। विषय-सुख जिस पुरुष के अन्तःकरण में भ्रम नहीं डाल सकते, वही निरन्तर आत्मबोध से सुसज्जित होकर रहता है।

और नहीं तो यदि ऊपर से देखने में विषयों का कुछ भी संग न हो, पर मन में विषयों का थोड़ा बहुत भी लेश रह जाए, तो आदि से अन्त तक सारा सांसारिक प्रपंच ही बचा हुआ समझना चाहिए जिस प्रकार विष की

एक बूंद भी पी ली जाए तो वह विष बराबर बढ़ता ही जाता है और तब अन्त में वह निःशंक होकर प्राणों का घात करता है, उसी प्रकार यदि मन में इन विषयों का थोड़ा बहुत अंश भी बचा रह जाए, तो वह सारे विवेक का सत्यानाश कर डालता है ॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

ध्यायतः+विषयान्+पुंसः सङ्गः+तेषु+उपजायते । सङ्गात्+सञ्जायते कामः कामात्+क्रोधः+अभिजायते ॥

ध्यायतः=√ध्यै (भ्वा० पर० सक०=ध्यान करना । सोचना । चिन्तन करना)+शतृ=ध्यायत+षष्ठी ए० व०=ध्याते हुए का । सोचते हुए का । चिन्तन करते हुए का ।

विषयान्=(पुं०) वि√सि (स्वा०, क्र्या० उभ० सक०=बाँधना । जाल में फँसाना)+अच्, षत्व=विषय+द्वितीο ब० व०=विषयों को ।
[रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गृहीत होने वाले पदार्थों को । लौकिक आनन्दों अर्थात् मैथुनादि आनन्द भोगों को ।]

पुंसः=(पुं०)√पू+उम्सुन्=पुंस्+षष्ठी ए० व०=पुंसः । पुरुषस्य । पुरुष का ।

सङ्गः=(पुं०)√सञ्ज् (भ्वा० पर० सक०=चिपकाना । बाँधना)+घञ्=सङ्ग+प्र० ए० व०=संयोग । सङ्ग । संसर्ग । अनुराग । प्रीति विशेष । आसक्ति ।

तेषु=(सर्व०) तद्+सप्त० ब० व०=उनमें । उन विषयों में ।

उपजायते=उप√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=उत्पन्न होता है । उत्पन्न होती है ।

सङ्गात्=(पुं०) सङ्ग+पंच० ए० व०=सङ्ग से ।

सञ्जायते=सम्√जन्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=उत्पन्न हो जाता है । समुत्पद्यते ।

कामः=(पुं०)√कम् (भ्वा० आत्म० सक०=चाहना)+णिङ्+घञ्=काम+प्र० ए० व=कामना । अभिलाषा । काम भोगने की तृष्णा । मैथुनेच्छा ।

कामात्=(पुं०) काम+पंच० ए० व०=काम से । कामना के भंग होने से । मैथुनेच्छा में विघ्न पड़ने पर ।

क्रोध:=(पुं०)√क्रुध् (दिवा० पर० अक०=कुपित होना। नाराज होना)+घञ्=क्रोध+प्र० ए० व०=रोष। गुस्सा। क्रोध।

अभिजायते=अभि√जन्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=उत्पन्न होता है।

[नोट—प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप, ये २२ उपसर्ग हैं। ये उपसर्ग धातुओं के पूर्व लगाए जाते हैं जो धातु के अर्थ को परिवर्तित करते हैं।]

अर्थ—[मन सहित इन्द्रियों को वश में करके मेरे परायण न होने से मन के द्वारा विषयों का चिन्तन होता है, और] विषयों को चिन्तन करने वाले पुरुष की उन (विषयों) में संगति (या आसक्ति) हो जाती है (और फिर उस) संगति (या आसक्ति) से (उन विषयों को प्राप्त करने या भोगने की) कामना उत्पन्न होती है। (फिर) कामना (में विघ्न पड़ने से अथवा विषयों को अत्यधिक भोगकर तन, मन, धन के दुर्बल हो जाने से चिड़चिड़ापन या) क्रोध उत्पन्न हो जाता है ॥६२॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब साधक के मन में मेरे अनन्य प्रेम की कमी हो जाती है और मेरा ध्यान छूट जाता है तब फिर शब्दादि इन्द्रियों का विरोध होने पर भी मन में दबी हुई विषयों के चिन्तनरूपी अग्नि की चिंगारी सुलग उठती है जिससे अन्तःकरण ईश्वर से विमुख होकर विषयों का चिन्तन करने लगता है। वह विषय भोगते हुए जब अन्य लोगों को देखता है तो अन्य साधन से उनको भोगने की उसके मन में भी रुचि उत्पन्न हो जाती है। तब वह उन विषयभोगियों की संगति करने लगता है, जिससे वे लोग जिन विषयों का स्वयं सेवन करते हैं, उनकी चाट उस साधक को भी लगा देते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि साधक को भी उन विषयों में रस और प्रीति हो जाती है। वह तम्बाकू पीने और खाने लगता है, सुल्फे और गाँजे के कश लगाता है, भांग और पोस्त पीता है, मद्य-मांस का सेवन करने लगता है, अफीम भक्षण करता है, हुलास या नसवार सूँघता है, स्त्री-भोग-विलास में बड़ी रुचि उत्पन्न कर लेता है, रेडियो और लाऊडस्पीकरों द्वारा कामोद्दीपक और विषय-विकार-वर्धक गीत सुनने का रसिया बन जाता है। सन्मार्ग से भ्रष्ट करने वाले अनेक भांति के अश्लील चित्र और सिनेमा आदि से दिखाए जाने वाले दृश्य देखने लगता है। इस प्रकार फिर पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के वशीभूत हो जाता है। आसक्ति से उत्तरोत्तर कामना या तृष्णा की वृद्धि हो जाती है। धनाभाव अथवा किसी अन्य पुरुष द्वारा जब उसकी विषय-वासना की पूर्ति में बाधा या अड़चन डाली जाती है तो उसकी क्रोधाग्नि

भड़क उठती है। इस प्रकार काम से अर्थात् किसी भी कारण से विच्छिन्न हुई इच्छा से क्रोध उत्पन्न होता है।

जब पुरुष विषयों का अत्यधिक उपभोग करता है तो उसकी कामना या तृष्णा भी अत्यधिक बढ़ जाती है जिसके परिणामस्वरूप उसके पास या तो धनाभाव हो जाता है या मन अत्यन्त पतित और क्षीण हो जाता है अथवा तन अत्यन्त कृश और कमजोर हो जाता है जिससे स्वभाव चिड़चिड़ा और क्रोधयुक्त हो जाता है जिसका भयंकर परिणाम अगले श्लोक में वर्णित किया गया है ॥६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधात्+भवति सम्मोहः सम्मोहात्+स्मृति-विभ्रमः। स्मृति-भ्रंशात्+बुद्धि-नाशः+बुद्धि-नाशात्+प्रणश्यति ॥

क्रोधात्=(पुं०) √क्रुध्+घञ्=क्रोध+पंच० ए० व०=क्रोध से।

भवति=√भू (भ्वा० पर० अक०=होना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=होता है।

सम्मोहः=(पुं०) सम्√मुह् (दिवा० पर० अक०=मूर्छित होना)+घञ्=सम्मोह+प्र० ए० व०=घबराहट। परेशानी। मूर्खता। बेहोशी। अविवेक। अत्यन्त मूढ़ भाव। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-विषयक-अविवेक।

सम्मोहात्=(पुं०) सम्मोह+पंच० ए० व०=सम्मोह से।

स्मृति-विभ्रमः=(पुं०) स्मृतेः विभ्रमः (षष्ठी तत्पु०)। प्र० ए० व०=स्मरणशक्ति की गड़बड़ी।

[√स्मृ+क्तिन्=स्मृति (स्त्री०) स्मरणशक्ति।

वि√भ्रम् (भ्वा०, दिवा० पर० अक०=घूमना। लड़खड़ाना। डाँवाडोल होना। भटकना। भूलना)+घञ्=विभ्रम।]

स्मृति-भ्रंशात्=(पुं०) स्मृतेः भ्रंशात् (षष्ठी तत्पु०)। पंच० ए० व०=स्मरणशक्ति के भ्रंश होने से।

[√भ्रंश् (दिवा० पर० अक०=गिरना। ठोकर खाना। लोप होना। भटकना)+घञ्=पतन। ह्रास। नाश। भटकन]

बुद्धि-नाशः=(पुं०) बुद्धेः नाशः (षष्ठी तत्पु०)। प्र० ए० व०। बुद्धि का नाश।

[√बुध्+क्तिन्=बुद्धि (स्त्री०)=जानने, समझने और विचार करने की शक्ति। ज्ञानशक्ति। अन्तःकरण की निश्चयात्मिक वृत्ति। समझ। अक्ल।

√नश् (दिवा० पर० अक०=लुप्त होना। नष्ट होना)+घञ्=नाश। लोप। अदर्शन]

बुद्धि-नाशात्=(पुं०) बुद्धेः नाशात् (षष्ठी तत्पु०)। पंच० ए० व०=बुद्धि के नाश से।

[अन्तःकरण में कार्य-अकार्य-विषयक विवेचन की योग्यता न रहना, बुद्धि का नाश कहा जाता है।]

प्रणश्यति=प्र√नश्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=नष्ट होता है।

[मनुष्य तब तक ही मनुष्य कहलाता है जब तक उसका अन्तःकरण कार्य-अकार्य के विवेचन में समर्थ है, ऐसी योग्यता न रहने पर मनुष्य मनुष्यता से रहित या नष्टप्राय हो जाता है और वह पुरुषार्थ के अयोग्य या पागल हो जाता है]॥

अर्थ—क्रोध से सम्मोह (अविवेक, अत्यन्त मूढ़भाव) उत्पन्न होता है। सम्मोह से स्मृति (स्मरणशक्ति) का भ्रंश (नाश) होता है। स्मृति के नाश से बुद्धि (ज्ञानशक्ति) का नाश हो जाता है। बुद्धि का नाश हो जाने से (वह पुरुष स्वयं) नष्ट (पागल) हो जाता है जिससे फिर (मृतकवत्) कुछ भी कर सकने के योग्य नहीं रहता॥६३॥

व्याख्या—मनुष्य में अत्यन्त क्रोध का आवेश होने से उसके हृदय में अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है। उसकी आँखें लाल हो जाती हैं, नथने फूल जाते हैं, शरीर कांपने लगता है, गुस्से से चेहरा लाल हो जाता है, भुजाएँ फड़कने लगती हैं, मुँह से अनाप-शनाप बकवास होने लगता है, आगा-पीछा सूझना बन्द हो जाता है। उस समय यदि अपराधी या विपक्षी दृष्टिगोचर हो जाए तो क्रुद्ध पुरुष उसका वध करने पर उतारू हो जाता है। क्रोध के कु-परिणाम से बेखबर होकर बुरे से बुरा काम हिंसादि भी कर डालता है। इस प्रकार क्रोध से अन्तःकरण में विवेकशक्ति का नाश होकर अविवेक, अविचार, अज्ञान और मूढ़भाव का उसमें संचार हो जाता है। शास्त्र में इसी का नाम सम्मोह कहा गया है। इस सम्मोह या मूढ़भाव के बढ़ जाने से स्मरण-शक्ति उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार प्रचण्ड वायु के झोंके से दीप-शिखा की जलती हुई ज्वाला बुझ जाती है। फिर जब किसी अच्छी-बुरी बात का स्मरण ही नहीं रहता, तब रात्रि के निबिड़ तम की भाँति न कुछ सूझता है और न कुछ दिखाई देता है। तब वह पुरुष अन्धवत् हो जाता है। इस प्रकार स्मृति के भ्रंश होने से बुद्धि या विवेकशक्ति का नाश हो जाता है। शरीर में चेतनशक्ति का ह्रास हो जाने से जो दशा देह की होती है बुद्धि के नाश हो जाने से भी पुरुष की वही दशा हो जाती है। उसे सत्-असत् का

कोई विवेक नहीं रहता, उचित-अनुचित की समझ नहीं रहती, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का कोई विचार शेष नहीं रहता, किसी बात या कार्य के सम्बन्ध में निश्चय-अनिश्चय कर सकना तो दूर रहा, परन्तु ऐसे समय में कटुता, कठोरता, हिंसा, प्रतिहिंसा, जड़ता, मूढ़ता, अतिलोभता, अतिलोलुपता, निर्घृणता, नृशंसता, कायरता, ईर्ष्या, द्वेषता, और शूमता आदि सब प्रकार के दुर्गुण मनुष्य में एकत्रित हो जाते हैं जिससे फिर स्वयं उसका नाश हो जाता है। उसकी दशा पागलों जैसी हो जाती है। मृत्यु होने पर वह मुक्तिमार्ग और स्वर्ग से भ्रष्ट हुआ नाना प्रकार की अधम योनियों में अथवा घोर नरक में गिर जाता है। यह पुरुषत्व से पतित हुआ जीव आत्मिक उन्नति से सदा के लिए वंचित हो जाता है।

हे अर्जुन ! सूखे हुए घासफूस के ढेर में एक तुच्छ अग्निस्फुलिंग के गिरने से वह सारा जलकर भष्म हो जाता है। इसी प्रकार योगी या साधक के मन में किंचिन्मात्र भी विषय-चिन्तन उत्पन्न होने से धीरे-धीरे उसका सर्वनाश हो जाता है। अतः साधक को इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है ॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

राग-द्वेष-वियुक्तैः+तु विषयान्+इन्द्रियैः+चरन् । आत्म-वश्यैः+विधेय +आत्मा प्रसादम्+अधिगच्छति ॥

राग-द्वेष-वियुक्तैः=(वि०) रागश्च द्वेषश्च=रागद्वेषौ (इतरेतर द्वन्द्व०) ताभ्यां वियुक्तैः (पंच० तत्पु०)। (पुं०) तृती० ब० व०=राग और द्वेष से रहित हुई (इन्द्रियों) द्वारा।

[राग=(पुं०)√रञ्ज् (दिवा०, भ्वा० उभ० अक०=अनुरक्त होना)+घञ्=राग=आसक्ति। प्यार। अनुराग।

द्वेष=(पुं०)√द्विष् (अदा० उभ० सक०=वैर करना)+घञ्=शत्रुता। घृणा। वैर। नफ़रत।

वियुक्त=(वि०) वि√युज् (रुधा० उभ० सक०=जोड़ना)+क्त=विमुक्त =जुदा की हुई। रहित की हुई।]

तु=(अव्यय) परन्तु।

विषयान्=(पुं०) वि०√सि+अच्, षत्व=विषय+द्विती० ब० व०=विषयों को।

इन्द्रियैः=(नपुं०) तृती० ब० व०=इन्द्रियों द्वारा।

चरन्=(वि०)√चर् (भ्वा० पर० सक०=जाना। भोगना। फिरना)+शतृ=चरत्+(पुं०) प्र० ए० व०=भोगता हुआ। [अनिवार्य विषयों को] ग्रहण करता हुआ।

आत्म-वश्यैः=आत्मनो वश्यानि (=वशीभूतानि) तैः=आत्मवश्यानि=अपने वश में की हुई (श्रोत्रादि इन्द्रियों) द्वारा।

[√वश्+यत्=वश्य+(नपुं०) तृती० ब० व०=वश्यैः]

विधेय+आत्मा=(वि०) विधेय आत्मा (=अन्तःकरणं) यस्य सः (बहुव्री०)=वह स्वाधीन अन्तःकरण वाला जिसका अन्तःकरण इच्छानुसार वश में है। जिसका आत्मा (अन्तःकरण) आज्ञापालक है।

[वि√धा+यत्=विधेय (पुं०)=वचन या आज्ञा के वशीभूत। आज्ञापालक।

आत्मन्+(पुं) प्र० ए० व०=आत्मा]

प्रसादम्=(पुं०) प्र√सद् (भ्वा०, तुदा० पर० अक०)+घञ्=प्रसाद+द्विती० ए० व०=प्रसाद को। प्रसन्नता को। स्वास्थ्य को।

अधिगच्छति=अधि√गम्=अधिगच्छ+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है॥

अर्थ—परन्तु अपने वशीभूत (स्वाधीन) किए हुए आत्मा (अन्तःकरण) वाला (पुरुष) अपने वश में की हुई राग (आसक्ति), द्वेष (शत्रुता) से रहित इन्द्रिय द्वारा (अनिवार्य) विषयों को भोगता हुआ (भी) प्रसाद (अन्तःकरण की प्रसन्नता या स्वास्थ्य अर्थात् स्वच्छता) को प्राप्त होता है ॥६४॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जिस पुरुष का मन प्रभु में अर्पण हो चुका है, सदा परमात्मा के चिन्तन में लीन है। किसी काल में भी डांवाडोल नहीं होता, न ही किसी इन्द्रिय-विषय का चिन्तन करता है। न ही किसी सुन्दर वस्तु को देखकर लालायित या आसक्त होता है, न किसी प्राकृत पुरुष के मधुर और प्रिय वचनों को सुनने की इच्छा करता है, न जिह्वा विषयक कोई लोभ रखता है, न किसी प्रकार की विषय-वासना की लालसा है, तथा न ही किसी प्रकार की सुगन्ध को सूँघने की वासना करता है। यथालाभ सन्तोष है। प्राप्त से प्रसन्न नहीं, अभाव से चिन्ता नहीं, हानि से दुःख नहीं, मरण से भय नहीं, उत्पत्ति से हर्ष नहीं। सदा सर्वत्र केवल एक परब्रह्म परमात्मा ही दृष्टिगोचर हो रहा है। ऐसे साधक का अन्तःकरण उसके वश में होता है। जब इस प्रकार उसकी सब इन्द्रियाँ पूरी तरह से उसके वश में हो जाती हैं और वे किसी ऐसे कार्य में प्रवृत्त नहीं होतीं जो उसकी उन्नति में बाधक हो अथवा उसकी मोक्षप्राप्ति में अड़चन उत्पन्न करने वाला हो तथा इन इन्द्रियों में न राग या आसक्ति

का लेशमात्र शेष रहा हो और न द्वेष या वैर-विरोध का ही कोई स्थान रह गया हो। तब वह पुरुष भोजनादि खाता हुआ और जलादि पीता हुआ भी विकार-रहित होता है। सोता जागता हुआ भी सर्वशक्तिमान् परमात्मा के ध्यान में लीन रहता है। देखता और सुनता हुआ भी सर्वव्यापक को ही देखता और सुनता है। स्पर्श करता हुआ भी उसी सत् का स्पर्श करता है। सूंघता हुआ भी उसी अनन्त की सुगन्ध से अपनी नाक को सुवासित करता है। सन्तानोत्पत्ति में भी 'एकोऽहं बहु स्याम्" संकल्पकर्ता प्रभु की ही इच्छा का पालन करता है। भाव यह कि अनिवार्य विषयों को भोगता हुआ भी उनमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखता है। न रस ही लेता है। केवल गले पड़ा ढोल बजाता है। अपने शरीर द्वारा सर्वप्रकार की क्रियाएँ करता हुआ भी उन्हें ईश्वर द्वारा होती हुई अनुभव करता है; इस अवस्था में वह परमात्मा के साक्षात्कार योग्य चित्त की स्वच्छता को प्राप्त होता है। इसे ही प्रसन्नता, स्वास्थ्य या प्रसाद कहते हैं। उसके हृदय में एक ऐसा स्थायी आनन्द और उल्लास भर जाता है, जिस पर वाह्य संसार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता; और वह उसी अवस्था में शरीर त्यागकर अनन्त में विलीन होकर जन्म-मरण के झंझटों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

प्रसादे सर्व-दुःखानाम् + हानिः + अस्य + उपजायते । प्रसन्न-चेतसः + हि + आशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

प्रसादे=(पुं०) प्र√सद् + घञ् = प्रसाद + सप्त० ए० व० = प्रसाद में। प्रसन्नता होने पर। निर्मलता या स्वच्छता के होने पर।

सर्व-दुःखानाम्=(नपुं०) आध्यात्मिकादीनां सर्वदुःखानाम्। षष्ठी ब० व० = आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के सब दुःखों की।

हानिः=(स्त्री०) √हा (जुहो० पर० आत्म० सक० = त्यागना) + भावे क्तिन् = ह्रास। कमी। अविद्यमानता। विनाश। नाश। नुकसान।

अस्य=(सर्व०) इदम् + (पुं०) षष्ठी ए० व० = इसके। इस (यति) के।

उपजायते=उप√जन् (दिवा० आत्म० अक० = उत्पन्न होना) + लट् प्र० पु०, ए० व० = उत्पन्न होती है। हो जाती है।

प्रसन्न-चेतसः=(वि) प्रसन्नं चेतो यस्य तस्य (बहुव्री०) प्रसन्न चित्त है जिसका उसकी। षष्ठी ब० व०। स्वस्थान्तःकरणस्य=प्रसन्नचित्त वाले की। स्वस्थ अन्तःकरण वाले पुरुष की।

[प्र√सद्+क्त=(वि०) प्रसन्न=पवित्र। स्वच्छ। सन्तुष्ट।

√चित्+असुन्=चेतस्=चित्त। मन। आत्मा]

हि=(अव्यय) क्योंकि। ही। निःसन्देह।

आशु=(वि०)√अश् (स्वा० आत्म० अक०)+उण्=आशु। शीघ्र।

बुद्धिः=(स्त्री०)√बुध् (भ्वा० दिवा०=जानना। समझना)+क्तिन्=बुद्धि+प्र० ए० व०=जानने, समझने और विचार करने की शक्ति। समझ। अक्ल।

पर्यवतिष्ठते=परि—अव√स्था (भ्वा० पर० अक०=ठहरना, स्थिर होना)+लट्० (उपसर्ग सहित होने से—आत्म०) प्र० पु०, ए० व०=स्थिर हो जाती है। सब ओर से (आकाश की भाँति) स्थिर हो जाती है। केवल आत्मस्वरूप से निश्चल हो जाती है॥

अर्थ—प्रसाद (अन्तःकरण की उस निर्मलता के) होने पर इसके (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के) सब दुःखों की हानि (विनाश या कमी) हो जाती है क्योंकि प्रसन्नचित्त वाले (साधक पुरुष) की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से (आकाशवत्) स्थिर हो जाती है (अर्थात् आत्मस्वरूप-परमात्मा में निश्चल हो जाती है)॥६५॥

व्याख्या—जिस पुरुष के अन्तःकरण में अखण्ड आनन्द का संचार और निवास हो जाता है तथा प्रसन्नता की ज्वाला जगने लगती है उसके सारे पाप, पुण्य और शुभाशुभ कर्म अग्नि लगे घासफूस के ढेर के समान जलकर भस्म हो जाते हैं साथ ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अन्तर्गत नाना प्रकार के सांसारिक दुःखों का भी अन्त हो जाता है। अखण्ड आनन्द से भरा हुआ अन्तःकरण अमृतरस से भरे हुए सरोवर के समान हो जाता है जबकि थोड़ा सा अमृतपान कर लेने पर भी मनुष्य अमरत्व को प्राप्त हो जाता है तो फिर इस अमृतरस से भरे हुए अन्तःकरण वाले का तो कहना ही क्या है? उसका तो सब दुःखों और क्लेशों से छुटकारा हो जाता है और इस प्रकार हृदय के अमृत-कुण्ड बन जाने से किसी प्रकार की दुःख की सम्भावना ही शेष नहीं रहती। दुःखों के सर्वथा नाश हो जाने पर फिर कोई भटकना बाकी नहीं रहता क्योंकि सब विषय-वासनाएं निःशेष होकर शान्त हो जाती हैं, मन को डुलाने वाले सब झक्कड़ समाप्त हो जाते हैं तथा इन्द्रियाँ राग-द्वेष से रहित होकर आज्ञाकारिणी हो जाती हैं और अन्तःकरण निर्मल और

स्वच्छ हो जाता है। तब फिर बुद्धि स्थिर होने में क्या देर लगती है? और वह स्थिरबुद्धि पुरुष योगयुक्त हुआ आत्मस्वरूप में अचल हो जाता है। इसलिये साधक पुरुष को चाहिए कि राग-द्वेष से रहित की हुई इन्द्रियों द्वारा शास्त्र के अवरोधी अनिवार्य विषयों का सेवन करता हुआ अपनी बुद्धि को आत्मस्वरूप में निश्चल करने का प्रयत्न करे।

महाराज तिलक जी ने स्थिरबुद्धि पुरुष दो प्रकार के कथन किए हैं। उनका भेद उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

"विषय या कर्म को न छोड़ स्थितप्रज्ञ केवल उनका संग छोड़कर विषय में ही निःशंक बुद्धि से वर्तता रहता है और उसे जो शांति मिलती है वह कर्म-त्याग से नहीं किन्तु फलाशा के त्याग से प्राप्त होती है क्योंकि इसके सिवा अन्य बातों में इस स्थितप्रज्ञ में और संन्यासमार्ग वाले स्थितप्रज्ञ में कोई भेद नहीं है। इन्द्रिय संयमन, निरिच्छा और शान्ति ये गुण दोनों को ही चाहियें। परन्तु दोनों में महत्त्व का भेद यह है कि गीता का स्थितप्रज्ञ कर्मों का संन्यास नहीं करता परन्तु लोकसंग्रह के निमित्त समस्त कर्म निष्काम बुद्धि से किया करता है और संन्यासमार्ग वाला स्थितप्रज्ञ करता ही नहीं है ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

न+अस्ति बुद्धिः+अयुक्तस्य न च+अयुक्तस्य भावना। न च अभावयतः शान्तिः+अशान्तस्य कुतः सुखम्।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अस्ति=√अस् (अदा॰ पर॰ अक॰=होना)+लट्॰ प्र॰ पु॰, ए॰ व॰= होती है।
[विद्यते। भवति।]

बुद्धिः=(स्त्री॰)√बुध्+क्तिन्+प्र॰ ए॰ व॰=जानने, समझने और विचार करने की शक्ति। आत्मस्वरूप विषयक बुद्धि।

अयुक्तस्य=(वि॰) न युक्तस्य (नञ्॰)। न जुड़े हुए की। परमात्मा में न जुड़े हुए की। समत्व बुद्धि द्वारा कर्मरूपी गाड़ी के जूए में न जुते हुए की। मन को वश में न किए हुए की। न जीते हुए मन और इन्द्रियों वाले की। अयुक्त की। न समाहित अन्तःकरण वाले की। (पुं॰) षष्ठी ए॰ व॰।

न=(अव्यय) न। नहीं।

च=(अव्यय) और।

अयुक्तस्य=(वि॰) √युज्+क्त=युक्त। न युक्त=अयुक्त+(पुं॰) षष्ठी ए॰ व॰=अयुक्त की।

भावना=(स्त्री०) √भू+णिच्+युच्—टाप्=भावना+प्र० ए० व०=भावना। भक्ति। श्रद्धा। निश्चयात्मिका बुद्धि। आस्तिकभाव। अतिशय प्रीति।

न=न। नहीं।

च=और।

अभावयतः=(वि०) न भावयतः। न, √भू+णिच्+शतृ+(पुं०) षष्ठी ए० व०। भावना से रहित हुए पुरुष के (हृदय में)। बिना आस्तिक-भाव वाले पुरुष के (को)। नास्तिक के (हृदय में)।

शान्तिः=(स्त्री०) √शम्+क्तिन्+प्र० ए० व०=विक्षेपरहित अवस्था। शान्ति। इतमीनान।

अशान्तस्य=न शान्तस्य+(पुं०) षष्ठी ए० व०। शान्तिरहित पुरुष को। अशान्त पुरुष को। डाँवाडोल पुरुष को।

कुतः=(अव्यय) किम्+तसिल्=कुतस्=किधर से। कहाँ से। कहाँ। कैसे?

सुखम्=(नपुं०) [मन की वह उत्तम और प्रिय अनुभूति जिसके द्वारा अनुभवकर्ता का विशेष समाधान और सन्तोष होता है और जिसके बने रहने की उसे सदा अभिलाषा बनी रहती है। वह लौकिक सुख होता है। तृष्णा से इन्द्रियों का निवृत्त होना सबसे उत्तम सुख है क्योंकि इसके द्वारा जन्म-मरण से छुटकारा मिलता है और वही पारलौकिक सुख है]

√सुख्+अच्+प्र० ए० व०=सुखम्। सुख।

अर्थ—अयुक्त (ईश्वर के ध्यान में निरन्तर न जुड़े हुए) पुरुष की (श्रेष्ठ) बुद्धि नहीं होती [अर्थात् अन्तःकरण में उत्तम निश्चयात्मिक शक्ति नहीं होती।] और न अयुक्त पुरुष के भावना (परमेश्वर में भक्ति या श्रद्धा ही) होती है तथा न भावना से रहित होते हुए पुरुष के (अन्तःकरण में) शान्ति होती है। (तो फिर) शान्तिहीन पुरुष को सुख कहाँ? ॥६६॥

व्याख्या—जो पुरुष ईश्वर के ध्यान में लीन नहीं होता, और न समत्व बुद्धि द्वारा निष्काम कर्मों वाली गाड़ी के जूए में जुतता है अर्थात् निष्काम भाव से शुभकर्म नहीं करता है तथा मन और इन्द्रियों को जिसने वश में किया हुआ नहीं है अर्थात् जो इन्द्रियों के भोगों में अत्यन्त आसक्त हो रहा है तथा जिसका अन्तःकरण नाना प्रकार की कामनाओं और भोग-वासनाओं से भरा हुआ है। राग-द्वेष जिसकी रग-रग और रोम-रोम में बसा हुआ है। जो शास्त्र और गुरु के उपदेश से वंचित है, सत्-असत् के विवेक से रहित है। ऐसा पुरुष अयुक्त है। ऐसा मनुष्य अयोग्य है। ऐसा आदमी नालायक है। ऐसे

अयुक्त व्यक्ति के अन्तःकरण में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती। उसकी भ्रष्ट बुद्धि इधर-उधर भटकती रहती है। वह सदा दुष्कर्मलीन और पापरत रहती है। उस भ्रष्ट बुद्धि में कभी यह विचार ही उत्पन्न नहीं होता कि इस मनुष्य-जन्म से क्या लाभ है? उसकी जिह्वा सदा यही पाठ पढ़ती रहती है, कि "यह जगत् मीठा, अगला किसने डीठा"। जब कोई महात्मा पुरुष दयार्द्र होकर उसे पापकर्म से छुड़ाता है तो वह कुबुद्धि उत्तर देता है कि ये सब सूअर, बकरे तथा अन्य पशु-पक्षी और मत्स्य आदि यदि हम लोग मार-मारकर खाते न रहें तो इनकी संख्या इतनी बढ़ जायेगी कि फिर हम लोगों को धरती पर रहने के लिए स्थान ही न मिल सकेगा।

मद्यपान को युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए वे लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि यह मदिरा तो अमृत-सहोदर है और देवताओं द्वारा समुद्रमन्थन करके सागर से निकाला गया चौदहवां रत्न विशेष है। जब कोई उनसे यह कहता है कि शास्त्र में तो यह लिखा है कि यदि मद्य के टूटे हुए पात्र की एक ठीकरी भी किसी के पाँव से छू जाए तो उस व्यक्ति सहित उसकी चौदह कुलों के पूर्वज नरक को प्राप्त होते हैं तब ये दुर्बुद्धि लोग उत्तर देते हैं कि हम लोग भी इस शास्त्र-कथन को सत्य मानते हैं, कारण यह कि देवताओं द्वारा सागर से निकाले गए चौदहवें रत्न मद्य से भीगी हुई ठीकरी को पाँव से छूना इस चौदहवें रत्न की अवज्ञा और अपमान करना है जिससे अवश्य ही पाप लगता है और उस पाप के फल के प्रभाव से पाँव से ठीकरी छूने वाले के पूर्वजों को उसके सहित अवश्य ही नरकवास करना होगा ही।

इसी प्रकार इन अयुक्त पुरुषों की बुद्धि सदैव कुमार्गगामिनी होती है जो सत् को असत् रूप में देखती है और असत् को सत् समझने लगती है। पाप-कर्म तो उसे पुण्य-कर्म दीखते हैं, और पुण्य-कर्म उसे पाप-कर्मों के रूप में भासमान होते हैं। जब निश्चयात्मिका श्रेष्ठ बुद्धि का अन्तःकरण में अभाव हो जाता है तो उसके साथ ही भावना या प्रभु पर श्रद्धा का भी नाश हो जाता है। उस समय न गुरु पर श्रद्धा होती है, न भगवान् में भक्ति होती है, न देवताओं पर आस्था रहती है, न मन, कर्म, वाणी द्वारा साधु-ब्राह्मण का सत्कार ही किया जाता है, न दीन पर दया की जाती है, न बाप की गया की जाती है। उस कुबुद्धि व्यक्ति का धर्म अपना मनमाना और स्वकल्पित ही होता है। तब नास्तिकता उसकी रग-रग में घुस जाती है। इस प्रकार भावना, श्रद्धा, विश्वास, भक्ति और आस्तिकता के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने से शान्ति का अभाव हो जाता है। मन सदा बेचैन रहने लगता है। इस अवस्था में माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र-सखा आदि जो कोई व्यक्ति भी उसे दिखाई देता है वह

शत्रु-तुल्य दृष्टिगोचर होता है। जैसे जंगल में कोई क्रोध से भरा हुआ भूखा भेड़िया इधर-उधर भागता फिरता है यही दशा इस अशान्त व्यक्ति की होती है। इसे न पल चैन और न घड़ी चैन। न दिन चैन और न रात को चैन होती है तो फिर इस पुरुष को सुख कहाँ से प्राप्त हो सकता है? ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

इन्द्रियाणाम्+हि चरताम्+यत्+मनः+अनुविधीयते। तत्+अस्य हरति प्रज्ञाम्+वायुः+नावम्+इव+अम्भसि ॥

इन्द्रियाणाम्=(नपुं०) √इन्द्+र=इन्द्र+घ (इय)=इन्द्रिय+षष्ठी ब० व०=इन्द्रियों के।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

चरताम्=(वि०)√चर् (भ्वा० पर० सक०=विचरना)+शतृ=चरत्+षष्ठी ब० व०=विचरती हुई के। (अपने-अपने विषयों में) विचरती हुई के।

यत्=(सर्व०) यद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

मनः=(नपुं०)√मन्+असुन्=मनस्+प्र० ए० व०=मन (मन्यते बुध्यते अनेन)।

प्राणियों में वह शक्ति जिसके द्वारा उनको वेदना, संकल्प, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, बोध और विचार आदि का अनुभव होता है ॥ अन्तःकरण।

अनुविधीयते=अनु—वि√धा (जुहो० उभ० सक०=रखना)+प्र० पु०, ए० व०=पीछे लगता है। साथ रहता है। अधीन होता है।

[अनुप्रवर्तते=पीछे-पीछे जाता है।]

तत्=(सर्व०) तद्+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह (मन)।

अस्य=(सर्व०) इदम्+(पुं०) षष्ठी ए० व०=इस (अयुक्त पुरुष) की। इस साधक की।

हरति=√हृ+लट्० प्र० पु० ए० व०=हर लेता है।

प्रज्ञाम्=(स्त्री०) प्र√ज्ञा+अ—टाप्=प्रज्ञा+द्विती० ए० व०=प्रज्ञा को। बुद्धि को। प्रतिभा को।

वायुः=(पुं०)√वय् (भ्वा० आत्म० सक०=चलना)+उण्, युक् आगम=वायु+प्र० ए० व०=वायु, पवन, हवा।

नावम्=(स्त्री०) नौ+द्विती० ए० व०=नावम्=नौका को। नाव को। बेड़ी को।

[√नुद्+डौ=नौ।]

इव=(अव्यय) √इ+क्विन् (वा०)=जैसे।
अम्भसि=(नपुं०) अम्भस्+सप्त० ए० व०=जल में। पानी में।
[√अम्भ् (भ्वा० आत्म० अक०=शब्द करना)+असुन्=अम्भस्=पानी। जल।]

अर्थ—क्योंकि जो मन (अपने-अपने विषयों में विचरती हुई) इन्द्रियों के पीछे-पीछे जाता है वह इस (अयुक्त साधक पुरुष) की बुद्धि को हर लेता है। जैसे जल में नाव को वायु (धकेलकर विपरीत दिशा में डुबोने के लिए हर ले जाती है) ॥६७॥

सूचना—(१)

स्वामी चिद्‌घनानन्द गिरि आदि कई टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ नीचे लिखे अनुसार किया है :

हि (क्योंकि) वायुः (वायु) अम्भसि नावम् (जल में नाव को) इव (जैसे) हरति (हर लेती है) (वैसे ही) चरताम् इन्द्रियाणाम् (विषयों में—विचरती हुई इन्द्रियों—में से) यत् (जिस—इन्द्रिय के) अनु (साथ) मनः (मन) विधीयते (रहता है), तत् (वह—एक ही इन्द्रिय) अस्य (इस अयुक्त पुरुष की) प्रज्ञाम् (बुद्धि को) हरति (हर लेती है) ॥६७॥

यह अर्थ भी हो सकता है। परन्तु इसमें बहुत से शब्द ऊपर से लगाने पड़ते हैं। इसलिए कुछ क्लिष्ट है।

सूचना—(२)

महाभारत (५ । १२६ । २७) में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है :—

"अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम्।
अविधेया इवाऽदान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥"

अर्थ—न वशीभूत हुई इन्द्रियाँ पुरुष को इस प्रकार नाश कर देती हैं जिस प्रकार चंचल और दुष्ट घोड़े मार्ग में मूर्ख सारथी को नष्ट कर देते हैं।

सूचना—(३)

श्री शंकर, तिलक, गांधी और श्री नारायण स्वामी आदि बहुत से टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ हमारे पहले अर्थ से मिलता-जुलता किया है। परन्तु स्वामी चिद्‌घनानन्द जी और कल्याण के गीतातत्त्वांक आदि बहुत सी टीकाएं दूसरे अर्थ को ठीक मानती हैं परन्तु हमारे विचार में दोनों अर्थ युक्त हैं। असली अर्थ तो स्वयं भगवान् ही जानते हैं।

पहले अर्थ में विचरती हुई के साथ 'विषयों में' और 'उस—की' के मध्य में 'अयुक्त पुरुष' ये दो शब्द ऊपर से जोड़ने पड़ते हैं और फिर अर्थ सहज हो जाता है परन्तु कल्याण वालों को यह पहला अर्थ मान्य नहीं है। इसका कारण उन्हीं के शब्दों में सुनिए :—

"प्रश्न—सब इन्द्रियों द्वारा बुद्धि के विचलित किए जाने की बात न कहकर एक इन्द्रिय के द्वारा ही बुद्धि का विचलित किया जाना कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे इन्द्रियों की प्रबलता दिखाई गई है। अभिप्राय यह है कि सब इन्द्रियाँ मिलकर मनुष्य की बुद्धि को विचलित कर दें इसमें तो कहना ही क्या है; जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय बुद्धि को विषयों में फँसाकर विचलित कर देती है। देखा भी जाता है कि एक कर्णेन्द्रिय के वश होकर मृग, स्पर्शेन्द्रिय के वश होकर हाथी, चक्षु-इन्द्रिय के वश होकर पतङ्ग, रसना-इन्द्रिय के वश होकर मछली और घ्राणेन्द्रिय के वश में होकर भ्रमर—इस प्रकार केवल एक-एक इन्द्रिय के वश में होने के कारण ये सब अपने प्राण खो बैठते हैं। इस तरह मनुष्य की बुद्धि भी एक-एक इन्द्रिय के वश में होकर मोहित हो जाती है।

प्रश्न—यहाँ 'यत्' और 'तत्' का सम्बन्ध 'मन' के साथ क्यों न माना जाए ?

उत्तर—यहाँ इन्द्रियाणां पद में निर्धारणे षष्ठी है, अतः इन्द्रियों में से जिस एक इन्द्रिय के साथ मन रहता है उसके साथ 'यत्' पद का सम्बन्ध मानना उचित है। और 'यत्'—'तत्' का नित्य सम्बन्ध है, अतः 'तत्' का सम्बन्ध भी इन्द्रियों के साथ ही होगा। 'अनुविधीयते' में 'अनु' उपसर्ग नहीं है, कर्मप्रवचनीय संज्ञक अव्यय है, अतः उसके योग में 'यत्' में द्वितीया विभक्ति हुई है। और कर्मकर्तृ प्रक्रिया के अनुसार 'विधीयते' का कर्मभूत 'मनः' पद ही कर्ता के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त अगले श्लोक में 'तस्मात्' पद का प्रयोग करके इन्द्रियों को वश में करने वाले की बुद्धि स्थिर बतलाई गई है इसलिए भी यहाँ 'यत्' और तत् पदों का इन्द्रियों के साथ ही सम्बन्ध मानना अधिक युक्तिसंगत मालूम होता है।

प्रश्न—अकेला मन या अकेली इन्द्रिय बुद्धि के हरण करने में समर्थ है या नहीं ?

उत्तर—मन के साथ हुए बिना अकेली इन्द्रिय बुद्धि को नहीं हर सकती, हाँ, मन इन्द्रियों के बिना अकेला बुद्धि को हर सकता है।"

व्याख्या—'इन्द्र' शब्द से 'इन्द्रिय' शब्द की उत्पत्ति हुई है। इसलिए जैसे इन्द्र देवता विषय-वासना आदि विषयों का रसिया है। इसी प्रकार इन्द्रियां भी स्वभाव से ही विषयों में विचरती रहती हैं क्योंकि इन सब इन्द्रियों के द्वारों में इन्द्र और उसके साथी देवताओं का निवास माना जाता है जो सभी विषयों के लोलुप और भूखे हैं। इससे वे सब अपनी विषयरूपी क्षुधा की तृप्ति के लिए इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त और प्रेरित करने का प्रयत्न करते हैं जिससे अयुक्त पुरुष का मन भी उनके साथ मिलकर उनमें से प्रत्येक के पीछे चलने लगता है और वह उस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को भी लोभ में फँसा लेता है जिससे फिर वह ठीक इसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार प्रभंजन या तूफान के द्वारा नाव अपने मार्ग से विचलित और भ्रष्ट होकर जल-भंवर में जाकर फंस जाती है। इस उपमा में संसार सागर है बुद्धि नाव है। विषयों में विचरती हुई इन्द्रियां प्रभंजन या अतिप्रबल झंझा वायु के सदृश हैं, जो सौ किलोमीटर से भी अधिक वेग से प्रति घण्टा चला करती है। मन इस बुद्धिरूपी नाव का केवट है जो जानबूझकर नाव के डूबने के भय से बेपरवाह हुआ मतवाले पुरुष की भांति विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों की तेज आंधी के पीछे ही चलने लगता है और बुद्धिरूपी नाव को नष्ट होने से रोकने का प्रयत्न नहीं करता है क्योंकि इस तेज आंधी में उसे रस या सुख का आभास होता है और उस रस या सुख के कारण वह मदमाते पुरुष के तुल्य अपनी हानि या लाभ को समझने से रहित हो जाता है। यह बुद्धिरूपी नाव जब विषयरसरूपी जल में होती है तभी विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों की तेज आंधी के कारण पथभ्रष्ट होकर भवसागर में डूबती है परन्तु यह बुद्धिरूपी नाव जब स्थल में होती है अर्थात् जब विषयों के रस का लेशमात्र भी नहीं होता तब तेज आंधी भी इसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती। उस समय मनरूपी नाविक भी शान्त, स्वस्थ और सचेत होता है जिससे बुद्धिरूपी नाव पर कुप्रभाव नहीं पड़ता है।

मन तो एक इन्द्रिय के विषय के वशीभूत होकर भी मनुष्य के नाश का कारण बन जाता है, पाँचों इन्द्रियों के विषयों में मन के लीन हो जाने पर तो बुद्धि सहित मनुष्य के नाश हो जाने में तनिक भी सन्देह नहीं है। साँप को पकड़ने के लिए बीन बजाई जाती है। हरिण या मृग बंसी बजाकर पकड़ लिए जाते हैं। गढ़े में कागजों की कृत्रिम हथिनी खड़ी करके कामवासना से अन्धा हुआ हाथी पकड़ लिया जाता है। रूपरसिया पतंगा दीपशिखा पर गिरकर जल जाता है। मछली आटा खाने के लोभ में गले में लोह-कण्टक फँस जाने से मारी जाती है। सुगन्ध का लोभी काष्ठभेदी भ्रमर सायंकाल को कमल में

बन्द होकर अपने प्राण त्याग देता है। इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के विषय के वशीभूत हुए जीव भी नाश को प्राप्त हो जाते हैं। इस मनुष्य का मन तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में फँस जाने से अवश्य ही अपना सब कुछ नाश कर लेता है ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

तस्मात्+यस्य महाबाहो ! निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणि+इन्द्रिय+अर्थेभ्यः+तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

तस्मात्=(सर्व०) तद्+पंच० ए० व०=इससे। इसलिए।

यस्य=(सर्व०) यद्+(पुं०) षष्ठी ए० व०=जिसकी। जिस (साधक) की।

महा-बाहो !=(वि०) महान्तौ बाहू यस्य सः महाबाहुः, सम्बो० ए० व० महाबाहो ! (बहुव्री०)। हे लम्बी भुजाओं वाले (अर्जुन) !

निगृहीतानि=(वि०) नि√ग्रह् (क्र्या० उभ० सक०=पकड़ना। रोकना) +क्त=निगृहीत+(नपुं०) प्र० ब० व०=रोकी हुई (हैं)। (अपने-अपने शब्दादि विषयों से) निगृहीत की जा चुकी हैं।

सर्वशः=(अव्यय) सर्व+शस्=सर्वशस्=पूर्णरूप से। सब ओर से। सब प्रकार से।

इन्द्रियाणि=(नपुं०)√इन्द्+र=इन्द्र+घ (इय)=इन्द्रिय+प्र० ए० व० =इन्द्रियाँ।

इन्द्रिय-अर्थेभ्यः=(पुं०) इन्द्रियाणाम् अर्थेभ्यः (षष्ठी तत्पु०)=शब्दादि विषयों से।

[√अर्थ् (अभिलाषा करना)+अच्=अर्थ (पुं०)+पंच० ब० व०= विषयों से।]

तस्य=(सर्व०) तद्+(पुं०) षष्ठी ए० व०=उसकी।

प्रज्ञा=(स्त्री०) प्र√ज्ञा+अ—टाप्=प्रज्ञा+प्र० ए० व०=प्रज्ञा। बुद्धि। प्रतिभा।

प्रतिष्ठिता=(स्त्री०) प्र√स्था (भ्वा० पर० अक०=ठहरना)+क्त= प्रतिष्ठित+टाप्=प्रतिष्ठिता+प्र० ए० व०=स्थिर है। ठहरी हुई है। टिकी हुई है। प्रतिष्ठित है।

सूचना—इस श्लोक का उत्तरार्द्ध यद्यपि देखने में इसी अध्याय के श्लोक ५८ के उत्तरार्द्ध के समान है परन्तु दोनों श्लोकों के पूर्वार्द्धों से मिलाकर अर्थ करने में थोड़ी भिन्नता है।

अर्थ—इसलिए हे लम्बी भुजाओं वाले (अर्जुन)! जिस पुरुष की (सब) इन्द्रियाँ सब ओर से शब्दादि (सब) विषयों से रोकी हुई हैं उसकी बुद्धि स्थिर है ॥६८॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तेरी भुजाएँ बहुत लम्बी और सुदृढ़ हैं जिससे तू सब प्रकार के शत्रुओं का दमन और नाश करने के लिए समर्थ है। बाहरी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना इतना कठिन नहीं है जितना भीतरी शत्रु विषयों में विचरण करती हुई मन को गुमराह या मार्ग-भ्रष्ट करने वाली इन्द्रियों को जीतना दुष्कर है। परन्तु तुम इन पर भी विजय प्राप्त करने में समर्थ हो क्योंकि तुम्हारी पहुँच बहुत दूर तक है। ऐसा कहकर भगवान् अर्जुन को इन्द्रियों को, शब्दादि विषयों से हटाकर उनको अच्छी तरह वश में करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और कहते हैं कि जिसकी इन्द्रियाँ चारों ओर व्यापक विषयों से निकलकर उसके वशीभूत हो जाती हैं अर्थात् जो पुरुष अपनी इन्द्रियों के विषय-लोलुप स्वभाव को बदलकर शान्त कर देता है तथा उनमें रहने वाली बुद्धि को विचलित करने वाली शक्ति को नष्ट कर देता है अथवा इन्द्रियों में और उनके सारथी मन में विषय-वासनाओं का अभाव कर देता है वह स्थिरबुद्धि होता है।

जिस प्रकार शान्त अवस्था में कछुआ अपने अङ्गों को प्रसार लेता है और फिर इच्छा होते ही उन्हें खींचकर अपने भीतर कर लेता है परन्तु उसके अंग उसकी इच्छा के विरुद्ध अपनी मनमानी नहीं कर सकते। इस प्रकार सब इन्द्रियाँ युक्त साधक की इच्छा के अनुसार आचरण करती हैं।

जो पुरुष विज्ञानवान् है और जिसका मन सदा परमात्मा के ध्यान में युक्त रहता है, इन्द्रियों का कहना कभी नहीं मानता, उसकी इन्द्रियाँ सारथी के श्रेष्ठ घोड़ों के समान वशीभूत होती हैं। इसी भाव को कठ० १।३।६॥ में इस प्रकार कहा है—

"यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्य इन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥"

इसी भाव को महाभारत ५।३४।५९॥ में भी दर्शाया गया है:—

"रथं शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः॥"

अर्थ—हे राजन् ! पुरुष का शरीर रथ है, मन सारथी और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। होशियार या सावधान मनुष्य इन इन्द्रियों को वश में करके धीर रथी के समान सुख से चलता है।

इसलिए मन को वशीभूत करके सब इन्द्रियों को वश में करना ही मुक्ति-मार्ग के सब साधनों का मूल है। अतः जिस पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों से विरक्त होकर मन और बुद्धि के अधीन हो जाती हैं वही पुरुष स्थिरबुद्धि है उसी को स्थितप्रज्ञ कहते है॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

या निशा सर्व-भूतानाम्+तस्याम्+जागर्ति संयमी। यस्याम्+जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतः+मुनेः ॥

या=(सर्व०) यद्+(स्त्री०) प्र० ए० व०=जो।

निशा=(स्त्री०) निशा। रात्रिः सर्व-पदार्थानाम् अविवेक-करी, तमः स्वभाव-त्वात=तामस या अन्धकारमय स्वभाव के कारण सब पदार्थों को अविवेक कराने वाली रात्रि का नाम निशा है। जिन अज्ञानियों में परमार्थतत्त्व-विषयक बुद्धि नहीं है उन सब (भूतों) के लिए अज्ञात होने के कारण यह परमार्थतत्त्व रात्रि की भाँति रात्रि है॥

[निश्+टाप्=निशा+प्र० ए० व०=निशा।]

सर्व-भूतानाम्=(नपुं०) सर्वेषां भूतानाम् (षष्ठी तत्पु०)। षष्ठी ब० व०=सब भूतों की। संसार के सब अज्ञानी पुरुषों की। परमात्मा के स्वरूप को न जानने वाले मूर्ख पुरुषों की।

तस्याम्=(सर्व०) तद्+(स्त्री०) सप्त० ए० व०=उसमें। उस (नित्य-शुद्ध-बोधस्वरूप परमात्मा) में।

जागर्ति=√जागृ (अदा० पर० अक०=जागना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =जागता है।

[उस परमार्थतत्त्वरूप अर्थात् परमात्मारूप (अज्ञानियों की) रात्रि में अज्ञान-निद्रा से जगा हुआ (संयमी-योगी) जागता है]

संयमी=(वि०) सम्√यम् (भ्वा० पर० सक०=उपरत होना, हटना। चुरा० पर० सक०=दमन करना)+णिनि=संयमिन्+(पुं०) प्र० ए० व०= संयमी। इन्द्रियों का निग्रह या निरोध करने वाला। जितेन्द्रिय। यति। तपस्वी। ऋषि। परमात्मा को प्राप्त हुआ योगी।

यस्याम्=(सर्व०) यद्+(स्त्री०) सप्त० ए० व०=जिसमें। जिस (नाशवान् मिथ्या संसार) में।

जाग्रति=√जागृ+लट्० प्र० ब० व०=जागते हैं।

[यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् ज्ञानी के लिए रात को सोए हुए को दिखाई देने वाले स्वप्न के तुल्य है। ज्ञानी इस रहस्य को समझता है जिससे वह इस संसार को मिथ्या मानकर रात को सोए हुए की भाँति बन जाता है अर्थात् संसार की ओर से आँखें बन्द किए हुए रहता है परन्तु सारे अज्ञानी भूत या जीव इसे दिन के तुल्य सत्य मानकर इसमें पाप-पुण्य सभी प्रकार के कर्म करते रहते हैं। यहाँ यही उनका जागना कहा गया है]।

भूतानि=(नपुं०) भूत+प्र० ब० व०=भूत। प्राणधारी। जीव। परमार्थ-तत्त्व को न जानने वाले अज्ञानी जीव।

सा=(सर्व०) तद्+(स्त्री०) प्र० ए० व०=वह।

निशा=(स्त्री०) प्र० ए० व०=रात्रि। रात है।

पश्यतः=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+शतृ=पश्यत्+षष्ठी ए० व०=पश्यतः=देखते हुए की। ज्ञानी की। परमात्मा को साक्षात् करते हुए की।

मुनेः=(पुं०) मनुते=जानाति यः।

√मन्+इन्, उत्व=मुनि+षष्ठी ए० व०=मुनेः=मुनि की।

[ईश्वर, धर्म, और सत्यासत्य प्रभृति विषयों को विचारने वाले की। मननशील महात्मा की।]

अर्थ—सारे भूतप्राणियों के लिए जो निशा (रात या सोने का साधन) है, उस (नित्य-शुद्ध-बोधस्वरूप परमात्मा) में संयमी (इन्द्रियों का निग्रह करने वाला, परमात्मा को प्राप्त हुआ योगी) जागता है और जिस (नाशवान् मिथ्या संसार) में सम्पूर्ण भूतप्राणी जागते हैं, परमात्मा को साक्षात् करते हुए मुनि की वह रात (आँखें बन्द किए हुए की भाँति न ध्यान देने योग्य साधन) है॥

व्याख्या—जो अज्ञानी जीव सदा संसार के भोग-विलासों में फँसे रहते हैं वे काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकारादि विषयों में आसक्त रहते हैं। उनकी बुद्धि परमार्थ पथ की ओर प्रवृत्त ही नहीं होती। वे सदा इस असत और नाशवान् संसार को सत् मानते रहते हैं। उनको यह संसाररूप माया प्रपंच ही प्रकाशमान् दिन के समान मालूम होता है। इसी से उनकी बुद्धि इस जगत् के धन्धों में सजग रहती है। जिस प्रकार भ्रान्त व्यक्ति रस्सी को सर्प समझकर उससे भयभीत हो जाता है; इसी प्रकार यह भूतप्राणी समुदाय सदा इस क्षण-भंगुर और मिथ्या जगत् को स्वर्गसदृश और सदा स्थिर रहने वाला मानकर

प्राणों के निकलने के भय से डरता रहता है। जैसे उल्लू रात्रि को जागता है। चोर और यार भी रात्रि के अन्धकार को पाकर प्रसन्न होते हैं और अपने अभीष्ट स्थान पर गमन करते हैं। इसी प्रकार असंयमी और इन्द्रिय-लोलुप पुरुष सदा अज्ञानरूपी अन्धकार में जागते और विचरण करते हैं।

जैसे स्वप्न की सृष्टि मिथ्या होती है क्योंकि जागने पर उसका लेशमात्र भी शेष नहीं रहता। इसी प्रकार यह सारा जगत् प्रपंच भी मिथ्या है क्योंकि यह भी ब्रह्मज्ञान के उदय और जागृत होने पर अथवा मोक्ष मिल जाने पर शेष नहीं रहता। इसलिए संयमी मुनि या स्थितप्रज्ञ पुरुष इन सांसारिक विषयों के प्रति सोया रहता है क्योंकि इन्द्रियों के ये विषय उसके लिए सो जाने के योग्य रात्रि के अन्धकार के समान है और परमात्मा में लीनता उसके लिए जागने योग्य प्रकाशमान दिन के समान है जिसमें यह जगता है। अर्थात् नित्य-ज्ञान स्वरूप परमानन्द की प्राप्तिरूप दिन में स्थितप्रज्ञ योगी जागता है परन्तु यह दिन शेष सारे भूतप्राणियों के लिए सोने योग्य रात्रि के सदृश होता है क्योंकि उसमें उन्हें कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता और वे निज बुद्धि के नेत्र बन्द किए सोए हुए से बने रहते हैं परन्तु जिन नाशवान् सांसारिक सुखों की प्राप्ति में सब प्राणी दिन की तरह जागते हैं वे सब तत्त्व के जानने वाले मुनि के लिए रात्रि के तुल्य होते हैं।

साधारण लोग तो अपने स्वरूप का ज्ञान न प्राप्त होने के कारण अनात्म पदार्थों में सुख की इच्छा से आसक्त रहते हैं। परन्तु ज्ञानवान् संयमी पुरुष अपने निजानन्द में मस्त होकर परब्रह्म में विचरण करते हैं। वे सब पदार्थों का उपभोग करते हुए भी कभी अपने मूलस्वरूप से अनभिज्ञ नहीं होते। इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि और अवस्था का अज्ञानी की दृष्टि और अवस्था से महदन्तर होता है। ज्ञानी तो तत्त्व या ब्रह्मदृष्टि से युक्त होने के कारण अपने मूलस्वरूप में जागा हुआ होता है और उसी आत्मदृष्टि से सारे व्यवहार करता है परन्तु अज्ञानी सोए हुए की भाँति अपने स्वरूप से बेखबर होता है। इसलिए उसके द्वारा किए गए कार्य ज्ञानी के कार्यों से विपरीत होते हैं। भगवान् ने यह अलंकारिक वर्णन केवल स्थितप्रज्ञ योगी की उत्तमा स्थिति जतलाने के लिए किया है।

इस श्लोक पर देशपिता महात्मा गाँधी का अर्थ और टिप्पणी इस प्रकार हैं—

अर्थ—जब सब प्राणी सोते रहते हैं तब संयमी जागता रहता है। जब लोग जागते रहते हैं तब ज्ञानवान् मुनि सोता रहता है॥

टिप्पणी—भोगी मनुष्य रात के बारह-एक बजे तक नाच, रंग, खानपान आदि में अपना समय बिताते हैं और फिर सवेरे सात-आठ बजे तक सोते हैं। संयमी रात के सात-आठ बजे सोकर मध्य रात्रि में उठकर ईश्वर का ध्यान करते हैं। इसके सिवा भोगी संसार का प्रपंच बढ़ाता है और ईश्वर को भूलता है, उधर संयमी सांसारिक प्रपंचों से बेखबर रहता है। इस प्रकार दोनों का पंथ न्यारा है। यह इस श्लोक में भगवान् ने बतलाया है।" ॥६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

आपूर्यमाणम्+अचल-प्रतिष्ठम्+समुद्रम्+आपः प्रविशन्ति यद्+वत्। तद्+वत्+कामाः+यम्+प्रविशन्ति सर्वे सः+शान्तिम्+आप्नोति न काम-कामी॥

आपूर्यमाणम्=(वि०) अद्भिः आपूर्यमाणम्। आ√पूर् (दिवा० आत्म० सक० =भरना)+णिच्+शानच्+द्विती० ए० व०=चारों ओर से (जल से) अच्छी तरह भरे हुए को।

अचल-प्रतिष्ठम्=(वि०) अचला प्रतिष्ठा यस्य तम्, अथवा अचलतया प्रतिष्ठा (=अवस्थितिः) यस्य तम् (बहुव्री०)। द्विती० ए० व०=अचल प्रतिष्ठा वाले को। अथवा अचल भाव से प्रतिष्ठा (=स्थिति) है जिसकी, ऐसे अपनी मर्यादा में स्थित को।

[प्रतिष्ठा=(स्त्री०) प्रति√स्था+अङ्—टाप्=कीर्ति। यश।

समुद्रम्=(पुं०) सम्√उन्द् (रुधा० पर० सक०=गीला करना)+रक् अथवा सम्—उद्√रा=(अदा० पर० सक०=प्रदान करना)+क=समुद्र+द्विती० ए० व०=समुद्र को।

आपः=(स्त्री०)√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०)+क्विप्, ह्रस्वः=अप+प्र० ब० व०=पानी। जल। नदियाँ। [सर्वतो गताः आपः=सब ओर से गये हुए जल]।

[अप शब्द के रूप सब विभक्तियों में बहुवचनान्त ही होते हैं, जैसे—
आपः। अपः। अद्भिः। अद्भ्यः। अद्भ्यः। अपाम्। अप्सु। हे आपः।]

प्रविशन्ति=प्र√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना)+लट्० प्र० पु० ब० व०=प्रवेश करते हैं। प्रवेश करती हैं। (चलायमान न करते हुए ही उसमें) समा जाते हैं।

यद्वत्=येन तुल्यं क्रिया चेत्, यद्+वति (=वत्—अव्यय)=जैसे। जिस तरह। जिस प्रकार।

तद्+वत्=तेन तुल्यं क्रिया चेत्=वैसे। उसी तरह। उसी प्रकार।

कामाः=(पुं०) 'काम्यन्ते' इति कामाः (विषयाः)=जिनको पाने के लिए इच्छा की जाती है उन भोगों का नाम काम (या विषय) है।

√कम् (भ्वा० आत्म० सक०=चाहना)+णिङ्+घञ्=काम+प्र० ब० व०=कामाः=कामनाएँ। अभिलाषाएँ। सब भोग।

यम्=(सर्व०) यद्+द्विती ए० व०। जिसको। जिसमें।

प्रविशन्ति=(किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही) समा जाती हैं। समा जाते हैं। प्रवेश करते हैं। प्राप्त होते हैं।

सर्वे=(सर्व०) सर्व+(पुं०) प्र० ए० व०=सारे। सारी॥

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

शान्तिम्=(स्त्री०) √शम्+क्तिन्=शान्ति+द्विती० ए० व०=शान्ति को। परम शान्ति को। मोक्ष को।

आप्नोति=√आप् (स्वा० चुरा० पर० सक०=प्राप्त करना। पाना। पहुँचना) +लट्० प्र० पु० ए० व०=प्राप्त होता है। पा लेता है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

काम-कामी=(वि०) कामाः (=विषयाः) तान् कामयितुं शीलं यस्य सः (बहुव्री०)। चाहे गये भोगों का नाम काम है उनको पाने की इच्छा करना जिसका स्वभाव है, वह पुरुष 'काम-कामी' होता है। कामनाओं के चाहने वाला। विषयों के भोगों की इच्छा करने वाला।

[√कम्+णिङ्+णिनि=कामिन्+प्र० ए० व०=चाहने वाला]॥

अर्थ—जैसे चारों ओर से अच्छी तरह भरे हुए अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र को (चलायमान या मर्यादारहित न करती हुई उसमें) अनेक नदियाँ प्रवेश करती हैं (अर्थात् समा जाती हैं) वैसे ही सम्पूर्ण कामनाएँ अर्थात् समस्त भोग जिस (स्थितप्रज्ञ पुरुष) में (बिना कोई विकार या क्षोभ उत्पन्न किए) समा जाते हैं, वही परम शान्ति या मोक्ष को प्राप्त होता है। कामनाओं या भोगों (इन्द्रियों के विषयों) को चाहने वाला नहीं ॥७०॥

व्याख्या—हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर, अन्ध महासागर, उत्तरी हिम महासागर तथा दक्षिणी हिम महासागर—ये पाँचों महासागर वास्तव में एक ही महान्तम सागर के खण्ड हैं जो परस्पर मिले हुए हैं और लगभग तीन चौथाई ($\frac{3}{4}$) भाग पृथ्वी को घेरे हुए हैं। संसार की सारी बड़ी-बड़ी नदियाँ दिनरात निरन्तर जल-समूहों को साथ लेकर उक्त महान्तम सागर में गिर रही

हैं परन्तु यह महान्तम सागर किसी काल में भी अपनी सीमा या मर्यादा से बाहर नहीं होता जिससे उसकी अचल प्रतिष्ठा सदा स्थिर रहती है। यह सब नदियाँ सागर की इच्छा हुए बिना ही अनन्त काल से अपना अनन्त अपार जल उसमें छोड़ती चली जा रही हैं। बर्षाकाल में जब इन नदियों में जल अधिक होता है तो सागर अपने तीरों का अतिक्रमण नहीं करता और सूखे के दिनों में जब नदियाँ अल्प जल वाली या शुष्क हो जाती हैं तो सागर अपने तीरों से पीछे भी हटता नहीं है। न उसमें आरोह होता है, न अवरोह होता है।

यदि कोई कहे कि सागर में ज्वार-भाटा होता है। परन्तु उसका कारण अलग है। सम्पूर्ण भूत अपने प्रिय मित्र को देखकर अथवा इष्टदेव के आने पर स्वागत और सम्मान के लिए उठ खड़े होते हैं और उसके चले जाने पर बैठ जाते हैं। यही प्रतिक्रिया चन्द्र के प्रति सागर की होती है जिसका नाम लोगों ने ज्वार-भाटा रख लिया है। सब भक्तजन इसी प्रकार प्रभु को पाकर प्रफुल्लित हो जाते हैं। इस बात का सम्बन्ध विषयभोगों से तनिक सा भी नहीं है। यहाँ कही गई बात तो केवल इतनी ही है कि नदियों के प्रवेश से भरता रहने पर भी समुद्र जिस प्रकार अचल और गम्भीर रहता है उसी प्रकार जिस मनुष्य में संसार के सब भोग समाकर शान्त हो जाते हैं, वही शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है अर्थात् वही मोक्ष को पाता है न कि विषयभोगों की कामना करने वाला पुरुष।

कोई पुरुष जब विषयभोगों के पीछे भागता है तो उसकी अपनी छाया की तरह वे सब उसके आगे-आगे भागते हैं। परन्तु जब वह उनकी ओर पीठ करके भागने लगता है तो वे सब भोग भी उसकी अपनी छाया के सदृश स्वयं पीछे दौड़ने और उसका अनुसरण करने लगते हैं। ठीक ही कहा है—

'बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख।
तां ते कबहुँ न मांगिए, यह सत्गुरु की सीख॥'

इसी प्रकार तब ऋद्धि-सिद्धियाँ साधक का पीछा करती हैं। परन्तु वह उनकी कोई परवाह नहीं करता है। बिना इच्छा किए ही सब प्रकार के भोग उसके लिए उपस्थित होते रहते हैं। परन्तु वे सब उसके शरीर में प्रविष्ट होकर विलीन से हो जाते हैं और कोई क्षोभ या किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं करते हैं।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तथा उससे भी परे की असीम दूरी पर परमात्मारूपी सागर व्यापक है। दृश्य और अदृश्य जो कुछ भी है उस अनन्त के गर्भ में विराजमान है। स्थितप्रज्ञ भी अपने को उसमें मिला हुआ अनुभव करता है।

जब उस अनन्त ब्रह्म में जीवों के निकलने और मिलने से कोई कमीबेशी नहीं होती तो फिर स्थितप्रज्ञ पुरुष में ये भोग किसी प्रकार का विकार कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ? वह खाता-पीता हुआ, सोता-जागता हुआ, चलता-फिरता हुआ, लेटता-बैठता हुआ अथवा सब भोगों को भोगता हुआ भी किसी प्रकार से उनमें आसक्त नहीं होता । उसके सब भोग सहज स्वभाव और ईश्वर निमित्त ही होते हैं तथा आठों पहर उसका ध्यान परमतत्त्व के साक्षात्कार करने में ही लीन रहता है । इन्द्र का स्वर्ग भी उसकी दृष्टि में तुच्छ और क्षण-भंगुर होता है । तो फिर भला वह संसार के विषयभोगों में आसक्त और लिप्त होकर अपने लक्ष्य से विचलित तथा पतित कैसे हो सकता है ? सिद्ध पुरुषों में यह विलक्षणता होती है कि वे सब अच्छी और बुरी अवस्थाओं में सदा एकरस रहते हैं । सागर की तरह गम्भीर और मर्यादित होते हैं ।

परन्तु जिनके हृदय सहस्रों कामनाओं के कीचड़ से परिपूर्ण और गंदले जलवत् हो रहे हैं वे उनको पूरा करने के लिए अनेक प्रकार के पापड़ बेलते रहते हैं, नाना प्रकार के ढोंग रचते रहते हैं, स्वार्थ की पूर्ति और सिद्धि के लिए जत्थे बांधते हैं, धर्म लुट जाने या पिट जाने का शोर मचाते हैं, येन-केन प्रकारेण साधारण जनता को बुद्धू बनाकर उसको अपने ढंग पर लाते हैं, कभी धर्म के नाम पर, कभी प्रान्त के नाम पर तो कभी भाषा के नाम पर लोगों को उद्भ्रान्त करके भयंकर दंगे कराते हैं । लूटना, पीटना, बलात्कार करना और न्याय का खून करना तो उनके बाएँ हाथ का खेल होता है । ऐसे विषय-लोलुप लोग उच्च पदाधिकारी बनकर भी न्यायसंगत कार्य नहीं करते । इसलिए ऐसे कामनाओं के कीचड़ में लथपथ नारकीय पुरुषों को कदापि शांति प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि ये सब विषय-वासनादि कामनाओं के किंकर और वशीभूत होते हैं ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

विहाय कामान्+यः सर्वान्+पुमान्+चरति निःस्पृहः । निर्ममः+निरहङ्कारः सः+शान्तिम्+अधिगच्छति ॥

विहाय=वि√हा (जुहो० पर० सक०=त्यागना)+ल्यप्=छोड़कर । त्यागकर । परित्यज्य ।

कामान्=(पुं०) √कम्+णिङ्+घञ्=काम+द्विती० ब० व०=कामान् =भोगों को । भोगों की इच्छाओं को ।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो । जो (महात्मा) ।

सर्वान्=(सर्व०) सर्व+(पुं०) द्वितीं० ब० व०=सबको।

पुमान्=(पुं०)√पू (भ्वा० आत्म०, क्र्या० उभ० सक०=पवित्र करना)+
डुमसुन्=पुंस+प्र० ए० व०=पुरुष।
[पुमान्। पुमांसौ। पुमांसः। संबो० पुमन्!]

चरति=√चर् (भ्वा० पर० सक०=विचरना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=
विचरता है। केवल जीवन मात्र निमित्त ही चेष्टा करने वाला होकर
विचरता है॥

निःस्पृहः=(वि०) [शरीर-जीवन-मात्रे अपि] निर्गता स्पृहा यस्य सः (बहुव्री०)
शरीर-जीवन मात्र में भी जिसकी स्पृहा (लालसा) नहीं है।
[√स्पृह् (चुरा० उभ० सक०=इच्छा करना)+अ—टाप्=स्पृहा।
इच्छा।] ईर्ष्या, स्पृहा या इच्छा से रहित हुआ।

निर्ममः=(वि०) नास्ति ममः (ममता) यस्य सः (बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए०
व०=ममता से रहित। शरीर-जीवन मात्र के लिए आवश्यक पदार्थों
के संग्रह में भी 'यह मेरा है' ऐसे भाव से रहित।

निर्+अहङ्कारः=(पुं०) विद्यादि नास्ति अहङ्कारः यस्य (बहुव्री०)=
अहंकाररहित। अभिमानरहित। आत्मश्लाघारहित।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह। वह स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी,
ब्रह्मवेत्ता।

शान्तिम्=(स्त्री०)√शम्+क्तिन्=शान्ति+द्विती० ए० व०=शान्ति को।
संसार के सारे दुःखों की निवृत्तिरूप मोक्ष को। परम शान्ति अर्थात्
ब्रह्मरूप को।

अधिगच्छति=अधि√गम् (भ्वा० पर० सक०=प्राप्त होना)+लट्० प्र०
पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।

अर्थ—जो पुरुष सारी कामनाओं को छोड़कर स्पृहा से रहित हुआ, निर्मम और अहंकार से रहित हुआ (संसार में) विचरता है वह (स्थितप्रज्ञ, ब्रह्मवेत्ता, ज्ञानी) परम शांति (अर्थात् संसार के दुःखों की निवृत्तिरूप मोक्ष) को प्राप्त होता है॥७१॥

व्याख्या—जो पुरुष इस लोक और स्वर्गादि दूसरे लोकों के भोगों की सम्पूर्ण कामनाओं का मन, वचन, कर्म से सर्वथा परित्याग कर देता है और किसी काल में भी जिसके हृदय में कोई लालसा या वासना उत्पन्न नहीं होती। जो मन, बुद्धि, इन्द्रियों सहित शरीर में होने वाले अहंकार से मुक्त हो जाता है अर्थात् जिसके भीतर किसी प्रकार के अभिमान का लेशमात्र भी नहीं रह जाता है। जिसे अप्राप्त विषयों के प्रति स्पृहा नहीं होती। यह

स्पृहा कामना का ही एक अत्यन्त सूक्ष्म रूप होता है। इस स्पृहा के त्याग से जिसका मन अत्यन्त निर्मल और स्वच्छ हो चुका है जिसमें ईर्ष्या, राग और द्वेषादि का सर्वथा अभाव हो चुका होता है तथा इसके साथ ही जो पुरुष निर्मम बन चुका है अर्थात् 'मैं', 'मेरा', 'मेरी', 'मेरे' इत्यादि विचार जिसके अन्तःकरण से निष्कासित हो चुके हैं। स्त्री, पुत्र, भाई, बांधव, गृह, भूमि, धनधान्य, ऐश्वर्य, वित्त इत्यादि सबसे रिश्ते, नाते, लगाव और सम्बन्ध जिसने मन से त्याग दिए हैं। जो शरीर जीवन मात्र के लिए आवश्यक पदार्थों के संग्रह में 'यह मेरा है' ऐसे हृदय में घुसे रहने वाले भाव से रहित हो चुका है। कहने का भाव यह है कि जो स्थितप्रज्ञ, ब्रह्मवेत्ता और ज्ञानी पुरुष सर्वथा सदा के लिए निष्काम, निःस्पृह, निर्मम और निरहङ्कार हुआ जीवित-दशा में विचरण करता है वह सिद्ध पुरुष है। वह योगयुक्त है। वह जीवन्मुक्त पुरुष है। उसके सब शुभाशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं। उसकी अन्तरात्मा मन, बुद्धि तथा सब प्रकार के शरीरों और इन्द्रियों से रहित होकर परमात्मा में मिलकर एकरूपता को प्राप्त हो जाती है इसको परम शान्ति, परमानन्द या मोक्ष कहते हैं ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! न+एनाम्+प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वा+अस्याम्+अन्त-काले+अपि ब्रह्म-निर्वाणम्+ऋच्छति ॥

एषा=(सर्व०) एतद्+(स्त्री०) प्र० ए० व०=यह। यह उपर्युक्त अवस्था।

ब्राह्मी=(स्त्री०) ब्रह्मणि भवा इयम्, ब्रह्मन्+अण्, टिलोप, ङीष्=ब्राह्मी+प्र० ए० व०=ब्रह्म-संबंधिनी। ब्रह्म में होने वाली। ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की।

स्थितिः=(स्त्री०)√स्था+क्तिन्=स्थिति+प्र० ए० व०=अवस्था (है)। स्थिति (है)।
[ब्राह्मी स्थितिः=परब्रह्म के स्वरूप में स्थित होना। ब्रह्मविषयक अवस्था। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है। जीवन काल में ही परमात्मा में होने वाली शक्तियों और गुणों को प्राप्त कर लेना।]

पार्थ !=(पुं०) सम्बो० ए० व०। हे पृथापुत्र (अर्जुन) !

न=(अव्यय) न। नहीं।

एनाम्=(सर्व०) इदम्+(स्त्री०) द्विती० ए० व०=इसको। इस (स्थिति) को।

प्राप्य=प्र√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=प्राप्त करना)+ल्यप्=प्राप्त करके। पाकर। लब्ध्वा।

विमुह्यति=वि√मुह् (दिवा० पर० अक०=मूर्छित होना। भूलना। मूर्ख बनना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=मोहित होता है। मोह को प्राप्त होता है। मोहं प्राप्नोति।

स्थित्वा=√स्था (भ्वा० पर० अक०=ठहरना)+क्त्वा=ठहरकर। स्थित होकर।

अस्याम्=(सर्व०)+(स्त्री०) सप्त० ए० व०=इसमें। इस (ब्राह्मी स्थिति) में।

अन्त-काले=(पुं०) अन्ते काले (वयसि)। (सप्त० तत्पु०)। सप्त० ए० व०=अन्त काल में। मृत्यु आने के समय पर। अन्तिम आयु में।

अपि=(अव्यय) भी।

ब्रह्म-निर्वाणम्=(नपुं०) निर्गतं वानं (गमनं) यस्मिन् प्राप्यते ब्रह्मणि तन्निर्वाणम् अर्थात् निवृत्त हो गई है नामरूप क्रिया जिसमें, उसका नाम निर्वाण है।

'निर्वाणं नाम परमं सुखं येन पुनर्जनः।
न जायते न म्रियते तज्ज्ञानादेव लभ्यते॥'

(योगवासिष्ठ २।१०।२१)

अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य फिर न जन्मता है। न मरता है और वह ज्ञान से ही मिलता है उस परम सुख का नाम निर्वाण है। ब्रह्मणि निर्वाणम्=ब्रह्म में लीन होना। द्विती० ए० व०। परम मोक्ष।

"एषा विमुक्तिः परमा मम सायुज्यमुत्तमम्।
निर्वाणं ब्रह्मणा चैक्यं कैवल्यं कवयो विदुः॥"

(कूर्म० २।१०।११॥)

अर्थात् वह जो परम मुक्ति और मेरा उत्तम सायुज्य या अभेद मिलाप है उसी को पण्डित लोग ब्रह्म-निर्वाण, ऐक्य और कैवल्य कहते हैं। ब्रह्म निर्वाण को।

ऋच्छति=√ऋच्छ (तुदा० पर० सक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है॥

अर्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन! यह ब्रह्मलीन पुरुष की स्थिति है। इस स्थिति को पाकर वह ब्रह्मलीन योगी फिर मोह को प्राप्त नहीं होता। अन्तिम आयु में

(अथवा मरणकाल में) भी इस (ब्राह्मी स्थिति) में स्थित होकर ब्रह्म-निर्वाण (परमात्मा में अभेद मिलाप) को प्राप्त हो जाता है ।।७२।।

व्याख्या—हे दृढ़प्रतिज्ञ शूरवीर माता पृथा के पुत्र अर्जुन ! तेरी माता ने इसी मानव शरीर में सूर्य-अधिष्ठातृ-देवता, धर्मराज, पवन-देव, इन्द्र और अश्विनीकुमारों का साक्षात्कार प्राप्त कर लिया था जिससे आप लोगों की उत्पत्ति हुई थी। जिससे स्वर्गप्राप्ति का अधिकार तो तुझे स्वतः सिद्ध ही है और तुम तो इन्द्र से मिलने के लिए स्वर्ग में एक बार जा भी चुके हो परन्तु संसार छोड़ने के बाद तुम्हारा लक्ष्य तो परमात्मा की प्राप्ति होना चाहिए क्योंकि मोक्ष प्राप्त किए बिना जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा नहीं होता और बिना ब्राह्मी स्थिति हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। स्मरण रहे कि योगी ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर सहज ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। स्वर्गादि सब ऊर्ध्व लोक तो गमन-क्रिया द्वारा प्राप्त होते हैं, जैसा कि गरुड़ पुराण के प्रेतकल्प में वर्णित है अर्थात् मरणकाल में मनुष्य शरीर से जब प्राण निकलते हैं तब जीवात्मा मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदियों सहित शरीर से बाहर निकलकर अपने शुभकर्मों के बल से इन्द्र आदि के लोकों में पहुँचकर देवत्व को प्राप्त हो जाता है।

परन्तु ब्राह्मी स्थिति में स्थित योगी का जीवात्मा अपने इसी शरीर के भीतर ही मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदियों के सूक्ष्म तत्त्वों का त्याग कर भीतर बसे हुए परमात्मा में मिलकर एकरूपता को प्राप्त कर लेता है। शरीर से केवल पांचों प्राण-वायु बाहर निकल जाते हैं जिससे शरीर की हृदय-गति रुक जाती है और देह की सारी क्रियाएँ स्थगित हो जाती हैं तथा सारे कलपुर्जे बेकार हो जाते हैं जिससे देह को भस्म कर देने से फिर पांचों तत्त्व अपने मूल रूपों में मिल जाते हैं। इसी से इस श्लोक में निर्वाण शब्द प्रयुक्त किया गया है। "निर्गतं वाणं (गमनं) यस्मिन् प्राप्यते ब्रह्मणि तन्निर्वाणम्" अर्थात् निवृत्त हो गई 'गमन रूप क्रिया' जिसमें ब्रह्म की प्राप्ति होने पर, उसका नाम 'निर्वाण' है। श्रुति में कहा है—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामंत्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।'

अर्थात् मरने के समय जैसे अज्ञानी के प्राण इस शरीर से उत्क्रमण करते हैं, वैसे ब्रह्मवेत्ता या ब्राह्मी स्थिति में स्थित ज्ञानी पुरुष के प्राण इस शरीर से बाहर उत्क्रमण नहीं करते। वे तो इसी शरीर में स्थित परमात्मा में लय हो जाते हैं और वह ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुष ब्रह्मरूप हुआ परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है।

जो पुरुष जीवित अवस्था में ही इस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लेता है उसके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है ? वह तो पहले भी जीवन्मुक्त होता है और बाद में मरने पर भी परमानन्द को प्राप्त होकर परमात्मा में मिल जाता है । परन्तु जो पुरुष अपने पहले कर्मों के प्रभाव से अथवा प्रभु की विशेष कृपा से मरणकाल में भी मरने से कुछ क्षण पहले ही आसक्ति, अहंकार, ममता, कामना और स्पृहा से रहित होकर अचल भाव से परमात्मा में स्थित या आकर्षित हो जाता है वह भी तद्रूप होकर परब्रह्म परमात्मा में मिल जाता है ।

'अपि' शब्द से भगवान ने इसी भाव को दर्शाया है । यहाँ कैमुतिक न्याय से 'अपि' शब्द के द्वारा यह अर्थ सूचित किया गया है कि जब बड़ा काम हो गया तो फिर छोटा काम करना कठिन नहीं है । [किमुत+ठक्] जैसे खट्वांग राजर्षि अपने मृत्युकाल में देवताओं के उपदेश से एक मुहूर्त्त में ही कैवल्य-मुक्ति को प्राप्त हो गया था । मरणकाल में परलोक यात्री को गीता का उपदेश भी इसी लक्ष्य को उद्देश्य करके किया जाता है कि कदाचित् पुण्योदय से वह परमानन्द को प्राप्त होकर ब्रह्मलीन हो जाए ॥७२॥

[इस दूसरे अध्याय में सारी गीता का अर्थ सूत्र रूप से भगवान् कृष्ण ने वर्णन किया है । शेष गीताशास्त्र में क्रमपूर्वक इसी अध्याय की व्याख्या की गई है ।]

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् के गाये (कहे) हुए, उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र विषयक

श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥

॥शुभम्॥

शुद्धि-पत्र

सज्जन पाठकवृन्द !

हमारे अपने प्रमाद से पुस्तक में कुछ शब्द अशुद्ध छप गए हैं। कृपया उन्हें सुधार कर पढ़ें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२८	मनन	अध्ययन
१६	२	काय	कार्य
१८	२	निवेदादि	निर्वेदादि
१८	३३	समाघिस्थ	समाधिस्थ
३६	२	कायस्ता	कायरता
४२	६	२५	१५
५२	२२	वहां	वह
६१	२५	प्रत्यन्त	प्रत्ययान्त
७४	३१	तू	तूने
६४	६	तू	तूने
१०५	१४	संजय द्वारा	धृतराष्ट्र द्वारा
१०५	१८	।जस के	जिसके
११४	६	'घ' अक्षर	'म' अक्षर
११७	१६	पितर	पितरं
१५२	१	ससार	संसार
१५३	२३	क्लैव्यता का	क्लैव्यता को
१५६	२	पहले विज्ञानी बनो फिर ज्ञानी बनो	पहले ज्ञानी बनो फिर विज्ञानी बनो
१८४	२	कई	कोई
२०२	३ चौथे श्लोक से पूर्व		अर्जुन उवाच

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६२	१७	आत्म	आत्मा
२६५	१५	पूरवले	पूर्व के
२९१	१	आयु बनाने के	आयु बिताने के
३१०	२६	नरक-वास	नाक-वास
३१२	४	अक्षेम	क्षेम
३३०	९	मूल दोष	मल दोष
३३२	३	उत् प्रेरक	उर-प्रेरक
३३४	२९	ब्रह्मन्	ब्रह्म
३३४	३१	छुट	छूट
३४७	१२	का अर्थ	का यह अर्थ
३५१	२	मठी	मढ़ी